

तेरापंथ का यशस्वी साध्वी समाज

भाग १

साध्वी कल्पलता

तेरापंथ का यशस्वी साध्वी-समाज

भाग-1

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

तेरापंथ का यशस्वी साध्वी-समाज

भाग-1

साध्वी कल्पलता

© आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

तेरापंथ का यशस्वी साध्वी-समाज

लेखक : साध्वी कल्पलता

प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ
210, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग
नई दिल्ली-110 002

प्रथम संस्करण : सन 2011

मूल्य : एक सौ पचास रुपये

प्रकाशन सहयोग : स्व. श्रीमती गजराबाई (धर्मपत्नी स्व. हस्तीमलजी गादिया) एवं स्व. भूरचन्दजी गादिया की पुण्य स्मृति में श्रद्धानिष्ठ श्रावक पारसमल गादिया एवं श्रद्धा की प्रतिमूर्ति श्रीमती प्यारीदेवी गादिया, रामसिंहजी का गुड़ा तथा महाजन कटपीस सेन्टर, बैंगलोर

मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

TERAPANTH KA YASHASVI SADHVI-SAMAJ by Sadhvi Kalplata **Rs. 150.00**

सन्देश

18 जून 2011

अर्हम्

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ का इतिहास बहुत सुरक्षित है। इसको पढ़ने से ज्ञात होता है कि इस संघ की साध्वियों का पराक्रम भी गरिमापूर्ण रहा है। परम पूज्य गुरुदेव आचार्य महाप्रज्ञ जी के समय यह निर्णय हुआ कि साध्वियों का इतिहास भी व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जाए। साध्वी कल्पलताजी को यह दायित्व सौंपा गया।

साध्वी कल्पलता जी एक विदुषी और श्रमशील साध्वी हैं। उन्हें धर्मसंघ की सेवा का अवसर भी लम्बे काल से मिल रहा है। उनके परिश्रम से निष्पन्न 'तेरापंथ का यशस्वी साध्वी समाज' ग्रन्थ सामने आ रहा है। इनके माध्यम से पाठकवर्ग तेरापंथ के साध्वी समाज की यशोगाथाओं से परिचित हो सकेगा। शुभाशंसा।

आत्मा

आचार्य महाश्रमण

पुरोवाक्

पुस्तक लेखक के समय का आईना होती है, यह बात विचारप्रधान पुस्तक पर घटित हो सकती है। किन्तु इतिहास इसका अपवाद है। इतिहास में मुख्यतः अतीत का आकलन होता है और उसके साथ वर्तमान का भी प्रतिबिम्ब रहता है। विचारप्रधान पुस्तकों में लेखक के अपने विचारों के साथ सम सामयिक विचारों का भी प्रभाव रहता है। पर यह आवश्यक नहीं है कि उन विचारों के साथ पाठक की सहमति हो। क्योंकि विचार सागर की सतह पर हवा के थपेड़ों से उत्पन्न हुई लहरों के समान हैं। उनमें कहीं संगति हो भी सकती है और नहीं भी। किन्तु इतिहास प्रामाणिक स्रोतों के आधार पर लिखा गया ऐसा दस्तावेज है, जो अतीत को परत–दर–परत खोलकर रख सकता है।

इतिहास के अन्तर्गत अनेक विषयों का समावेश हो सकता है। एक ओर व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण विश्व तक उसकी परिधि में सिमटे हुए हैं तो दूसरी ओर धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता आदि भाव और विचारप्रधान विषयों पर भी इतिहास का आलेखन किया जा सकता है। भारतीय इतिहासकारों ने धर्म, दर्शन आदि का सुव्यवस्थित इतिहास कम लिखा है, फिर भी यहां का इतिहासप्रधान साहित्य काफी समृद्ध है। उस साहित्य में धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक शिखर पुरुषों के साथ उन व्यक्तित्वों पर भी कलम चलाई गई है, जिन्होंने सामान्य भूमिका में रहते हुए भी कुछ विशिष्ट काम कर अपनी पहचान बना ली।

तेरापंथ धर्मसंघ में इतिहास का लेखन

हिन्दुस्तान की धार्मिक परम्पराओं में जैनधर्म का अपना इतिहास है। जैन इतिहास में तेरापंथ धर्मसंघ का इतिहास बहुत ही प्रेरक और चामत्कारिक है। इस इतिहास में संगठन की रीति–नीति के साथ इसके संचालक आचार्यों का व्यक्तित्व, कर्तृत्व एवं वर्चस्व भी समुचित रूप से उजागर हुआ है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षित खास और आम प्रत्येक सदस्य इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं। मुनि नवरत्नमलजी (मोमासर) द्वारा लिखित 'शासन समुद्र' ग्रथावली (खण्ड पचीस) में आचार्य भिक्षु के युग से लेकर आचार्य तुलसी युग तक नौ आचार्यों के सभी साधु–साध्वियों का संक्षिप्त या विस्तृत विवरण संकलित है। तेरापंथ के आचार्यों के जीवनवृत्त गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों शैलियों में उपलब्ध हैं। इतिहास के रूप में उनका आलेखन शासन गौरव मुनिश्री बुद्धमलजी ने किया है। आख्यान या काव्यशैली में तेरापंथ के आचार्यों ने प्रशासनिक कार्यों की व्यस्तता के बावजूद पूर्ववर्ती आचार्यों के जीवनवृत्त लिखकर अपने दायित्व का पूरी जागरूकता से निर्वाह

किया है। अब तक लिखित और मुद्रित आख्यान/काव्य इस प्रकार हैं –

आख्यान	रचनाकार
भिक्खुजस रसायण	आचार्य जीतमलजी (जयाचार्य)
भारीमाल चरित्र	आचार्य रायचन्दजी
ऋषिराय चरित्र	आचार्य जीतमलजी (जयाचार्य)
जय–सुजश	आचार्य मघराजजी
मघवा–सुजश	आचार्य माणकलालजी
माणक–महिमा	आचार्य तुलसी
डालिम–चरित्र	आचार्य तुलसी
कालूयशोविलास	आचार्य तुलसी
तुलसीयशोविलास (अपूर्ण)	आचार्य महाप्रज्ञ

शोध का नया विषय

मुनि बुद्धमलजी द्वारा लिखित आठ आचार्यों के जीवनवृत्त तेरापंथ का इतिहास भाग 1 और भाग 2 में प्रकाशित हैं। आचार्य तुलसी का जीवनवृत्त उनके द्वारा लिखा हुआ है, पर वह अपूर्ण है। साध्वी कनकश्रीजी (लाडनूं) उस कार्य को आगे बढ़ा रही हैं। तेरापंथ के विशिष्ट साधुओं, श्रावकों और श्राविकाओं के मुनि बुद्धमलजी ने काफी लिखा है, पर साध्वियों के बारे में बहुत कम लिखा है। जैन परम्परा के समग्र इतिहास पर दृष्टिपात किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि साध्वियां और श्राविकाएं इतिहास की उपेक्षित पात्र रही हैं। इसका कारण क्या हो सकता है? यह तो शोध का विषय है। शोधकर्ता तटस्थभाव से शोध करें तो संभव है, कुछ मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कारण उजागर हो सकें।

तेरापंथ में चतुर्थ तीर्थ की सिद्धश्री

तेरापंथ धर्मसंघ में साध्वी समाज का इतिहास बहुत गौरवमय रहा है। इस इतिहास का एक महत्वपूर्ण घटक यह है कि तेरापंथ में गृहस्थ जीवन से दीक्षा की शुरुआत साध्वियों के द्वारा की गई। तेरापंथ की स्थापना विक्रम संवत 1817, आषाढ पूर्णिमा के दिन हुई। लगभग चार वर्षों तक साध्वियां तो थीं ही नहीं, साधु भी अन्य सम्प्रदाय से आकर दीक्षित होने वाले थे। बहनों की दीक्षा से पहले एक भी भाई दीक्षित नहीं हुआ। वि. सं. 1821 में स्थानकवासी समाज की तीन बहनें दीक्षा की प्रार्थना लेकर आई। आचार्य भिक्षु ने उनको कसौटियों पर कसा। उस परीक्षण में वे सफल रहीं। उसके बाद ही उनको धर्मसंघ में प्रवेश मिला तेरापंथ के चतुर्थ तीर्थ की

आधारशिला रखने वाली वे भाग्यशालिनी साध्वियां थीं – साध्वी कुशालांजी, साध्वी मट्टूजी और साध्वी अजबूजी। साध्वीत्रय का संघ में आगमन इतना मंगलमय रहा कि आचार्य भिक्षु के युग में ही साध्वियों की संख्या साधुओं से अधिक हो गई। संख्या का यह ग्राफ उत्तरोत्तर वर्धमान होता गया। आचार्य तुलसी के युग में पहुँचते–पहुँचते साध्वियों की संख्या पांच सौ से अधिक हो गई। समण श्रेणी को साथ में जोड़ा जाए तो यह संख्या छह सौ से ऊपर है। तेरापंथ धर्मसंघ में अब तक सतरह सौ इकसठ (1761) साध्वियां दीक्षित हो चुकी हैं।

आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण

आचार्य भिक्षु परम आत्मार्थी महापुरुष थे। पदप्रतिष्ठा की भूख उन्हें छू भी नहीं पाई थी। यदि उसका थोड़ा भी प्रभाव होता तो वे आचार्यश्री रघुनाथजी महाराज के संभावित उत्तराधिकार को छोड़कर अभिनिष्क्रमण की कल्पना ही नहीं कर पाते। अभिनिष्क्रान्त होने के बाद भी उन्होंने नया संघ स्थापित करने का कोई सपना नहीं देखा। यह तो तेरापंथ की नियति थी कि अनायास ही जोधपुर में नामकरण हो गया और भिक्षु स्वामी के मेधा ने उसको गंभीर अर्थ देकर स्वीकार कर लिया। नए संघ की स्थापना के बाद भी उनके मन में शिष्य–वृद्धि की आकांक्षा नहीं जनमी। उन्होंने संख्याबल की अपेक्षा गुणवत्ता पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, साधु–साध्वियों द्वारा अपने–अपने शिष्य–शिष्या बनाने की प्रथा का मूलोच्छेद किया और स्पष्ट निर्देश दिया कि 'जिण–जिण ने मत मूंडज्यो दीक्षा दीज्यो देख–देख' पूरी जांच–पड़ताल के बाद ही दीक्षा देना। जिस–तिस को दीक्षित करने की भूल मत करना।

आचार्य भिक्षु द्वारा निर्धारित कसौटियों पर कसने और पूरा परीक्षण करने के बाद भी संघ में कुछ ऐसी साध्वियों का प्रवेश हो गया, जिनकी अर्हता प्रमाणित न होने के कारण उन्हें संघ से मुक्त किया गया या किन्हीं कारणों से वे स्वयं मुक्त हो गई। पर संघ में साधनारत सभी साध्वियों की साधना, शिक्षा, सेवा और चित्तसमाधि के लिए आचार्य निरन्तर जागरूक रहते हैं। प्रकृति की परवशता और असातवेदनीय का उदय, मुख्यतः ये दो निमित्त न हो तो साधु जीवन में प्राप्त होने वाली समाधि या आनन्द को अनिर्वचनीय माना जा सकता है।

इतिहास लेखन के मानक धर्मसंघ में दीक्षित प्रायः सभी साध्वियों का जीवन भावी पीढ़ियों के लिए प्रेरक बन सकता है। उनका संक्षिप्त विवरण उपलब्ध भी है। किन्तु सलक्ष्य सामग्री–संकलन के अभाव में बहुत महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय घटना–प्रसंग समय के प्रवाह में बह गए। पूज्यवरों का इस दिशा में काम करने का निर्देश/संकेत पाकर साध्वी कल्पलताजी की लेखन–चेतना परिस्पन्दित हुई। उन्होंने

तेरापंथ धर्मसंघ की कतिपय विशिष्ट साध्वियों के जीवन को कलमबद्ध करने का संकल्प किया, योजना बनाई और कार्य प्रारंभ कर दिया। वैसे तो प्रत्येक साध्वी का जीवन अपने आप में विशिष्ट होता है, पर जहां कुछ का चयन किया जाता है, उसके मानक निर्धारित करने होते हैं। प्रमुख रूप से संघनिष्ठा, आज्ञानिष्ठा, संघविस्तार, आगम–स्वाध्याय, तपस्या, कष्ट सहिष्णुता, श्रद्धा, समर्पण आदि मानकों को आधार बनाकर साध्वियों के प्रेरक, रोचक और रोमांचक जीवन प्रसंगो का आलेखन किया गया है।

सन्दर्भ प्रस्तुत ग्रन्थावली का

साध्वी कल्पलताजी द्वारा लिखित 'तेरापंथ का यशस्वी साध्वी समाज' तेरापंथ के इतिहास की शृंखला में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है और साध्वी समाज के इतिहास को विशद रूप में प्रस्तुत करने का एक सार्थक प्रयास है। उन्होंने विभिन्न स्रोतों से मौखिक और लिखित रूप में प्राप्त सामग्री को समुचित तरीके से समायोजित करने में अपने समय एवं बुद्धिकौशल को नियोजित किया है। इतिहास–रसिक पाठकों के लिए यह उपक्रम उपयोगी बनेगा और उनकी स्वाध्यायशीलता को बढ़ाएगा, ऐसी आशा है। प्रथम बार में प्रस्तुत ग्रन्थ के तीन खण्ड पाठकों को उपलब्ध हो सकेंगे। पाठकों के अनुभव, सुझाव और प्रतिक्रियाएं लेखिका के सृजन को अधिक परिष्कृत बना सकेंगी, यह भी ध्यातव्य है। साध्वी कल्पलताजी की इस सृजनयात्रा में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रकाशस्तम्य बनने वाले और पाथेय प्रदान करने वाले परमपूज्य गुरुवर आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ और आचार्य महाश्रमण का आशीर्वाद और कृपाभाव इस यात्रा को आगे बढ़ाने के लिए उनमें निरन्तर ऊर्जा संप्रेषित करता रहेगा, यह विश्वास उनके लिए सबसे बड़ा आश्वासन है।

लाम्बोड़ी (मेवाड़)
2 जुलाई 2011

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

स्वकथ्य

आचार्य भिक्षु विचार क्रान्ति के पुरोधा थे, आत्मदर्शी साधक थे। वे सत्य के प्रति जितने समर्पित थे, असत्य के प्रति उतने ही अधिक बागी थे। लक्ष्य पाने के लिए वे मेरु से अडोल और सहिष्णु थे तो लक्ष्य से भटकाने वाले सिद्धात और व्यवहार के प्रति वे उतने ही असहिष्णु थे। सामुदायिक चेतना के प्रति अत्यधिक जागरूक थे तो व्यक्तिवादी मनोवृत्ति को पनपने के लिए एक इंच जमीन देने के लिए तैयार नहीं थे। उस समय उनके सामने कोई प्रिय–अप्रिय व्यक्ति नहीं होता मात्र सिद्धान्त, मान्यता और परम्परा की स्थापना का विशुद्ध दृष्टिकोण होता। यही कारण था कि उन्होंने कबीर की तरह निर्भय होकर पाखण्ड का प्रतिकार किया, यथार्थ को प्रस्तुति दी और उन्होंने धर्म के आस–पास उगे कांटों को उखाड़ फेंका।

सम्पूर्ण तेजस्विता के साथ चमकने वाले प्रचण्ड सूर्य के आस–पास निस्तेज ग्रह–नक्षत्र टिक सके, असंभव बात थी। वहाँ शक्तिसम्पन्नता पहली शर्त थी, क्योंकि तेजस्वी बनकर ही तेज की उपासना की जा सकती है। नैतिक मूल्यों को जीना जितना कठिन होता है उससे अधिक संघर्षपूर्ण होता है अनैतिक मूल्यों को चुनौती देना। मानवीय दुर्बलताओं के महाभारत में विजय प्राप्त करने के लिए आचार्य भिक्षु ने जीवन भर तप तपा, अपमान और उपेक्षा का विष पान किया, अभावों के अनगिनत पर्वत लांघे। नीचे धरती और ऊपर आसमां का आश्रय लेकर आत्म–साधना के राजपथ पर वह वीर महावीर बन चल पड़ा।

कठिनाई, संघर्ष, विरोध के बीहड़ जंगल में कई साथियों के साहस का दीपक जलता रहा तो कई साथी भय की अंधेरी खोह में गुम हो गए। वि. सं. 1817 की आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन तेरह व्यक्तियों के जुड़े छब्बीस हाथों ने कहा 'हे प्रभो! यह तेरापंथ' का घोष समुच्चारित कर नए संघ की सिद्धश्री लिखी। उन दुर्लभ ऐतिहासिक क्षणों की जो अपूर्व कुण्डली बनी, तेरापंथ का विश्वव्यापी कर्तृत्व उसी का चमत्कार कहा जा सकता है।

तेरापंथ धर्मसंघ की जन्मकुण्डली में ऐसा कौन–सा नक्षत्र प्रभावी था कि एक साथ साधु–साध्वी, श्रावक–श्राविका चारों तीर्थ का उदय नहीं हो पाया। यह एक ज्योतिर्विद के लिए अनुसंधान का विषय है। पर यह सुनिश्चित है कि तेरापंथ स्थापना के चार वर्ष बाद चौथे तीर्थ (साध्वियों) का प्रवर्तन हुआ।

तेरापंथ में साध्वियों की दीक्षा जब तक नहीं हुई, विरोधी लोग व्यंग्यात्मक भाषा में कहते – भीखणजी! तुम्हारे संघ का लड्डू अपूर्ण है। चतुर्विध संघ की जगह त्रिविध संघ है।

आचार्य भिक्षु जिस ठोस भूमिका पर खड़े थे उनके सामने सत्य ही महत्त्वपूर्ण था। न संख्या का मोह था और न साध्वियों के अभाव का क्षोभ था। वे चाहते थे – जो साधक आए वे शुद्ध लक्ष्य के प्रति समर्पित हों। इसलिए व्यंग्यपूर्ण प्रश्न को समाहित करते हुए उन्होंने कहा – 'हमारा मोदक अपूर्ण भले हो पर जो है चौगुनी चीनी का है अर्थात् जितना है वह स्वादिष्ट है और जैसा होना चाहिए वैसा है।'

आचार्य भिक्षु ने अपने सीधे सपाट कथन से यह स्पष्ट कर दिया कि चीनी के अभाव में लड्डू स्वादिष्ट नहीं बनता और उसे कोई पसंद नहीं करता, वैसे ही चारित्र के अभाव में धर्मसंघ की चतुर्विधता भी महत्त्वपूर्ण नहीं होती है।

संयोग की बात थी, इस प्रसंग के कुछ समय बाद ही आचार्य भिक्षु के पास तीन बहिनें आई और उन्होंने दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की।

आचार्य भिक्षु उस समय ऐसी पगडंडियों से चल रहे थे जहाँ कांच और कांटे बिछे हुए थे। जिन गलियों से वे निकलते गालियों की बौछार और नफरत का तेजाब छिड़का जाता। भय और भ्रान्ति का तेज अंधड़ तो सदा उनके आगे–पीछे चलता ही रहता। इसलिए अपनी सूक्ष्मदर्शी सोच का उपयोग करते हुए – तीनों दीक्षार्थिनी बहनों को वर्तमान की संभावित परिस्थितियों से अवगत कराया और आगमोक्त कसौटी पर उनके वैराग्य को कसा। सोने की तरह उन्हें निकष पर चढ़ाते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा – जैनागमों के अनुसार कम से कम तीन साध्वियों का साथ रहना आवश्यक है। यदि दीक्षा लेने के पश्चात् तुम तीनों में से एक का वियोग हो जाए तो शेष दो साध्वियों के लिए संलेखना के सिवाय कोई मार्ग नहीं है।

आत्मोत्सर्ग की शूली पर चढ़ने का साहस जुटाकर तीनों बहनों ने दीक्षा का अटल संकल्प पुनः व्यक्त किया, क्योंकि उनका वैराग्य विवेक से जनमा था, कोई दबाव, प्रलोभन, जोर जबरदस्ती या पारिवारिक मजबूरी नहीं थी। बहनों की वीरता और धीरता से आचार्य भिक्षु आह्लादित हुए। उनके वैराग्य भाव से पहले ही आश्वस्त थे। आचार्य भिक्षु ने पूर्ण परीक्षा के पश्चात् तीनों बहिनों को अपने धर्मसंघ में दीक्षित कर चौथे तीर्थ का प्रवर्तन किया। वह शुभ संवत 1821 का था।

प्रस्तुत सन्दर्भ में कुछ जिज्ञासाएं मन की धरती पर सहज अंकुरित होती हैं –

– तेरापंथ साध्वी समाज की नींव बनने वाली तीनों बलिदानी साध्वियों की जन्म भूमि कौन–सी थी?

– उन तीनों की शादी कब हुई? कहाँ हुई? कब उन पर वैधव्य का वज्रपात हुआ?

– बहिनों की भाग्यशाली त्रिवेणी आचार्य भिक्षु के चरणों में कैसे पहुंची?

– भय और भ्रान्तियों के सघन अन्धकार में उन्हें उदित होता तेरापंथ का धुंधला–सा प्रकाश कैसे दिखाई दिया?

– उन्होंने संयम रत्न की उपलब्धि किस पुण्य धरा पर प्राप्त की तथा वह शुभ दिन कौन–सा था?

प्रश्नों की इस लम्बी कतार को सामने रखकर तेरापंथ इतिहास को देखा, शासन समुद्र के पन्ने पलटे। शासन प्रभाकर, आचार्य भिक्षु धर्म परिवार आदि अनेक ग्रंथों को पढ़ा पर जिज्ञासा शान्त न हो सकी।

एक दिन इस प्रश्न का उत्तर मिला। तेरापंथ इतिहास मनीषी मुनिश्री सागरमलजी 'श्रमण' द्वारा लिखित एक लेख में जिसका शीर्षक है – धुंधले से प्रकाश में महासती कुशलांजी।

संयोग की बात है कि गहरे अंधकार में खोए प्रकाशमान व्यक्तित्व की किरणों को हमारे तक संप्रेषित करने में माध्यम बनी एक वयोवृद्धा साध्वी। जिनकी पहचान संघ में जूनी जोगण साध्वी के रूप में होती थी। स्वनाम धन्या धीर गंभीर धर्मसंघ की वरिष्ठ साध्वी थी – साध्वी श्री लाडांजी (लाडनूं)।

प्रभास्वर व्यक्तित्व के धनी सप्तमाचार्य डालगणी के कर–कमलों से दीक्षित साध्वी लाडांजी ने यह सारा दुर्लभ दस्तावेज साध्वी प्रमुखा जेठांजी से प्राप्त किया। साध्वीप्रमुखा जेठांजी ने परम पूज्य डालगणी के मुखारविन्द से सुना, इसलिए इसकी प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध है। साध्वी समाज के इतिहास के विस्तृत और सघन आकाश में विहरण करते समय मुनिश्री ने केवल बड़े–बड़े ग्रह नक्षत्रों पर ही अपनी नजरें नहीं टिकाई, छोटे से छोटे तारों को कहीं भी टिमटिमाते देखा, अपनी स्मृति प्रकोष्ठ में रख लिया। उसकी वजह से छितरी छितरी किरणें आज हमारे जिज्ञासा पथ को आलोकित कर रही हैं।

ऐहिहासिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि तेरापंथ का इतिहास, भिक्षु जस रसायण आर्या दर्शन गीत तथा गुण वर्णन गीतिकाएं, शासन प्रभाकर, शासन विलास और शासन समुद्र आदि अनेक ग्रंथ निश्चित रूप से मील के पत्थर बनकर युग–युग तक सबका पथ दर्शन करते रहेंगे।

तेरापंथ के आचार्यों ने धर्मसंघ के विरासत की बड़े जतन और कूवत के साथ सुरक्षा की है। समय–समय पर युगीन सन्दर्भों में नई भाषा, शैली में प्रस्तुति देकर उसकी महत्ता और उपयोगिता को सहस्रगुणित किया। आज आचार्य भिक्षु का विश्वस्तरीय मूल्यांकन उनके दर्शन, चिन्तन और मंतव्य से है। आचार्यश्री तुलसी के युग में तेरापंथ द्विशताब्दी के ऐतिहासिक अवसर पर तेरापंथ दर्शन और तेरापंथ के

इतिहास को प्रस्तुति देने का जो भगीरथ प्रयास प्रारंभ हुआ, वह आज तक चल रहा है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने तेरापंथ दर्शन को आधुनिक शैली एवं साहित्यिक परिवेश मे व्याख्यायित कर उसकी आध्यात्मिक वैज्ञानिक दृष्टि को उजागर किया। वर्तमान में आचार्यश्री महाश्रमण भिक्षु–साहित्य समन्दर में अवगाहन कर उसके अनमोल रत्न जन–जन को उपलब्ध कराने का अनथक श्रम कर रहे हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ, आचार्यश्री महाश्रमण (उस समय युवाचार्यश्री महाश्रमण) और महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी संघीय साहित्य के सन्दर्भ में समवेत चिन्तन कर रहे थे। एक विचार आया – "साध्वी समाज का इतिहास अच्छे ढ़ंग से प्रस्तुत किया जाए।" आचार्यवर के इस निर्णय की क्रियान्विति के लिए महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी ने मुझे निर्देश दिया।

तेरापंथ मनीषी मुनिश्री नवरत्नमलजी द्वारा लिखित 'शासन समुद्र' मेरे लेखन का प्रामाणिक आधार था। मैंने उनको सामने रखा, और उसके साथ–साथ तेरापंथ इतिहास मनीषी मुनिश्री सागरमलजी 'श्रमण' के उपपात में बैठकर साध्वियों के सम्बन्ध में विविध–आयामी जानकारी प्राप्त की। मुनिश्री की आत्मीयता भरी उदारता ने कई साध्वियों की जीवन–पोथी के नए–नए पृष्ठ खोले। इसके अलावा अनुभव समृद्ध वयोवृद्ध साध्वियों के पास बैठकर इधर–उधर बिखरी सामग्री को बटोरने का भी मैंने प्रयत्न किया। आश्चर्य तो उस समय हुआ, जब हमारी वयोवृद्धा साध्वियों ने श्रुतानुश्रुत परम्परा के आधार पर बहुत सारी नई बातें बताई। साध्वियों के बारे में संकलित हस्तलिखित जीवन चरित्र एवं प्रकाशित पुस्तकों की सामग्री भी मेरे लिए उपयोगी बनी। जैन भारती और भिक्षु स्मृति ग्रन्थ में प्रकाशित लेखों में तथा अन्यत्र भी यत्र तत्र साध्वियों के जीवन को उजागर करने वाली प्रकाश की किरणें दिखाई दी, उनको भी मैंने औचित्य के साथ सहजने का प्रयास किया है।

इतिहास के सन्दर्भ में एक बात मैं तहेदिल से स्वीकार करना चाहूंगी कि भरसक कोशिश के बावजूद समय, स्थान की प्रामाणिकता में संदिग्धता रहनी बहुत संभव है। इसी दृष्टि से पाठकों को कोई प्रामाणिक जानकारी हो और वे यदि भविष्य में मेरा मार्गदर्शन करेंगे तो मेरे अंतःकरण में उनके लिए साधुवादार्ह मानने का सम्माननीय स्थान आरक्षित रहेगा। इसी प्रकार किसी भी साध्वी के विषय में नए तथ्य तथा नई सामग्री उपलब्ध होगी तो अतिरिक्त प्रसन्नता का विषय होगा।

तेरापंथ–साध्वी समाज की विकास यात्रा विविध आयामी और विविध दिशागामी रही है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, कला, वैराग्य–निर्माण, संघ–विस्तार, प्रचार–प्रसार

और जन सम्पर्क में श्रद्धा समर्पण के साथ उनकी शक्ति और समय का नियोजन विशेष उल्लेखनीय है। तेरापंथ के महाप्रतापी आचार्यों के विकासकारी अनुशासन की धूप, आत्मीय अनुग्रह का पानी और प्रेरणा की अनुकूल हवा ने साध्वी–समाज के विकास की फसल को लहलहाने का पर्याप्त अवसर प्रदान किया, उसी के परिणाम स्वरूप आज तेरापंथ का साध्वी समाज यशस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी है।

तेरापंथ का यशस्वी साध्वी समाज – भाग 1 में तेरापंथ की प्रथम साध्वी कुशालांजी से लेकर श्रीमज्जयाचार्यश्री के युग तक की चयनित यशस्वी साध्वियों के जीवन–वृत्त का समावेश किया गया है। इस ग्रन्थ में कुल 60 साध्वियों के जीवन वृत्त हैं, जिनका वर्गीकरण इस प्रकार है –

1. आचार्यश्री भिक्षु के युग की साध्वियां – 12
2. आचार्यश्री भारीमालजी के युग की साध्वियां – 7
3. आचार्यश्री रायचन्दजी के युग की साध्वियां – 18
4. आचार्यश्री जीतमलजी के युग की साध्वियां – 23

कीर्तिधरशलाकापुरुष, प्रेरणा के महास्रोत परम पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री तुलसी ने मुझे इतिहास के उपवन में प्रवेश करने की प्रेरणा दी। विशेष रूप से श्राविकाओं के कर्त्तृत्व को उजागर करने का निर्देश दिया। आचार्यप्रवर के अंतिम लाडनूं प्रवास में इस दृष्टि से मैंने प्रयास शुरु किया और कई बहिनों को अपनी लेखनी का विषय बनाया। 'इतिहास के नुपुर' पुस्तक उसी प्रयास का परिणाम है। अनन्त ऊर्जास्रोत महाप्राण पूज्य गुरुदेव द्वारा प्राप्त प्रेरणा संजीवनी सदा–सदा मेरे लिए संजीवनी का काम करती रहे, यही अभीप्सा है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ और आचार्यश्री महाश्रमण की कृपा दृष्टि ने मेरी कर्मणा शक्ति को साध्वियों के इतिहास लेखन में नियोजित किया और समय–समय पर प्रेरणा का सिंचन देकर प्रोत्साहित किया, इसे मैं अपना सौभाग्य मानकर आह्लाद का अनुभव करती हूँ। आचार्यश्री महाश्रमण की मंगलमय छत्रछाया में बैठकर संयम–साधना के साथ मन वचन और कर्म को संघविकास के कार्यों में नियोजित कर पाई तो मैं अपने जीवन को सफलता एवं सार्थकता के करीब महसूस करूंगी। आचार्यश्री के मंगल आदेश निर्देश को मैं आगम वाक्य मानकर अपना पथ प्रशस्त करती रहूँ। यही मेरा जीवन व्रत है, यही मेरा लक्ष्य है और यही मेरी मंजिल है।

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्रीजी का अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, अप्रमत्त कर्मयोग और सहज समुन्नत साधना योग मेरे कदमों को गतिशील, हाथों को कर्मशील बनाने वाला है। गुरु–कृपा से महाश्रमणीजी की पावन सन्निधि मेरे पुरुषार्थ के दीप को प्रज्ज्वलित

करने वाली है। पुरुषार्थ की दीये को अप्रमाद और समर्पण भाव का तेल निरन्तर मिलता रहे, यही मनो भावना है। परम श्रद्धास्पद आचार्यवर एवं महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी के प्रति मैं कृतज्ञता व्यक्त कर सकूं, वे शब्द मेरे शब्दकोश में नही है। मैं गुरु–दृष्टि की आराधना करती हुई, आज्ञा और अनुशासन को श्वास की तरह जीती रहूं तथा मेरे मन में श्रद्धा–समर्पण की अनाविल ज्योति जलती रहे यही अन्तःकरण की कामना है।

मैं इतिहास मनीषी मुनिश्री सागरमलजी 'श्रमण' के प्रति अत्यन्त विनम्र भाव से प्रणत हूँ जिन्होंने वात्सल्य भाव से बड़ी उदारता के साथ मुझे इतिहास के विरल प्रसंगों की अवगति दी। जब कभी मैंने उनको निवेदन किया, उन्होंने अपनी सुविधा असुविधा को गौणकर मेरी अनुकूलता से मुझे समय दिया और मेरा मार्गप्रशस्त किया।

गुरुकुलवास का प्रेरक वातावरण और गुरुकुलवासी सभी साध्वियों के सौहार्द भाव के साथ साध्वी सुषमाकुमारीजी, चित्रलेखाजी, विभाश्रीजी विवेकश्रीजी, शशिप्रभाजी, सुनन्दाश्रीजी, स्वस्तिकप्रभाजी एवं लक्ष्यप्रभाजी का आत्मीय सहयोग मेरे कार्य को सहज सरल बनाता रहा है। उनके इस अनन्य सहयोग के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के साथ मंगल कामना करती हूँ कि भविष्य में सबका सहयोग उपलब्ध होता रहे।

पुस्तक–प्रकाशन से पूर्व सभी कार्यों का दायित्व अखिल भारतीय तेरापंथ महिला मण्डल की पूर्व अध्यक्ष श्रीमती पुष्पा बैंगाणी और पूर्वमंत्री श्रीमती प्रेम सेठिया ने संभाल कर मुझे निश्चिंत बना दिया। श्रीमती पुष्पा बैंगाणी एवं श्रीमती प्रेमसेठिया की स्वाध्याय रूचि मनोवृत्ति ने पुस्तक की सामग्री को सुव्यवस्थित करने में श्रम के साथ उत्साह से कार्य किया, इसके लिए वे वारतव में ही साधुवाद की पात्र हैं। मुमुक्षु डां शान्ता जैन भी मेरे कार्य में समय–समय पर सहयोगी बनी रहीं। सभी बहिनों की संघनिष्ठा एवं अध्यात्म निष्ठा के विकास की मंगल भावना।

लाम्बोड़ी (मेवाड़) 2 जुलाई 2011 साध्वी कल्पलता

अनुक्रमणिका

आचार्यश्री भिक्षु के युग की साध्वियां

1.	साध्वीश्री	कुशालांजी	जोजावर
2.	"	मैणांजी	पुर
3.	"	हीरांजी	पचपदरा
4.	"	नगांजी	बगड़ी
5.	"	अजबूजी	रोयट
6.	"	रूपांजी	रावलिया
7.	"	बरजूजी	बड़ी पादू
8.	"	बीजांजी	रीयां
9, 10	"	हस्तूजी, कस्तूजी	पीपाड़
11.	"	कुशालांजी	रावलिया
12.	"	जोतांजी	लावासरदारगढ़

आचार्यश्री भारीमालजी के युग की साध्वियां

13.	साध्वीश्री	चन्नणांजी	खाटू
14.	"	चत्रूजी	बाजोली
15.	"	चत्रूजी	तोषिणा
16.	"	कल्लूजी	रोयट
17.	"	दीपांजी	जोजावर
18.	"	नन्दूजी	लावासरदारगढ़
19.	"	चत्रूजी	गंगापुर

आचार्यश्री रायचंदजी के युग की साध्वियाँ

20.	साध्वीश्री मगदूजी	पोटला
21.	" " मयाजी	धड़ला
22.	" " कंकूजी	उदयपुर
23.	" " मलूकांजी	डेह
24.	" " ज्ञानांजी (गेनांजी)	लाडनूं
25.	" " चम्पांजी	नाथद्वारा
26.	साध्वीप्रमुखा सरदारांजी	फलौदी
27.	" श्री सिणगारांजी	सुजनागढ़
28.	" " हरखूजी	सुजनागढ़
29.	" " सेरांजी	मोमासर
30.	" " जेतांजी	सूरवाल
31.	" " हस्तुजी	चीवरा
32.	" " उमेदांजी	फलौदी
33.	" " रंभाजी	पदराड़ा
34.	" " किस्तुरांजी	मांडा
35.	साध्वीप्रमुखा नवलांजी	पाली
36.	" श्री सुन्दरजी	नाथद्वारा
37.	" " बगतूजी	रेलमगरा

जयाचार्य युग की साध्वियाँ

38.	साध्वीश्री वन्नाजी	बीदासर
39.	साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी	बीदासर

40.	"	श्री चांदकंवरजी	बीकानेर
41.	"	" जेतांजी	चितामा
42.	"	" झूमांजी	सिरेवड़ी
43.	"	" गुलाबांजी	लाडनू
44.	"	" लालांजी	बागोर
45.	"	" मगदूजी	पीपली
46.	"	" केसरजी	मांडा
47.	"	" रायकंवरजी	चितामा
48.	साध्वी प्रमुखा जेठांजी		चूरु
49.	"	श्री जड़ावांजी	नाथद्वारा
50.	"	" चूनांजी	रतलाम
51.	"	" भूरांजी	लाडनूं
52.	"	" मोतांजी	पड़िहारा
53.	"	" मानकंवरजी	फलौदी
54.	"	" चान्दाजी	बीदासर
55.	"	" ज्ञानांजी	बागोर
56.	"	" ऋद्धूजी	बडू
57.	"	" गंगाजी	मांडा
58.	"	" सिरेकंवरजी	चान्दारूण
59.	"	" मगदूजी	पोटला
60.	"	" जड़ावांजी	बोरावड़

तेरापंथ का यशस्वी साध्वी–समाज

भाग – 1

आचार्य श्री भिक्षु के युग की साध्वियां

1. साध्वी कुशालांजी जोजावर (1)
2. " मैणांजी पुर (15)
3. " हीरांजी पचपदरा (28)
4. " नगांजी बगड़ी (29)
5. " अजबूजी रोयट (30)
6. " रूपांजी रावलियां (37)
7. " बरजूजी बड़ी पादू (39)
8. " बीजांजी रीयां (40)
9, 10 " हस्तूजी, कस्तूजी पीपाड़ (45, 47)
11. " कुशालांजी रावलिया (46)
12. " जोताजी लावासरदारगढ़ (48)

1. महासती कुशालांजी (जोजावर) (1)

महासती कुशालांजी का जन्म स्थान जोजावर था। यह किसी पुस्तक से प्रामाणित नहीं है पर सप्तमाचार्य डालगणि का यह कथन - 'तेरापंथ शासन में साध्वी समाज की पहली दीक्षा जोजावर में हुई, इसलिए जोजावर हमारा उपकारी क्षेत्र है।' तेरापंथ को चतुर्विध संघ बनाने वाला क्षेत्र है जोजावर।

आचार्य भिक्षु का विक्रम संवत् 1821 का चातुर्मास केलवा में था। चातुर्मास में उस समय मेवाड़ में दीक्षा देने की परम्परा नहीं थी। चौमासा सम्पन्न होते ही भिक्षु स्वामी मारवाड़ पधारे और 1822 का चातुर्मास भी उन्होंने सिरियारी (मारवाड़) में किया। सिरियारी चौमासा से पहले साध्वी कुशालांजी आदि साध्वियां थीं, यह भिक्खू जस रसायण ग्रन्थ में स्पष्ट उल्लेख है। जयाचार्य ने लिखा है-

इकवीसा रै आसरै, तीन जण्यां तिहवार॥
एक साथ व्रत आदरया, पहिलां कियो करार॥

इससे स्पष्ट है कि केलवा चातुर्मास के बाद और सिरियारी चातुर्मास से पहले उनकी दीक्षा हुई है। कहाँ हुई? के प्रश्न तले सोचा जाए तो कई आवर्त परतें स्वतः खुलती-सी नजर आएंगी।

साध्वी कुशालांजी, मट्टूजी और अजबूजी क्रमशः चौदह, सौलह और सतरह वर्ष की अवस्था में विधवा हो गई थी। कहा जाता है कि बहिन कुशालां की शादी वणदार के गांधी परिवार में हुई थी। उस समय शादी बहुत छोटी अवस्था में हो जाती थी। उस अल्पायु में वे ससुराल किसे कहते है, यह भी नहीं समझती थी। इसलिए मुकलावा की परम्परा थी। मुकलावा होने से पहले वे ससुराल नहीं जाती थी। कुशालांजी का मुकलावा होने वाला था, उससे पहले ही चेचक की बीमारी से उनके पति की मृत्यु हो गई।

राजसी और राठौड़ी परम्परा के प्रभाव में जीने वाली राजस्थानी जनता - 'त्रिया तेल हमीर हठ चढै न दूजी बार' - इस लोकोक्ति में विश्वास करती थी। पुनर्विवाह शब्द उनके कोश में नहीं था। हंसते-हंसते सती बन जाना, उन्हें मंजूर था पर प्रण और विश्वास को तोड़ना राजस्थानी बालाओं को मरने से अधिक कष्टकारी लगता था।

तीनों बहिनों का सम्बन्ध स्थानकवासी (बावीसा टोला) सम्प्रदाय से था। स्थानकवासी सम्प्रदाय के किस टोले में धार्मिक आस्था थी, यह अज्ञात है। जोजावर में

जाने वाले सभी साधु-साध्वियों की उपासना में वे अपना समय बिताकर सफल जीवन जीने का प्रयत्न करने लगीं। ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय, तप और त्याग में अपनी शक्ति का नियोजन कर कर्म-निर्जरा के महान् अनुष्ठान में लग गईं।

धर्म की आस्था के साथ बढ़ती हुई रुचि को पोषण मिला- साध्वी विरधूजी से। तीनों बहनों की श्रद्धा, लगन के साथ अवस्था को देखकर उनके मन में करुणा जागी और तीनों को संसार के स्वरूप का बोध कराया। वैराग्य के रंग में रंगने का प्रयत्न किया। यहाँ तक कि उनके अभिभावकों को समझाया और साधना करने के लिए अपने साथ ले लिया। एक साथ तीन चेलियां और वह भी होनहार, समझदार मिल जाएं तो प्रसन्नता होनी स्वाभाविक है। साध्वी विरधूजी की इस प्रेरणा से माता-पिता को भी सन्तोष हुआ, क्योंकि वे अपनी बच्चियों के भविष्य के प्रति चिन्तित थे। साध्वी विरधूजी के पास बहन कुशालांजी आदि दो वर्ष से अधिक वैरागिन के रूप में रही। अचानक साध्वी विरधूजी देवलोक हो गईं। शेष आर्याओं में टोले को लेकर भीतर-भीतर खींचतान बढ़ने लगी। बात इतनी अधिक बढ़ गई कि साध्वियां कुशालांजी आदि तीनों बहनों को अपने-अपने पक्ष में करने लगी। जब भी मौका मिलता, आर्याजी कहती -देख कुशालां! तू मेरे पास दीक्षा लेना अथवा मेरी ही चेली बनना।

इस आपाधापी और खींचतान के माहौल ने निश्चय ही वैरागिन बहनों के मन में उलझन पैदा की होगी। साध्वी विरधूजी के दिवंगत होने से उनके कोमल मन को आघात लगा और उसके बाद उनके टोले की डांवाडोल स्थिति ने उन्हें अन्यत्र जाने के लिए विवश कर दिया।

उसी स्थानक के पास दूसरा स्थानक था, जहाँ जयमलजी की साध्वियां ठहरी हुई थीं। उनमें एक साध्वी का नाम था -सुजाणांजी। वे तीनों उनके पास पहुंची। सामान्य परिचय के बाद वे उनकी धर्म चर्चा में भाग लेने लगीं। तीनों बहिनों की वैराग्य भावना, समझदारी तथा ज्ञानपिपासा को देख साध्वी सुजाणांजी ने उनमें रस लिया और स्नेह के साथ भावी जीवन के विषय में जानकारी करने का प्रयत्न किया। स्नेह और वात्सल्य के सामने मनुष्य की बात ही क्या, पत्थर भी पिघल जाते हैं। बहन कुशालांजी आदि भी भीतर तक द्रवित हो गईं और अपनी सारी कथा व्यथा परत दर परत सामने रख दी। साध्वी सुजाणांजी प्रौढ़ और अनुभवी साध्वी थी। जब दिल से दिल जुड़ ही गया तो अपना दिल खोलते हुए बोली- देख बहन! मुझे तो चेलियां चाहिए नहीं, क्योंकि मैं तो स्वयं ठिकाना

ढूंढती फिरती हूँ पर तुम्हें मैं एक बात कहना चाहती हूँ - 'जल्दी में कोई निर्णय मत करना। धैर्य से स्वयं चिन्तन कर आगे बढ़ना। दीक्षा ही लेना है तो समाधि पूर्वक जीने का तथा आत्मकल्याण का लक्ष्य सामने रखना। मेरी राय में भीखणजी के टोले में दीक्षा लो तो .....।' उनकी आचार क्रिया अच्छी है, अनुशासन अच्छा है। वे त्याग, वैराग की अच्छी कसौटी करते हैं ..... पर अन्यत्र मत फंसना।

दूसरी बात अन्य टोलों की नीची-ऊंची बातें सुनकर वैराग्य मत घटाना। संसार दु:खों का घर है। मैं चाहती हूँ कि तुम अपनी शक्ति को चरित्र पालन में नियोजित कर धन्य बन जाओ।

कुशालांजी आदि तीनों को साध्वीजी के कथन में अनुभव और सत्य के एक साथ दर्शन हुए, क्योंकि साध्वी विरधूजी के स्वर्गवास के बाद उनके टोले की जो स्थिति बनी वह उनके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण थी। उन्होंने वहां से सरकने में ही अपनी समझदारी समझी और जोजावर अपने माता-पिता के पास पहुंच गईं।

सौभाग्य की बात थी कि उन्हीं दिनों आचार्य भीखण जी मारवाड़ में विचरण कर रहे थे। जब तीनों बहनों को जोजावर में आचार्य भिक्षु के आने की जानकारी मिली तो उन्होंने दर्शन किए और अपनी भावना व्यक्त की।

स्वामीजी की पारखी नजरों ने पहली दृष्टि में ही बहनों की आन्तरिक योग्यता को परख लिया था। वैराग्य-रंग में रंगी, पकी पकाई साधुचर्या की जानकार बहनों की दीक्षा लेने की भावना में स्वामीजी को शुभ भविष्य की संभावना दिखाई दी। जब उन्होंने साध्वी सुजाणांजी के साथ हुई बातें सुनी तो विश्वास की गहरी जड़ें जम गईं। प्रतिलेखन और प्रतिक्रमण के साथ-साथ साधु जीवन की प्रारंभिक रीति-विधि की जानकार होने से स्वामीजी को सहज संतोष हुआ, क्योंकि उन्हें कोई सिखाने वाला भी नहीं था। फिर भी स्वामी ने उनको मर्यादा-अनुशासन के निकष पर चढ़ाया। आगमोक्त विधि-विधान से परिचित कराया।

आचार्य भिक्षु ने तीनों बहिनों को सम्बोधित करते हुए कहा - "जैनागमों के अनुसार कम से कम तीन साध्वियों का साथ रहना आवश्यक है। यदि तुम तीनों के प्रव्रजित होने के पश्चात एक का वियोग हो जाए, तो शेष दो साध्वियों के लिए संलेखना के सिवाय कोई मार्ग नहीं रहता।"

तीनों बहनों ने एक एककर सारी शर्तें स्वीकार की और स्वामीजी के मन में पक्की प्रतीति पैदा कर दी। उन्होंने संलेखना तक की संभावना को स्वीकार कर तेरापंथ साध्वी समाज की इस्पाती नींव का शिलान्यास किया। तेरापंथ की स्थापना के बाद आचार्य भिक्षु ने सर्वप्रथम इन्हीं तीन बहिनों को दीक्षा दी। इससे पहले दीक्षाएं नहीं हुईं। तेरापंथ संघ में दीक्षा के श्रीगणेश का श्रेय साध्वी समाज को मिला। दीक्षा के समय तीनों बहिनों में कुशालांजी सबसे छोटी थी पर उनके विनय, विवेक और आचार कौशल ने स्वामीजी को प्रभावित किया और उन्होंने कुशालांजी को तीनों में अग्रणी (बड़ी) बना दिया। भिक्खू जस रसायण में इसी बात को प्रस्तुत करते हुए जयाचार्य ने लिखा है-

एक साथ व्रत आदरयो, तीन जण्यां तिहवार।
कुशलांजी नै बड़ी करी, कुशल खेम दातार॥ भि.ज.ढा.

साधु-समाज में थिरपाल मुनि का नाम गण की नींव को स्थिर करने में गौरव के साथ लेते हैं। वैसे ही साध्वी समाज में पहला नाम साध्वी कुशालांजी का है। उन्हें कुशल-क्षेम का प्रतीक माना गया है। शासन विलास में भी इसे गौरव के साथ प्रस्तुति दी गई है -

चरण ग्रह्यू इक साथ, त्रिहु कुशल खेम करतार।
कुशलांजी थापी बड़ी, भिक्षु बुद्धि भंडार॥ शा. वि. ढा. 2, दो. 5

साध्वी कुशालांजी के आगमन से तेरापंथ को अप्राप्त (साध्वी संघ) की प्राप्ति हुई और उन्होंने अति शुभ मंगल बेला में संघ में प्रवेश किया कि साध्वी संख्या में दिन दूणी, रात चौगुणी वृद्धि होती गई। कहना चाहिए कि उनका पगफेरा शासन में बड़ा शुभ और श्री-वर्धक रहा।

मुनि श्री सागरमलजी के अनुसार साध्वी कुशालांजी, मट्टूजी और अजबूजी की दीक्षा जोजावर में बैसाख महीने में हुई। स्वयं भिक्षु स्वामी ने उनको चारित्र पचखाया। दीक्षा के बाद साध्वी कुशालांजी ने स्वयं की चोटी का केशलोच अपने हाथ से किया। शेष दोनों साध्वियों का केशलोच साध्वी कुशालांजी ने किया हो। ऐसी संभावना की जा सकती है।

वि. सं. 1822 में उनका चातुर्मास सिरियारी में स्वामीजी की सन्निधि में हुआ। तीनों साध्वियों की साधुचर्या स्वयं स्वामीजी की देख-रेख में चलती। आज्ञा आलोयणा वे ही

धराते। आचार्य भिक्षु का 1823 का चातुर्मास पाली में था। उस समय भी कुशालांजी साथ में थी। इन दोनों चातुर्मास में स्वामीजी ने उनको सुगडसूया (कृत-सूत्र) बनाने का प्रयास किया।

साध्वी कुशालांजी ने 1825 में पहला चातुर्मास आमेट किया। तब तक संभवत: दो साध्वियों की दीक्षा और हो गई थी। कहा जाता है कि देवगढ़ से लेकर कानौड़ तक के छोटे बड़े सभी क्षेत्रों में साध्वी कुशालांजी का विहरण अधिक हुआ और उन क्षेत्रों पर महासतीजी कुशालांजी ने बहुत श्रम किया। आत्मार्थिता, विनम्रता, आज्ञा के प्रति समर्पण भावना आदि उनके ऐसे गुण थे जो लोगों में सहज प्रभाव छोड़ते थे।

स्वामीजी की दृष्टि की आराधना में वे एक नजीर थी। उनकी अप्रमत्त साधना और भीतरी जागरूकता का तेरापंथ साध्वी समाज को प्रतिष्ठित बनाने में बुनियादी योगदान रहा है।

एक बार उनके टखने में गहरी चोट लग गई, जिसके कारण उन्हें चार पांच वर्ष तक मेवाड़ में ही रहना पड़ा। उसी अन्तराल में साध्वी चंदूजी और वीरांजी को लेकर समस्या पैदा हो गई। स्वामीजी ने चंदूजी और वीरांजी को जब तेरापंथ में प्रवेश दिया था, तब उनसे पहले ही वचन ले लिया था कि दोनों को एक साथ नहीं रखा जाएगा। मेवाड़ में जिन-जिन सिंघाड़ों के साथ उपरोक्त दोनों साध्वियों को भेजा गया, उनके साथ वे तालमेल नहीं बिठा पाईं, क्योंकि उन दोनों की प्रकृति में मिलनसारिता, सामञ्जस्य, सहिष्णुता, सेवा जैसे गुण नहीं थे। उस स्थिति में महासती कुशालांजी ने सोचा मेवाड़ में अपवाद न फैले, इसलिए चंदूजी को अपने पास बुला लिया। कुछ दिनों बाद वीरांजी को भी अपने पास रखना पड़ा। उन दोनों का पूर्व नियोजित षड्यंत्र था। महासती कुशालांजी का लक्ष्य केवल निर्वाह करना और संघ की प्रभावना करना था पर इसका परिणाम उलटा हुआ। चंदू और वीरां दोनों ने मिलकर चक्र चलाया। वे छिद्रान्वेषी बनकर दोष देखने लगी। साध्वी कुशालांजी का कठोर अनुशासन उनको नहीं भाया। भीतर ही भीतर वातावरण में अशांति घुलने लगी। सलक्ष्य कोशिश करने के बावजूद भी तनाव बढ़ता गया। स्वामीजी उस समय मारवाड़ में थे। उन दोनों को वहां बुला लिया गया। वे स्वामीजी के पास पहुंची और महासती कुशालांजी पर उन्होंने अनगिनत आरोप लगाए। स्वामीजी ने सच्चाई को सामने लाने के लिए महासती कुशालांजी को मारवाड़ आने का आदेश दिया।

साध्वी कुशालांजी आरोपों की राजनीति से अनभिज्ञ थी। उनके पैरों में अत्यधिक दर्द था, इसलिए उन्होंने घाटी से उतरने की अक्षमता जताई। उनके सहज, सरल उत्तर से चंदू-वीरां द्वारा लगाए गए अरोपों को बल मिल गया, क्योंकि उनका पहला आरोप यही था कि - ''कुशालांजी को मेवाड़ से कौन हटा सकते हैं? चलेंगे तो मेरे पैर ही न? स्वामीजी क्या करेंगे? वे तो अपने आपको ही सबकुछ मानती हैं। मनचाहा करती हैं। मेवाड़ में तो सारा राजपाट उनका ही है।''

उपरोक्त धारणा के बाद स्वामीजी को भी कुशालांजी का उत्तर अखरा। मन में नाराजगी के भाव उभरे। उन्होंने दूसरा पत्र आदेश के रूप में दिया। पत्र की भाषा बहुत कड़ी थी।

''कुशालांजी को मेवाड़ में रहने की आज्ञा नहीं। आज्ञा उपरांत कारणवश रहना पड़े तो जब तक रहे, 5 विगय और सूंखडी (.....) लेना नहीं। जैसे भी चला जाएं, धीरे विहार करे, नहीं तो कुशालांजी पत्र पहुंचते ही अपने साथ वाली किसी भी साध्वी को आज्ञा सौंप दें।''

इस कठोरतम आदेश को पढ़ते ही साध्वी कुशालां के चेहरे की रौनक एक साथ हवा हो गई। पैंरों तले जमीन खिसकने लगी। मन में प्रश्न उठा- यह आदेश कैसे आया? उन्होंने गंभीर होकर चिंतन किया -''मेरी जानकारी में तो दूर, स्वप्न में भी मैंने गुरु आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया। लगता है कहीं न कहीं कोई गंभीर शिकायत पहुंची है अन्यथा बिना किसी कारण स्वामीजी ऐसा आदेश नहीं देते। सचमुच! मेरे लिए तो यह जीने-मरने से बड़ा प्रश्न है। मेरे लिए यह अग्नि-परीक्षा की घड़ी है। इसलिए मेरा दायित्व है कि स्वामीजी की आज्ञा का सौ प्रतिशत पालन करूं। उनके विश्वास को आंच न आए, मुझे भी वीरता का परिचय देना है। मारवाड़ की माटी का मोल चुकाना है।''

स्वामीजी के दर्शन न हो तब तक पांच विगय और सूंखडी का त्याग कर विहार की घोषणा कर दी। पत्र द्वारा प्राप्त आदेश का अक्षरशः आगे बढ़कर पालन किया। अपनी आज्ञा और धारणा की जिम्मेदारी साथ वाली साध्वी को सौंप दी। यह सब इतनी सहजता से किया कि वातावरण को बोझिल होने का मौका ही नहीं मिला।

महासती कुशालांजी ने साध्वियों का सहारा लेकर, बैठ बैठकर घाटी पार की। भारी परीषह का सामना किया। सिरियारी में उन्होंने स्वामीजी के दर्शन किए। साध्वी

कुशालांजी की खेदखिन्न शारीरिक और मानसिक स्थिति को देखा। उसमें साक्षात विनय भावना और आज्ञा पालन की उत्तम नीतिमत्ता दिखाई दी। स्वामीजी का अन्तस् वात्सल्य से भीग गया।

अवसर देख स्वामीजी ने साध्वी चंदू-वीरां को कुशालांजी के आमने-सामने बिठाया। उनके द्वारा लगाए गए आरोपों को पुनः सुना। सारी स्थिति स्पष्ट हुई। लिखित और मौखिक शब्दावली में भारी अन्तर मिला। उन्होंने जिन-जिन व्यक्तियों के साक्षी की बात कही, उन्होंने घटना से अनभिज्ञता प्रकट की। यह सब देख-सुनकर षडयंत्र की परतें खुलने लगीं। प्रश्न-प्रतिप्रश्नों के उलझन में वे दोनों ऐसी उलझीं कि एक होने का संकल्प लेकर आई थी पर चंदू और वीरां अलग-अलग तरह की बातें करने लगीं। अन्त में षड्यंत्र असफल होने का आरोप एक दूसरे पर लगाने लगीं।

यथार्थ स्थिति सामने आ गई। एक विनीत, आचारवान और संघ प्रभावना में अपने आपको बलिदान करने वाली साध्वी को बिना मतलब अनुशासन के निकष पर चढ़ना पड़ा। यह स्वामीजी के लिए अनुताप का विषय बन गया। स्वामीजी ने साध्वी कुशालांजी को पूर्णतः निर्दोष घोषित किया और उनकी सहिष्णुता, धीरता और गंभीरता की सराहना की।

साध्वी कुशालांजी ने शारीरिक कष्ट सहन करके गुरु दर्शन किए, यह उनकी समझदारी का प्रमाण पत्र था अन्यथा बहम ही बहम के पहाड़ों को पसरने का भरपूर मौका मिल जाता। साध्वियों की ओछी मनोवृत्ति को बढ़ावा मिलता और सदा-सदा के लिए मन पर भार रह जाता।

साध्वी कुशालांजी की समयज्ञता और विवेक सम्पन्नता ने स्वामीजी के विश्वास को और ऊँचाई दे दी।

तपस्वी मुनि गुलहजारीजी से श्रुत घटना के आधार पर साध्वी कुशालांजी सिरियारी से गुन्दोच पधारीं, पैर दर्द के कारण विहार में अत्यधिक कठिनाई होने से 1853 और 54 के दो चातुर्मास उन्होंने गुन्दोच में किए।

अन्तिम चातुर्मास में काले नाग ने उनको काट लिया। जहर चढ़ने से असह्य वेदना हुई। शरीर में दाह-सी लगने लगी पर साध्वीजी ने झाड़ा दिराने और मंत्रादि का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया। आपका स्वर्गवास सर्पदंश से गुंदोच में हुआ। जयाचार्य ने भिक्षु

जसरसायण में इसी बात को निम्न पद्यों में प्रस्तुति दी है-

पवर चरण शुद्ध पालतांजी कुशलाजी नै विचार।
दीर्घपृष्ठ गुंदोच में जी ते डसियो तिणवार।
खिम्यावंत धिन सतिया अवतार॥
जंत्र मंत्र झाड़ा भणी जी बंछ्या नहीं तिणवार।
शुद्ध परिणामे महासती जी, पोहती परलोक मझार॥ भि. ज. र. ढा. 51 गा. 1,2

"ख्यात में साध्वी कुशालांजी के विषय में जो लिखा गया है वह भी उपरोक्त तथ्य को पुष्ट करता है- "कुशलांजी प्रकृति रा बहोत सुध, वनीत, ठेट तांई कुशल खेम थका पार उतर्‍या। गाम गुन्दोच में सर्प डसियो ते जोग सूं काल कर गया, तिके धन, शासन में पंडित मरण पावै। परिणाम तीखा रहा।"

हुलास शासन प्रभाकर में उनके व्यक्तित्व का वर्णन निम्न पंक्तियों में मिलता है -

कुशलां जी प्रकृत रा बड भद्रक बुधवान॥
बलि विनय गुणे युत थेट तांइ गण मांय।
रह्या कुशले खेमे चरण-करण चित ल्याय॥

इन सारे प्रमाणों को सामने रखकर विमर्श करने से स्पष्ट होता है कि साध्वी कुशालांजी 1854 तक विद्यमान थीं। 1860 में जिस समय स्वामीजी का स्वर्गवास हुआ, उस समय वे दिवंगत हो चुकी थीं। इससे प्रमाणित है कि उपरोक्त समय के मध्य उनका स्वर्गवास हुआ है।

शासन प्रभाकर में लिखा है कि उन्होंने अन्त समय में संथारा किया, यह उल्लेख और कहीं नहीं मिलता।

साध्वीश्री जी का स्वर्गवास संवत प्राप्त नहीं हैं परन्तु वि.सं. 1834 ज्येष्ठ शुक्ला नवमी के सामूहिक लेखपत्र में आपके हस्ताक्षर है। पर सं. 1836 माघ बदी नवमी तथा 1852 फाल्गुन शुक्ला चवदस के लिखित में आपके हस्ताक्षर नहीं हैं। लेकिन व्यक्तिगत लेख पत्र संवत् 1854 संख्या 24 के अनुसार संवत् 1852 फाल्गुन कृष्णा 8 को चंदूजी ने साध्वी कुशालांजी पर आरोप लगाए। उस समय स्वामीजी के आदेश से वे मेवाड़ से सिरियारी पहुंची। उन्होंने अपनी यथार्थ स्थिति प्रस्तुत की। दोषारोपण के सारे प्रमाण

मिथ्या साबित हो गए। स्वामीजी के मन में विश्वास पैदा हो गया।

संवत् 1854 में चंदूजी को गण से पृथक् किया गया। उस समय भी उन्होंने बहिनों और साधुओं के बीच कुशालांजी के अवर्णवाद बोले। इससे भी स्पष्ट है कि 1854 के शेष काल तक आप वर्तमान थीं।

साध्वी कुशलांजी तेरापंथ धर्मसंघ के साध्वी-समाज की सुदृढ़ बुनियाद है। उनकी दीक्षा शुभमुहूर्त्त बनकर हुई। उनके द्वारा दीक्षा का कृतसंकल्प, उत्कट वैराग्य भावना, शुद्ध साधुता और अखण्ड गुरु - श्रद्धा, भक्ति पीढ़ी-दर-पीढ़ी रोशनी की मीनार बनकर साध्वी समाज को प्रकाश देते रहेंगे।

2. साध्वीश्री मैणांजी (पुर) (15)

साध्वी मैणाजी मेवाड़ के पुर गांव की निवासिनी थी। उन्होंने पति को छोड़ आचार्य भिक्षु के पास दीक्षा ली। यह उल्लेख भिक्षुजसरसायण में श्रीमज्ज्याचार्य ने किया है –

मैणाजी मोटी सती जी, वासी पुर नां विचार।
स्वाम कनै संयम लियो जी, छांडी निज भरतार।। ढाल 51 गा. 8

इसी प्रकार शासन विलास तथा शासन प्रभाकर में भी दीक्षा का उल्लेख है पर कब ली और कहां ली, यह स्पष्ट संकेत नहीं है। किन्तु इनसे पहले साध्वी फत्तूजी आदि की दीक्षा 1833. मृगसर बदि 2 को हुई। सं. 1834 जेठसुदि 9 के सामूहिक लेख पत्र में साध्वी मैणाजी के हस्ताक्षर हैं, इससे स्पष्ट है कि सं. 1833 के मिगसर से 1834 के जेठ के मध्य इनकी दीक्षा हुई है। तेरापंथ धर्मसंघ में सुहागिन बहिन के रूप में दीक्षा लेने वाली साध्वी मैणाजी पहली साध्वी थी। आचार्य भिक्षु के शासन काल में सात बहिनों ने सुहागिन रूप में दीक्षा ली।

साध्वी मैणांजी साहसी, विवेक सम्पन्न और संयम साधना के साथ ज्ञान की आराधना में कुशल थी। उन्होंने आगमों की अच्छी धारणा की। व्याख्यान कला में वे निपुण थी। इसलिए जयाचार्य ने भिक्षु जसरसायण में लिखा है –

पढी भणी पण्डित थई बहु सूत्रां नी जाण।

आचार्य भिक्षु ने उनकी योग्यता को देखकर जल्दी ही उनको अग्रगामी बना दिया। उन्होंने समय–समय स्वामीजी के सान्निध्य में रहकर अपनी क्षमता को और अधिक विकसित किया और संघ में अच्छा सम्मानपूर्ण स्थान बनाया। इसी आधार पर संघ में एक कहावत चल पड़ी – सन्तां में वेणाजी (वेणीरामजी) और सतियां में मैणांजी।

साध्वी मैणांजी आचार विचार में और आज्ञा मर्यादा में सजग रहने वाली साध्वी थी। सं. 1850 में साध्वी बरजूजी, बींजाजी और वन्नांजी की दीक्षा हुई। आचार्य भिक्षु ने दीक्षा के बाद शिक्षा तथा संस्कार निर्माण के लिए तीनों को साध्वी मैणांजी को सौंपा। उन्होंने उनको ज्ञानार्जन कराया। मुनि श्री हेमराजजी ने उनके श्रम को बींजां सती गुण वर्णन ढाल में इस प्रकार लिखा है –

मैंणाजी भणाया, ज्ञान भल पाया

जब विक्रम संवत 1834 चैत्र शुक्ला 15 को नाथद्वारा में आचार्य भिक्षु ने साध्वी रंगूजी और मुनिश्री खेतसी को दीक्षा प्रदान की। उस समय साध्वी मैणांजी अग्रगण्या के रूप में स्वामीजी के साथ थी। उस समय उनका संघ में गरिमापूर्ण स्थान था। उस घटना को खेतसी चरित्र में उद्घृत करते हुए जयाचार्य ने लिखा है –

मैणांजी आदि महासती समणी गण सिणगार हो।
सेव करै स्वामी तणी, आण अखंडत धार हो।। सतजुगी चरित्र ढा.2 गा.9

भावी विचित्र होती है। कभी–कभी जीवन में ऐसी अप्रत्याशित अकल्पित घटनाएं घट जाती है, जिसकी कल्पना भी नहीं की जाती। साध्वी मैणाजी भी इसका अपवाद नहीं रही। संभव है, उसमें कुछ साध्वी मैणाजी की दुर्बलता रही हो पर गलतफहमियों ने भी पूरी–पूरी भूमिका निभाई हो, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

चन्द्रभाणजी के घटना–प्रसंग को सामने रखकर देखा जाए तो लगता है उन्होंने साध्वी मैणांजी को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया। उन्होंने भी सकारात्मक मानसिकता के साथ उनका पक्ष लिया। ऐसा आचार्य भिक्षु द्वारा लिखित व्यक्तिगत लेखपत्र संख्या – 13 इसका प्रमाण है। स्वामीजी ने लिखा है – 'मैणांजी नै निश्चै फोस्या जाण्या' स्वामीजी द्वारा पूछताछ किए जाने पर मैणाजी ने सही सही कहकर अपनी गलती स्वीकार की।

इस सन्दर्भ में एक दूसरे लिखत में आचार्य भिक्षु ने लिखा है – "मैणांजी रा परिणाम अजोग घणां देख्या। घणी–घणी अजोग बोली आर्यां आगै, तिणरी बोली पर साधां ने (आचार्य भिक्षु) आर्यां नै शंका परी – आ तो टोला स्यूं न्यारी परती दीसै छै, सरूपा ने फारी दीसै छै।"

आचार्य भिक्षु ने साध्वी सरूपांजी (38) माधोपुर की थी, उनसे स्पष्ट शब्दों में पूछताछ की। उन्होंने शपथ पूर्वक कहा – मेरी मैणांजी के साथ किसी प्रकार की दलबन्दी नहीं है। यदि वे संघ को छोड़ भी दें तो उनके साथ जाने का मुझे त्याग है। इस प्रकार उन्होंने आचार्य भिक्षु को पूर्ण विश्वास दिलाया।

साध्वी मैणांजी ने दोनों घटनाओं के विषय में आवेश वश हुई गलती को स्वामीजी के सामने स्वीकार किया और प्रायश्चित कर आत्मशुद्धि की पर आचार्य भिक्षु के दिल में पहले जैसा विश्वास पैदा नहीं कर सकी। इसलिए उन्होंने अपने अंतिम समय में कड़ी परीक्षा दी तथा गुरु की कसौटी पर खरा उतरने का प्रयास किया।

साध्वी मैणांजी की आंखों में कुछ न कुछ गड़बड रहती थी। इसलिए वे प्रायः आंखों में दवा डालती थी। यह बात जब आचार्य भिक्षु को ज्ञात हुई तो उनके मुख से सहज ही निकल गया – "मैणांजी! आंखों में दवा बहुत डालती हो, कहीं आंख न खो बैठो।" लगता है फिर भी वे जागरूक नहीं बनी और उनकी आंखें उत्तरोत्तर खराब होती गई। इसी कारण से एक बार उनको गोगुंदा में रुकना पड़ा। यद्यपि वे बीमारी के कारण रुकी थी, पर वातावरण ऐसा बन गया कि वे विहार कर सकती है पर बीमारी के बहाने शिथिलता को बढ़ावा दे रही है। यह संवाद जब आचार्य भिक्षु ने सुनें तो प्रतिकार करना आवश्यक हो गया। साध्वी मैणांजी के प्रति आचार्य भिक्षु अत्यन्त विश्वस्त थे पर चन्द्रभाणजी की घटना से धारणा बदल गई थी, इसलिए संवाद पर विश्वास होना भी स्वाभाविक था। उन्हीं दिनों गोगुन्दा के श्रावकों ने पाली में आचार्य भिक्षु के दर्शन किए। उन्होंने साध्वी मैणांजी की आंखों के विषय में जानकारी चाही। कहते हैं उनमें से एक भाई ने अक्खड़ भाषा में कहा – आंखें तो ठीक ही है, उनका वहां से विहार करने का मन नहीं है। यद्यपि साध्वी मैणांजी ने इससे पहले आज्ञा की अवहेलना की हो ऐसा प्रसंग नहीं आया था। आचारनिष्ठा के प्रति भी वे सजग थी, पर श्रावक की बात सुनकर आचार्य भिक्षु ने संघीय हित की दृष्टि से अथवा गणविशुद्धिकरण की दृष्टि से एक्शन लिया और तत्काल साध्वी मैणाजी के नाम पत्र लिखा। वह पत्र क्या था – समूचे जीवन की कसौटी थी। साध्वियों के साथ पत्र भेजा। पत्र वि. सं. 1855 जेठ वदि 6 का लिखा हुआ है। साध्वियाँ पत्र लेकर ग्रामानुग्राम विहार करती हुई गोगुन्दा पहुंची। साध्वी मैणांजी गुरु के सुख–संवाद सुनकर प्रसन्न हुई। जब साध्वियों ने स्वामीजी के हाथ का लिखा पत्र दिया और कहा – आप इसे पढ़ो। साध्वी मैणांजी बोली – मेरी आंखों से पानी गिरता है, आंखें ठीक नहीं है, तभी तो दस महीनें से एक गांव में बैठी हूँ। अन्यथा मैं गुरुदर्शन से वंचित क्यों रहती? मैं पत्र पढ़ने में अक्षम हूँ कृपाकर तुम ही पढ़कर मुझे सुनाओ। पत्र में आचार्य भिक्षु ने जो जो विधिनिषेध लिखे उनको निष्कर्ष की भाषा में इस प्रकार जाना जा सकता है। मोटे रूप से चार निर्देश थे –

1. साध्वी मैणाजी पत्र पढ़ते ही वहां से विहार कर दें।
2. पत्र लेकर आने वाली साध्वी को आगीवाण का पद सौंप दे।
3. जब तक गुरुदर्शन न हो तब तक 6 विगय वर्जन करें, यहां तक कि रोटी भी चुपड़ी न लाएं।
4. रास्ते में श्रद्धा के क्षेत्र छोड़ती हुई गुरु दर्शन करने पहुंचे।

साध्वियों से पत्र सुनकर साध्वी मैणांजी ने बड़ी शालीनता का परिचय दिया। गुरु के प्रति उनके मन में, मस्तिष्क में अन्यथा भाव नहीं आया प्रत्युत गुरु को परम उपकारी मानते हुए स्वयं पर लगाए गए प्रतिबन्धों को सहज भाव से स्वीकार किया और पूर्ण सजगता के साथ अनुपालना की। जीवन की समतल धरती पर उगे कंटीले मार्ग को धैर्य और मनोबल से सहन करती रही। यथासमय स्वामीजी के दर्शन कर यथार्थ स्थिति से अवगत कराया। आचार्य भिक्षु के निर्देशों की आत्मार्थी भाव से अनुपालना कर, श्रद्धा विनय और भक्ति के साथ गण अनुरक्ति का परिचय देकर विश्वास प्राप्त किया।

साध्वी मैणांजी ने अत्यन्त विनम्रता, शालीनता तथा आत्मार्थिता का परिचय देकर संघ में सम्माननीय स्थान बनाया और प्रतिष्ठा प्राप्त की।

कुछ वृद्ध साध्वियों के कथनानुसार उनकी गुरुनिष्ठा, गणनिष्ठा, अनुशासननिष्ठा को देखकर आचार्यश्री भिक्षु ने उस समय ऐसा अनुग्रह बरसाया कि सात साध्वियों की बक्सीस की। पर शासनसमुद्र, आचार्य भिक्षु का धर्म परिवार आदि किसी भी ग्रन्थ में ऐसा उल्लेख नहीं है।

चतुर्थ आचार्यश्री जय ने उनकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए गणविशुद्धिकरण हाजरी संख्या – 14 में लिखा है – "मैणांजी साधपणो पालवा री दिष्ट तीखी राखी पिण मर्यादा लोपी नहीं।"

भूल करना अथवा गलती हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। छद्मस्थावस्था में स्वाभाविक है पर भूल को भूल समझकर उनका सुधार करने वाला व्यक्ति महान होता है। यही महनीयता साध्वी मैणांजी में थी। इसीलिए साध्वी मैणांजी का जीवन वृत्त प्रेरक और स्मरणीय है।

वि. सं. 1860 में साध्वी मैणांजी ने अनशनपूर्वक खेरवा में आराधक पद प्राप्त किया। ऐसा उल्लेख संतगुणमाला पण्डितमरण में तथा शासनविलास – दोनों में हैं।

मैणांजी संथारो खेरवै कीधो, साठा रै वर्ष सुजस लीधो।
भिक्षु गुरु पाया मतिवंती, समरो मन हरसै मोटी सती।।
संतगुणमाला पण्डितमरण ढाल. 2 गा. 3
पुर नां वासी छांडी प्रीतम, चरण लियो धर चित्त शांति।
सखर पढी, साठै संथारो, वारू मैणां लजवन्ती।।
शासन विलास ढा. 2 गा. 12

भिक्षु जसरसायण और शासनप्रभाकर में भी ऐसा ही उल्लेख है, कहीं भी तिथि नहीं लिखी है। पर आचार्य भिक्षु के स्वर्गवास के समय विद्यमान साध्वियों में उनका नाम नहीं है। इससे स्पष्ट है कि सं. 1860 भाद्रव शुक्ला 13 से पहले पहले साध्वी मैणांजी दिवंगत हो गई थी।

खेरवा में दिवंगत होने से लगता है कि उस वर्ष उनका चातुर्मास वहीं था। उनके साथ साध्वी बगतूजी झूमांजी और डाहीजी थीं, जो स्वामीजी के अनशन पर सिरियारी पहुंची थी।

3. साध्वी हीरांजी (पचपदरा) (28)

साध्वी हीरांजी पचपदरा निवासिनी थी और आचार्य भिक्षु के कर-कमलों से दीक्षा ग्रहण की। सं. 1844 फाल्गुण सुदी में साध्वी बगतूजी (बगड़ी) साध्वी हीरांजी (पचपदरा) और साध्वी नगाजी (बगड़ी) की एक साथ दीक्षा हुई। दीक्षा कौन-सा था, यह आज भी अज्ञात है, पर यह निश्चित है कि तीनों ने पति वियोग के बाद दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा के पश्चात् साध्वी हीरांजी को आचार्य भिक्षु ने साध्वी रंगूजी को सौंप दिया। उनके पास ज्ञानार्जन और साधुचर्या का प्रशिक्षण प्राप्त कर वे योग्य साध्वी बन गई। वे स्वभाव से भद्र और साधुत्व पालन में जागरूक थी। उनका व्यक्तित्व अतीव आकर्षक, तेजस्वी और गुणसम्पन्न था। श्रीमद् जयाचार्य ने उनको हीर कणी की उपमा देते हुए अनेक जगह लिखा है-

हीरां हीर कणी जिसी, सती शिरोमणि शोभती।

भि. ज. र. 52/ छप्पय 2

भारीमाल मुख आगलै रे लाल गुणमाल रे।
हीरा हीरकणी जिसी रे लाल संजम संवत चौमाल रे॥

साध्वी गुणवर्णन 46/1

उनकी गण एवं गणी के प्रति गहरी अनुरक्ति और हार्दिक भक्ति थी। आचार्य भिक्षु और भारीमालजी की सेवा का उन्हें अच्छा अवसर मिला। उन्होंने भी बड़ी तन्मयता और समर्पण भाव के साथ गुरु इंगित की आराधना कर आचार्य द्वय की अत्यधिक कृपा प्राप्त की। जयाचार्य ने विभिन्न सन्दर्भो में इस बात की पुष्टि की है। 'भारीमाल नी मुरजी अतिहि', 'भारीमाल ना नेत' भल कीरत भारीमाल भणी, गुरु भक्ता होइ घणी आदि वाक्य इसी बात की ओर संकेत करते हैं।

आचार्य भिक्षु ने सभी दृष्टि से योग्य समझकर उन्हें अग्रणी पद पर नियुक्त कर दिया। उन्होंने अनेक क्षेत्रों में विहरण कर अच्छा उपकार किया और तेरापंथ के विस्तार में अपना योगदान दिया।

साध्वी हस्तूजी, कस्तूजी दोनों बहिनों को साध्वी हीरांजी ने पीपाड़ में दीक्षा दी। ये दोनों उस समय दीपती दीक्षा मानी गईं। दोनों ने पुत्र पति और समृद्धि छोड़कर दीक्षा

ग्रहण की।

हेमराजजी ने आचार्य भिक्षु से सं. 1853 के शेष काल में शीलव्रत ग्रहण किया। उनका विचार दीक्षा लेने का था। उन्होंने आचार्य भिक्षु से सिरियारी पधारने की अर्ज की। तब उन्हें प्रतिक्रमण सिखाने के लिए साध्वी हीरांजी को भेजा।

साध्वी चत्रूजी उस समय की श्रुतसम्पन्न और प्रभावशाली साध्वी थीं। उनके निर्माण का श्रेय भी साध्वी हीरांजी को था। साध्वी चत्रूजी ने 30 आगम का अध्ययन किया तथा व्याख्यान कला में कुशलता हासिल की।

साध्वी नगांजी को संथारे में साध्वी हीरांजी ने जो आध्यात्मिक सहयोग दिया, उल्लेखनीय है। साध्वी नगांजी उन्हीं के साथ दीक्षित थी, मुनि वेणीरामजी की छोटी बहिन थी। वे स्वभाव से सरल, हृदय से कोमल और विचारों से निर्मल थी। वे अपनी व्यवहार कुशलता और कर्म निर्जरा की भावना से हर एक व्यक्ति को समाधि देने का प्रयत्न करतीं। उनमें ये सारी नैसर्गिक विशेषताएं थीं जो छोटे-बड़े सभी को प्रभावित करती थीं। आचार्य श्री भारीमालजी ने उनकी इन्हीं विशेषताओं के कारण उन्हें 'सतजुगी' सम्बोधन से सम्बोधित किया। आचार्यों द्वारा किसी साध्वी को इतना गरिमा पूर्ण संबोधन प्राप्त होना वास्तव में साध्वी समाज के लिए यह अत्यधिक गौरव की बात है।

जयाचार्य ने साध्वी नगांजी के विषय में नगां सती गुण वर्णन ढाल में लिखा है -

सतजुगी सुहामणो निरमल एहवो नाम।
पूज दीयो परगटणै जिसा हिज रह्या परिणाम॥

आचार्य श्री भारीमालजी अस्वस्थ अवस्था में जयपुर में प्रवास कर रहे थे। उस समय साध्वी हीरांजी को सेवा का अवसर मिला। उनके साथ एक अजबूजी नाम की साध्वी थी। साध्वी हीरांजी की प्रेरणा से उन्होंने अपने संसारपक्षीय भतीजे स्वरूप चंदजी भीमजी को दीक्षा के लिए तैयार किया। मुनि स्वरूपचंदजी, भीमराजजी और जयाचार्य - इस बन्धु त्रिपुटी से संघ को जो ऊँचाई और गहराई मिली, वह गण की दीर्घजीविता का आधार हैं।

आचार्य भिक्षु से लेकर आचार्य रायचंदजी के युग तक साध्वियों की सम्पूर्ण व्यवस्था और योगक्षेम के जिम्मेदार स्वयं आचार्य ही रहे। उस समय-साध्वी प्रमुखा' की नियुक्ति की प्रणाली नहीं थी। आचार्यश्री भारमलजी के युग में साध्वी हीरांजी का बिना पद

के कर्तृत्व उभरकर सामने आया। उन्होंने अपनी कार्यजा क्षमता से संघीय सेवा की और आचार्यों का विश्वास जीता।

साध्वी हीरांजी ने लगभग 34 वर्ष तक संयम की आराधना की। अन्त में उच्च भावों से अनशन स्वीकार कर चेलावास में आराधक पद प्राप्त किया। उनका स्वर्गवास आचार्यश्री भारमलजी के देहावसान से 21 दिन पूर्व हुआ। यद्यपि कुछ गीतों में सतरह दिन पूर्व का भी संकेत किया गया है पर 21 दिन पहले अधिक संगत लगता है।

पचपदरा के श्रावक किसनोजी तातेड़ द्वारा संकलित पचपदरा के साधु-साध्वियों की तालिका में भी 21 दिन पूर्व 1878 पोष शुक्ला 2 लिखा है, जो उचित प्रतीत होता है।

4. साध्वी नगांजी (बगड़ी) (29)

साध्वी श्री नगाजी बगडी की वास्तव्या थी। वे तेरापंथ धर्मसंघ के यशस्वी संत मुनिश्री वेणीरामजी की सगी बहिन थी। दोनों–भाई बहिन की दीक्षा सं. 1844 में हुई पर पहले कौन दीक्षित हुआ, यह अज्ञात है। साध्वी नगांजी ने पति वियोग के पश्चात दीक्षा ग्रहण की और तीन बहिनों – साध्वी बगूतजी, साध्वी हीरांजी और साध्वी नगांजी को आचार्य भिक्षु ने एक साथ दीक्षित किया ऐसा उल्लेख भिक्षु जसरसायण तथा शासन विलास में है।

बगतूजी बगडी रा वासी, हद हीरांजी हीरकणी।
भारीमालजी मुरजी अतिही, नाम नगांजी कीर्ति घणी।।
ए त्रिहुं साथे चरण स्वाम–कर सतिय रंगूजी नै सूंपी।
बगतूजी अणसण कंटाल्यै, सती भद्र समरस कूंपी।।
सती नगां सुरगढ संथारो, ए वेणीरामजी री भगिनी।
भिक्षु पाछै ए त्रिहु अज्जा, परभव पहुंती शुभ लगिनी।।

शासन विलास ढा. 2 गा. 20,21,22

साध्वी नगांजी के साधारण व्यक्तित्त्व में कुछ ऐसी असाधारण विशेषताएं थीं जो प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करती थी। वे आचारकुशल, सरल स्वभावी, विचारों से निर्मल और सेवाभावी थी। आस–पास रहने वाली छोटी–बड़ी सभी साध्वियों को साता पहुंचाने वाली थी। अपने मधुर–व्यवहार, सेवाभाव तथा निर्जरा की मनोवृत्ति से उन्होंने सब का मन जीत लिया। आचार्यश्री भारीमालजी के मन पर उनकी विविध विशेषताओं का सहज प्रभाव था। उनकी गणनिष्ठा और गुरुभक्ति भी बेजोड़ थी। उनकी मौलिक और गणहितबंछक प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर आचार्यश्री भारीमालजी ने उनको 'सतजुगी' सम्बोधन से सम्बोधित किया।

जिस प्रकार आचार्य भिक्षु ने मुनिश्री खेतसीजी की दुर्लभ विशेषताओं को देखकर उन्हें 'सतजुगी' नाम से पुकारा, ठीक उसी प्रकार आचार्यश्री भारीमालजी ने साध्वी नगांजी को सतजुगी कहकर इतिहास को और आगे बढा दिया। साध्वी नगांजी के सम्बन्ध में रचित गीत में लिखा है –

सतजुगी नाम सुहामणो, निरमल एहवो नाम।
पूज दीयो परगटपणै, जैसाहिज रह्या परिणाम।।
कोमल सरल स्वभाव सूं, गमती घणी गण मांय।
साताकारी सतियां भणी, साधां नै सुखदाय।। कीति गाथा पृ. 477

जीवन की सफलता के अनेक घटक तत्त्व होते हैं। उसमें एक महत्त्वपूर्ण बात है – अपने स्वभाव, कार्य और भावना से सबको सहयोग देना। ऐसा वही व्यक्ति कर सकता है जिसकी आत्म चेतना के साथ परार्थ चेतना जागृत होती है। आचार्य से लेकर समूचे संघ में लोकप्रिय होना, सबके लिए साताकारी होना, उनकी असाधारण विशेषता को प्रगट करता है।

वि. स. 1866 में साध्वी हीरांजी का चातुर्मास देवगढ में था। साध्वी नगांजी उनकी सहगामी साध्वी थी। कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष में उन्होंने साध्वी हीरांजी के सामने अपनी भावना प्रस्तुत करते हुए कहा – "मैं अब संलेखना करना चाहती हूँ आप मुझे अनुमति दें।"

जैनदर्शन में संलेखना साधनामय जीवनशैली का एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव रहा है। जब साधक के मन में साधना की उत्कट अभिलाषा होती है तब वह अपनी शारीरिक क्षमता के अनुसार तप साधना के द्वारा अपनी काया को साधने का प्रयत्न करता है।

अग्रगामी साध्वी हीरांजी सहित सभी सहगामी साध्वियों ने उन्हें समझाने का प्रयत्न किया। वे स्वस्थ थी, शक्तिसम्पन्न थी तथा हर काम करने में सक्षम थी, इसलिए उनका कहना था कि अभी संलेखना का समय नहीं आया है।

उनके संसारपक्षीय भाई मुनिश्री वेणीरामजी जिनका चातुर्मास देवगढ के आसपास था, वे उनको दर्शन देने देवगढ आए और साध्वी नगांजी को कुछ समय इंतजार करने के लिए कहा तथा जब तक आचार्यश्री भारीमालजी स्वामी न पधारे तब तक संलेखना न करने की सलाह दी। पर साध्वी नगांजी अपने विचारों पर अडिग रही और कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी से संलेखना प्रारंभ कर दी।

उस वर्ष (1866) आचार्यश्री भारीमालजी का चातुर्मास आमेट में था। चातुर्मास सम्पन्न होने के पश्चात साध्वीजी को दर्शन देने आचार्य श्री स्वयं देवगढ़ पधारे तथा साथ में मुनि श्री वेणीरामजी भी थे। उस समय भी सभी ने उनको समझाया कि तुम विहार अच्छी तरह कर सकती हो, स्वास्थ्य भी अनुकूल है, इसलिए सकुशल संयम की साधना करो। संलेखना के लिए शीघ्रता मत करो।

गुरु के कथन को बहुमान देते हुए साध्वीजी ने दो दिन लगातार आहार किया और तीसरे दिन से पुनः संलेखना में संपृक्त बन गई। संलेखना काल में उन्होंने इस प्रकार तप किया।

उपवास	–	3	चोला	–	6
बेला	–	9	छह	–	1
तेला	–	19	आठ	–	1

वे तपस्या का पारणा जब करती, उस दिन भी अल्प आहार करती तथा उणोदरी अधिक से अधिक कर सके ऐसा लक्ष्य रखती। संलेखना करते–करते साढे पांच महीने का समय व्यतीत हो गया। वैशाख शुक्ला 4 के दिन उनके तेले की तपस्या प्रारंभ की। दूसरे दिन यानी बेले की तपस्या में अचानक उनकी भावधारा ऊर्ध्वगामी बनी और अरिहंत देव की साक्षी से अपने आप अनशन पचख लिया। और तत्काल सभी साध्वियों को बता दिया। साध्वी हीरांजी ने उनको समझाते हुए कहा – अभी अनशन की उतावल मत करो, यही बात तुम्हें वेणीरामजी स्वामी ने कही थी। साध्वीजी ने जोशीले शब्दों में कहा – आप निश्चिंत रहें यदि दो मास का संथारा आए तो भी डर या चिंता की बात नहीं। आप सब खुशी–खुशी मुझे आज्ञा दे दें जिससे मेरे मन में अधिक प्रसन्नता हो जाए। मेरा मनोबल खूब मजबूत है आप तनिक भी सन्देह की भाषा में न सोचे, न चिन्तन करें।

बैसाख शुक्ला दशमी का दिन तपस्या का सातवां दिन था। उस दिन मुनि वेणीरामजी भी वहीं विराजमान थे। चार तीर्थ की उपस्थिति में दृढ़ संकल्पी साध्वी नगांजी को साध्वी हीरांजी ने आजीवन अनशन करा दिया। अनशन में उनकी भावधारा उत्तरोत्तर उज्ज्वल बनती रही और पौरूष भी अनवरत प्रखर बना रहा। मुनिश्री वेणीरामजी का हमेशा व्याख्यान सुनती। गांव–गांव से दर्शनार्थ आने वाले लोगों को धर्मोपदेश देती। साध्वियां उत्तराध्ययन सूत्र सुनाती तो बड़े मनोयोग से श्रवण करती। जिस दिन उत्तराध्ययन का स्वाध्याय सम्पन्न हुआ उसी दिन वे स्वर्गस्थ हो गईं। इस प्रकार परम समाधि का अनुभव करती हुई अनशन का आनन्द लेती रही। बैशाख शुक्ला 13 वृहस्पतिवार के दिन जब लगभग एक प्रहर दिन शेष था, उनका संथारा सानन्द सम्पन्न हो गया। स्वयं के द्वारा किया गया 6 दिन का और साध्वी हीरांजी से कृत अनशन के चार दिन हुए। इस प्रकार कुल दस दिन का संथारा आया।

उन्होंने संथारा से पूर्व 124 दिन संलेखना तप किया। वि. सं. 1866 कार्तिक शुक्ला 14 से संलेखना प्रारंभ की तथा बैसाख शुक्ला 13 को अनशन सम्पन्न हुआ। सारा समय छह महीने में एक दिन कम रहा। उसमें भी 2 दिन तिथि घटने से कम हो गए। सारा समय 177 दिन का रहा। उसमें 43 दिन उन्होंने आहार किया और

124 दिन संलेखना तप के तथा दस दिन अनशन के हुए यानी 134 दिन तपस्या के हुए। उन्होंने लगभग 22 वर्ष संयम जीवन जिया।

साध्वी नगांजी का अनशन प्रभावशाली और धर्मसंघ की प्रभावना बढ़ाने वाला रहा। कहा जाता है कि उनके संथारे के कालखण्ड में फौजों के उपद्रव कई बार हुए। ग्रामवासियों के मन में फोजों के आने की सूचना ही दुश्चिंता बढाने वाली थी, पर तप के अचिन्त्य प्रभाव से वे सब उपद्रव अपने आप शान्त हो गए और किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं हुआ।

अनशन के समय उनका मनोबल बहुत ऊंचा रहा। यह एक गीत से स्पष्ट होता है। उनके सम्बन्ध में वि. सं. 1866 में रचित एक गीत उपलब्ध है। जिसमें 5 दोहे और 32 गाथाएं हैं पर रचनाकार का नाम उसमें नहीं है। गीतकार की रचना शब्द संरचना की दृष्टि से उत्कृष्ट है और वीर रस की प्रस्तुति देने वाली है।

5. साध्वी अजबूजी (रोयट) (30)

साध्वी अजबूजी तेरापंथ संघ के क्रान्तिकारी महान् आचार्य जीतमलजी तथा मुनि स्वरूपजी व भीमराजजी की संसारपक्षीय भुआ थी। वे रोयट निवासी आईदानजी गोलछा की बहिन थी। उनका ससुराल भी रोयट में था।

सं. 1844 में आचार्य भिक्षु रोयट पधारे। उस समय वहां गोलेछा परिवार तथा अन्य कई परिवार आचार्य भिक्षु से प्रभावित हुए। उसी प्रवासकाल में अजूबजी के मन में वैराग्य की जागरणा हुई। उन्होंने आचार्य भिक्षु के चरणों में अपनी भावना व्यक्त की। स्वामीजी ने उत्कट मुमुक्षु भाव देख उसी वर्ष उन्हें अपने कर-कमलों से दीक्षित किया। उनकी दीक्षा 1844 के फाल्गुन सुदी 5 और आषाढ़ सुदी 15 के मध्य हुई है, ऐसी संभावना की जा सकती है। क्योंकि भिक्खू जस रसायण में जयाचार्य ने लिखा है -

सरूप भीम ऋख जीत नी, अजबू भुआ सुजोग।
चौमालै धार्यो चरण, अठ्यासीय परलोग॥

साध्वी अजबूजी की दीक्षा गोलेछा परिवार की धर्मजागरणा में एक महत्त्वपूर्ण कारण बनी। साध्वी अजबूजी अपने लक्ष्य पर केन्द्रित होकर साधुचर्या का जागरूकता से पालन करने लगी। वे पापभीरू, साहसिक तथा तपस्या में रूचि रखने वाली साध्वी थी। अपनी विनम्रता से उन्होंने संघ में सुयश और शोभा प्राप्त की। कुछ वर्षों के ज्ञानाभ्यास के पश्चात् उन्होंने पढ़ी-लिखी अध्ययनशील साध्वी के रूप में अपनी पहचान बना ली। सभी तरह से योग्य समझकर आचार्य भिक्षु ने उनको अग्रगामी बना दिया। जयाचार्य के शब्दों में -

अजबू पढ़ परपक थया, स्वाम भीखणजी सार।
अज्जा सूंपी नै कियो, सिंघाडो सुखकार॥

जिस प्रकार साध्वी बरजूजी ऋषिरायजी की दीक्षा में प्रेरक बनी, उसी तरह श्रीमज्जयाचार्य की दीक्षा-भावना में अजबूजी योगभूत बनी, यह तेरापंथ साध्वी समाज के लिए गौरव का विषय है।

सं. 1862 या 63 का वर्ष था। साध्वी अजबूजी अपनी मातृभूमि रोयट में पधारीं। गांव के अनेक भाई-बहिन व्याख्यान और साध्वियों के सान्निध्य का अच्छा लाभ लेते पर उन्होंने देखा कि उनकी संसार पक्षीया भोजाई (भाभी) आईदानजी की पत्नी बहुत कम

आती है। एक दिन अवसर देखकर उन्होंने कल्लूजी से कम आने का कारण पूछा। उन्होंने कहा- मेरा सबसे छोटा पुत्र जीतू इन दिनों अस्वस्थ है, जिससे उसके गले से धान भी नहीं उतरता अर्थात् वह कुछ खा-पी नहीं सकता। यहां तक कि उसके जीवित रहने की आशा भी कम है, मन बेचैन रहता है और चित्त में चिन्ता रहती है इसलिए मैं आपकी सेवा का, व्याख्यान का लाभ नहीं ले पा रही हूँ।

साध्वी अजबूजी ने कहा- तुम एक संकल्प करो, यदि जीतू स्वस्थ हो जाए और उसकी भावना साधु बनने की हो तो मना करने का त्याग कर लो। कल्लूजी ने तत्काल त्याग कर लिया। संकल्प शक्ति का अचूक प्रभाव हुआ। कुछ समय में ही जीतमल की बीमारी मिट गई और वह धान खाने लगा। बालक जीतू की स्वस्थता देख सभी कहने लगे- यह तो सन्तों के भाग्य से जीवित बचा है।

आईदानजी के स्वर्गवास के पश्चात् कल्लूजी अपने तीनों पुत्रों के साथ किशनगढ़ में रहने लगी। वहां उन्हें मुनि श्री हेमराजजी के सान्निध्य का शुभ योग मिला और धार्मिक भावना निरन्तर वर्धमान होती गई। विक्रम संवत 1869 में द्वितीयाचार्य भारीमालजी स्वामी का अस्वस्थता के कारण जयपुर में विराजना हुआ। उस समय साध्वी अजबूजी भी वहीं थी। उन्होंने जीतमल की दीक्षा भावना दृढ़ देखकर अपने बड़े भतीजे स्वरूपचंदजी को दीक्षा की प्रेरणा दी। उनका पुरुषार्थ फलवान बना और तीनों भतीजों के साथ भाभी कल्लूजी ने जयपुर में ही दीक्षा ली। आचार्य भारीमालजी ने साध्वी कल्लूजी को साध्वी अजबूजी को सौंप दिया। साध्वी कल्लूजी जीवन भर साध्वी अजबूजी के साथ रहीं। अन्त में संलेखना संथारे में उन्हें अच्छा सहयोग दिया।

उन्होंने सं. 1872 में साध्वी अमियांजी को दीक्षित किया। साध्वी अमियांजी बालोतरा जसोल के तरफ की थी।

उनके हाथों से दूसरी दीक्षा साध्वी कूंकूजी की हुई सं. 1852 चैत्र शुक्ला दसम को। साध्वी कूंकूजी आहेड़ गांव की थी और दीक्षा उदयपुर में हुई।

साध्वी अजबूजी ने अग्रगामी बनने के पश्चात् कई क्षेत्रों में विहरण किया और संघ का विस्तार और प्रचार किया। ख्यात के अनुसार उन्होंने उज्जैन क्षेत्र निकाला और वहां बहुत उपकार किया। 1959 में उनका चातुर्मास उज्जैन था। चातुर्मास सम्पन्न कर उन्होंने राजनगर में आचार्य श्री भारमलजी के दर्शन किए एवं वहां से लाया कपड़ा और

कागजों का बंडल (फिरंगी पाठा) भेंट किया।

यद्यपि मुनिश्री वैणीरामजी ने सर्वप्रथम 1870 में मालव प्रान्त निकाला अर्थात् वहां तेरापंथ की श्रद्धा का बीजारोपण किया। उन्होंने चातुर्मास उज्जैन में किया। फिर साध्वी अजबूजी की ख्यात में ऐसा क्यों लिखा कि अजबूजी ने उज्जैन क्षेत्र निकाला। यह एक प्रश्न उपस्थित होता है।

संभावना की जा सकती है कि आठ वर्ष की अवधि में बिना संभाले, बिना धर्म प्रेरणा के लोग निरपेक्ष से हो गए होंगे। उन्हें पुनः प्रेरणा देकर हरा भरा किया होगा तथा नए तेरापंथी भी बनाए होंगे।

सं.1888 में साध्वी अजबूजी ने अनशन पूर्वक समाधि मरण प्राप्त किया।

6. साध्वी रूपांजी (रावलिया) (37)

तेरापंथ धर्मसंघ की सिद्ध श्री चुनौतियों की स्याही से लिखी गई। पता नहीं वह स्याही किन रसायनों से बनाई गई थी। लगभग एक शताब्दी तक वह स्याही सूखी या नहीं, शोध का विषय है। तेरापंथ धर्मसंघ में प्रवेश करने वाले सदस्यों ने भी चुनौतियों की आग में तपकर पहले परीक्षा दी और अपने संकल्प को सौटंच सोने के रूप में प्रस्तुत कर सफलता प्राप्त की। ऐसे ही स्वर्णिम व्यक्ति त्वों में एक नाम है- साध्वी रूपांजी (रावलिया)

तेरापंथ धर्मसंघ के तीसरे आचार्य रायचन्दजी की मौसी, सतयुगी खेतसीजी की सहोदरी रूपा जी नाथद्वारा के भोपाशाह सोलंकी की पुत्री थी। उनकी माता का नाम हारूजी था। भोपाशाह नाथद्वारा के प्रमुख व्यक्तियों में से एक थे। उनके चार संतानें थी। दो पुत्र- हेमराज जी और खेतसीजी और दो पुत्रियां- खुशालांजी एवं रूपांजी थी। दोनों पुत्रियों की शादी रावलिया में की गई। रावलिया में तेरापंथ की नींव जमाने में भगिनीद्वय का विशेष योगदान रहा। उससे पहले तेरापंथ धर्मसंघ का प्रचार-प्रसार वहां नहीं हुआ। रूपांजी के बड़े भाई खेतसीजी का रावलिया आना-जाना होता रहता। वे वहां आचार्य भिक्षु के सम्बन्ध में चर्चा वार्ता करते और उनके सिद्धान्तों को समझाते। खेतसीजी की सूझबूझ और परिश्रम से उनके बहन-बहनोई तथा अन्य कई लोग तेरापंथी बने।

खेतसी चरित्र में लिखा है -

बहन बहनोई बहुथया प्रिय दृढधर्मीपेख।
धर्मवृद्धि रावलिया में धुर थकी वपराई सुविशेख। सतजुगी चरित्र ढा1 गा.10

भिक्षुजस रसायण में जयाचार्य ने इसी बात की पुष्टि निम्न शब्दों में की है -

बहिन दो रावलियां व्याही, जाय तिहां किण बार।
बैन बनोई न्यातिला नै समझावै सुखकार॥

रूपांजी को तेरापंथ के संस्कार पिता के घर में गहरे मिले और खेतसीजी की दीक्षा के बाद और गहरे हो गए। जब उनकी अवस्था पन्द्रह साल की थी, उस समय वे एक पुत्र की मां भी बन चुकी थी। ऐसी 'जनश्रुति' है कि एक बार स्वप्न में उन्हें स्वामीजी के दर्शन हुए। उन्होंने देखा, स्वामीजी कह रहे हैं- "रूपां! इस इष्ट संयोग में इतना लुब्ध हो जाना ठीक नहीं है। संयोग वियोग जीव के लगे रहते हैं। एक साल के बाद

तेरा बच्चा रहने वाला नहीं है। इसका आयुष्य उतना ही है। चेत, रूपा! चेत।''

ज्योंही नींद टूटी, चिंतन की शृंखला अविरल चालू हो गई। स्वप्न क्यों आया? क्या यही होने वाला है? मुझे क्या करना चाहिए? बस, इसी चिंतन ने रूपांजी के मन को वैराग्य के रंग में रंग दिया। वे दीक्षा को तैयार हुई पर समस्या थी ससुराल पक्ष की। वे तेरापंथी नहीं थे। फिर भी साहस कर उन्होंने अपनी मानसिकता स्पष्ट रूप से रखी और दीक्षा की आज्ञा मांगी। उसके साथ-साथ वैराग्य का कारण बताते हुए उन्होंने तेरापंथ में दीक्षित होने का संकल्प व्यक्त किया।

घर वालों को उनकी विरक्ति पर कोई आपत्ति नहीं थी। वे दीक्षा की स्वीकृति देने को भी तत्पर थे पर वे चाहते थे या यह कहा जाए कि उनका आग्रह था कि दीक्षा हमारे संस्कारानुकूल सम्प्रदाय में लें। रूपांजी आचार्य भिक्षु के पास दीक्षित होना चाहती थीं। बस इसी चाह और अनचाह ने घर में एक महाभारत खड़ा कर दिया। उस परिवार में रूपांजी की भावना को बल देने वाला एक भी सदस्य नहीं था। आचार्य भिक्षु द्वारा प्ररूपित सिद्धान्त, मर्यादा और व्यवस्था के आधार पर उनकी श्रद्धा स्थिर हो गई। आस्था ही सफलता का पहला और अंतिम बिन्दु होता है, इसलिए उन्होंने पुनः पुनः कहा- मेरा दृढ़ निश्चय है कि मैं दीक्षा तेरापंथ में ही लूंगी।

दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण था- उनके अग्रज मुनिश्री खेतसीजी स्वामी तेरापंथ में दीक्षित थे। वे आचार्य भिक्षु के कृपापात्र होने के साथ सर्वप्रिय व्यक्तित्व के धनी थे। उनके सहज गुणों के कारण आचार्य भिक्षु उन्हें 'सतजुगी' नाम से सम्बोधित करते थे। इसलिए भी रूपांजी का तेरापंथ में दीक्षित होने का आकर्षण था।

मानसिक तनातनी की स्थिति को नया मोड़ उस समय मिला जब उनके ससुराल वालों ने रावलिया के रावले में जाकर यह सूचना दी कि रूपांजी भीखणजी के पीछे भाग जाने वाली है, अतः सुरक्षा की व्यवस्था की जाए। यद्यपि उस समय आचार्य भिक्षु रावलिया के आस-पास भी नहीं थे पर.....।

रावले से रूपांजी को वहां आने का निमंत्रण मिला। वे सहज भाव से चली गईं। उनका मन दांवपेंच का अन्दाज ही नहीं लगा पाया किन्तु रावले में किसी ने कुछ नहीं कहा। उनके पहुंचते ही पूर्व नियोजित योजना के अनुसार रूपांजी को खोड़े में बांध दिया गया। खोड़ा उस समय का एक लकड़ी का उपकरण था। उसमें पैर फंसाकर ताला लगा

दिया जाता था। उसमें बन्दी व्यक्ति स्वेच्छा से इधर-उधर कहीं भी नहीं घूम सकता था।

रूपांजी के साथ अकारण किया गया यह व्यवहार उन्हें अन्तस तक बींध गया। उन्होंने तत्काल इष्ट का स्मरण कर तपस्या प्रारंभ कर दी। एक तान, एक लय और एकमना होकर जप में तल्लीन हो गईं। कहते हैं कि बीस दिनों के उपवास के बाद इक्कीसवें दिन प्रातः वे सहज समता भाव से भिक्खु स्वाम, भिक्खु स्वाम की धुन में लीन थी। अचानक एक आवाज हुई और खोड़ा टूटकर अलग जा गिरा। बाहर खड़े पहरेदार दौड़कर आए तथा खोड़े को टूटा देख आश्चर्यचकित रह गए। अभी रूपांजी ध्यान मुद्रा में आंखें मूंदे 'भिक्खु स्वाम' रट ही रही थी कि विचित्र घटना को देखकर आरक्षकों ने अधिकारियों को सूचित किया। ठाकुर आए, गांव के पंच आए और घर के अगुवा व्यक्ति भी पहुंच गए। सब अवाक् हो आश्चर्यभरी नजरों से उस दृश्य को चमत्कार मानकर नमस्कार करने लगे। कुछ ही समय में यह संवाद पूरे गांव में फैल गयाऔर समूचा गांव वहीं एकत्रित हो गया। चारों ओर मुख-मुख पर सती के सत की चर्चा हो रही थी। कोई उनके चरण स्पर्श करने के लिए आगे बढ़ रहा था तो कोई गुणगान कर कृतार्थता का अनुभव कर रहा था।

रावलिया के ठाकुर ने उसी समय एक घुड़सवार को गोगुन्दा भेजा। समाचार मिलते ही गोगुन्दा राव रावलिया पहुंचे। सारी स्थिति का निरीक्षण कर उन्होंने एक प्यादे को उदयपुर राणा के पास भेजकर पूरे घटनाक्रम की अवगति दी तथा आगे क्या निर्णय लिया जाए, जानकारी चाही।

गोगुन्दा रावजी रूपांजी को देखते ही श्रद्धा से अभिभूत हो गए। उन्होंने गांव के पंचों और घर वालों को उपालम्भ दिया और अपनी ओर से ओढ़णा उढ़ाकर बहन का सम्मान देकर विजय के ढ़ोल बजाते हुए रूपांजी को घर पहुंचाया। उसी समय रावजी ने घर वालों से दीक्षा का आज्ञा पत्र लिखवाया। स्वयं ने साक्षी के रूप में हस्ताक्षर कर रूपांजी का रास्ता प्रशस्त कर दिया। रावजी ने आग्रह के साथ अपने हाथ से बीस दिन की तपस्या का पारणा कराया।

उदयपुर महाराणा भीमसिंह ने सारी स्थिति की जानकारी कर उत्तर में पत्र लिखा। वह अविकल रूप से यहां प्रस्तुत किया जा रहा है -

श्री एकलिंगजी

श्रीनाथजी
वाणनाथजी

वेगा स्यूं वेगा जिण जायगा अणी सती रो मन हुवै साधपणो लेवा दो। असी सती री दीख्या में बैधो घालणों नहीं। अपरंच महाराणा भीमसिंह री तरफ थी सती माता ने केहवा में आवै कै म्हारै नांव री एक माला बत्ती फेरसी। जिण थी मेवाड़ री प्रजा में सुख चैन रेसी। वत्ती कांई लकूं।

जयाचार्य ने इस पूरे घटनाक्रम को खेतसी चरित्र में इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है –

दीक्षा लेतां आज्ञा दोहरी आई, न्यातीला घाल्या खोड़ां माही

आसरै दिन इक्कीस तांई॥

खोड़ो टूट्यो पुण्य प्रमाणो जग जश विस्तरियो आणो
करै गुण उदयापुर महाराणो। सतजुगी चरित्र

ससुराल के अभिभावक तथा पति से आज्ञा प्राप्त होने के पश्चात् लगभग डेढ़ साल के पुत्र का मोह त्याग कर रूपांजी ने पन्द्रह वर्ष की अवस्था में रावलियां में स्वामीजी के हाथ से सं. 1848 में संयम ग्रहण किया।

मुनिश्री सागरमलजी के अनुसार साध्वी रूपांजी की दीक्षा जयपुर के आसपास हुई है, ऐसी संभावना है, क्योंकि आचार्य भिक्षु उन दिनों उधर ही विहरण कर रहे थे।

साध्वी रूपांजी का केशलोच साध्वी रंगूजी (नाथद्वारा) ने किया। वे कुछ वर्ष साध्वी रंगूजी के साथ रहीं। उसके बाद साध्वी हीरांजी (पदपदरा) के साथ रहकर उन्होंने अपना विकास किया। अध्ययन के साथ-साथ तपस्या भी बहुत की, ऐसा जयाचार्य द्वारा लिखित –

'कर्म काटण तपस्या बहुली करी'

पद्य से प्रतीत होता है उन्होंने तपस्या बहुत की, पर उनकी तपस्या का विवरण कहीं नहीं मिल रहा है।

दीक्षा के सन्दर्भ में एक विमर्श :-

जयाचार्य ने भिक्षु जस रसायण ग्रन्थ में साध्वी रूपांजी की दीक्षा 1852 में हुई,

ऐसा लिखा है -

संजम बावनै सधीको, सत्तावने संथारो नीको।
खुशालांजी की लघु बहिन कहियै, रूपांजी जग जस लहियै॥
भि.ज.र.ढा. 52 गा.5

ख्यात में भी यही पुष्टि होती है। लेकिन 52 में दीक्षित होना मान लिया जाए तो एक बड़ी समस्या सामने आती है। स्वयं जयाचार्य ने उनकी दीक्षा पर्याय नौ वर्ष मानी है। शासन विलास का निम्न पद्य भी चिन्तन मांगता है-

नव वर्ष आसरै पाली संजम भार, सत्तावन सालै कियौ सखर संथार
- शासन प्रभाकर

इससे स्पष्ट है कि साध्वी रूपांजी की दीक्षा शासन-प्रभाकर 48 में होने से ही 57 में दीक्षा पर्याय नौ वर्ष की होती है अन्यथा 52 में दीक्षा होने से सत्तावन में 5 या 6 साल ही होता है। नौ वर्ष संयम पर्याय की दृष्टि से उचित यही लगता है कि हम उनकी दीक्षा संवत् 1848 मान्य करें।

उक्त प्रमाणों के अतिरिक्त एक प्रमाण और उपलब्ध होता है। सं. 1867 चैत्र शुक्ला सातम के दिन आउवा गांव में कुशाल सती गुण वर्णन ढ़ाल की रचना की। उसकी प्रथम ढाल की 39वीं गाथा में नौ वर्ष चरित्र पालन का उल्लेख किया है -

बड़ी बहिन कुशालांजी शोभता, लघु बहिन रूपांजी धारो।
चारित्र पाल्यो नव वर्षां लगे, सिरियारी मांय संथारो॥ कीर्ति गाथा पृ485

उक्त प्रमाण से अधिक पुष्ट हो जाता है कि उनकी दीक्षा 1848 में ही हुई है। साध्वी विवरणिका तथा सेठिया संग्रह भी इसी निष्कर्ष से सम्मत है।

घटना विक्रम संवत् 1855 की है। आचार्य भिक्षु पाली में प्रवास कर रहे थे। चातुर्मास का समय था। एक दिन मुनि खेतसीजी अस्वस्थ हो गए। रात्रि के समय वे बेहोश होकर गिर पड़े। थोड़ी देर बाद जब उन्हें होश आया तो वे बोले- स्वामीजी! आप रूपांजी को अच्छी तरह पढ़ाना.....। आचार्य भिक्षु ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा-तू रूपांजी की चिन्ता छोड़.....।

उन्हें आचार्य भिक्षु के उपपात में रहने का सौभाग्य मिला। चारित्र की निर्मल आराधना के साथ-साथ ज्ञानोपासना में वे प्रगति कर ही रही थीं कि वि.सं. 1857 में सिरियारी में उनका स्वर्गवास हो गया। उस समय उनकी अवस्था मात्र 24 वर्ष की थी।

7. साध्वी बरजूजी बड़ी पादू (39)

साध्वी बरजूजी बड़ी पादू (मारवाड़) की वासिनी थी। पति वियोग के पश्चात् उन्होंने आचार्य भिक्षु के कर कमलों से बड़ी पादू में स.1852 में दीक्षा ग्रहण की। उनके साथ साध्वी बींजाजी और वन्नाजी की दीक्षा हुई। ऋषिराय चरित्र में जयाचार्य ने लिखा है –

त्यां तीन जण्या संयम लियो, इक दिन भिक्खू पास।
बरजू, बींजा, वना सती, वरस बावनै तास॥ – ऋ रा.सु.ढा.–2 दो–2

दीक्षित होते ही आचार्य भिक्षु ने तीनों साध्वियों को साध्वी मैणांजी को सौंपा। साध्वी मैणांजी के पास साध्वी बरजूजी ने विद्याभ्यास कर सिद्धान्तों की अच्छी धारणा की। उनकी आचारकुशलता, सुविनीतता और प्रखर प्रतिभा ने आचार्य भिक्षु को प्रभावित किया। आचार्य भिक्षु की कृपा दृष्टि उन्हें सदा उपलब्ध हुई। संयम स्वीकार किए तीन वर्ष ही हुए थे कि स्वामीजी ने उनका सिंघाड़ा (अग्रणी) कर दिया। आचार्य भिक्षु की कृपा और साध्वी बरजूजी के व्यक्तित्व को जयाचार्य ने वजनदार शब्दों में अभिव्यक्ति दी है –

बरजूजी वदीत विमासी, रूड़ी शील गुणां री राशी।
तिण रो भिक्खू तोल बधायो, सती सुजस शासण में पायो।
संजम लीध नै थया तीन वर्ष उनमान।
किया सिंघाडो स्वामजी, बरजू तणो पिछान।।
शील तणो घर महासती, सूत्र सिंद्धत सुबोल।
भिक्खू स्वाम बधारियो तीखो तोल अमोल॥ – ऋ.रा.सु.ढा.2, गा.2,34

वे अग्रगामी बनने के पश्चात् एक बार रावलिया पधारीं। वहां उन्होंने अनेक भाई बहिनों को तेरापंथ दर्शन समझाया। रायचन्दजी (तृतीयाचार्य) और उनकी माता खुशालांजी को वैराग्यवर्धक प्रेरणा देकर दीक्षा के लिए तैयार किया। यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि संघ के तीसरे आचार्य रायचन्दजी की दीक्षा का श्रेय साध्वी बरजूजी को मिला। कुछ समय पश्चात् आचार्य भिक्षु रावलिया पधारे। वहीं सं. 1857 चैत्र पूर्णिमा के दिन बड़े ठाट–बाट के साथ रायचन्दजी व खुशालांजी को आम्रवृक्ष की छाया में दीक्षा दी।

साध्वी बरजूजी में साहस, साध्वियों को परोटने की कला, धीरता और गंभीरता,

अच्छी थी। यही कारण था कि उन्होंने आचार्य भिक्षु का गहरा विश्वास प्राप्त किया। यद्यपि उस समय साध्वीप्रमुखा की परम्परा नहीं थी पर उस समय बरजूजी का साध्वियों में प्रमुख स्थान था। आचार्य भिक्षु साध्वियों को दीक्षित करते ही संस्कार देने का काम उन्हें सौंप दिया करते थे। ऐसा उल्लेख भी ग्रन्थों में मिलता है।

तृतीयाचार्य ऋषिरायजी की माता कुशालाजी को दीक्षित कर स्वामीजी ने साध्वी बरजूजी को सौंपा। इसी प्रकार साध्वी कुशालांजी, नाथांजी, बींजाजी, झूमांजी, रंभाजी आदि अनेक यशस्विनी साध्वियों की शिक्षा एवं संस्कार निर्माण का श्रेय भी उन्हें मिला। आपकें पास रहने वाली साध्वियों ने अच्छा विकास किया तथा संघ में सुयश कमाया। साध्वी झूंमांजी उस समय की अध्ययनशील तथा व्याख्यान कला में निपुण साध्वी थी।

इसी प्रकार उनके द्वारा दीक्षित साध्वी कमलूजी बड़ी विदुषी, तपस्विनी और प्रभावशाली व्यक्तित्व की धनी थी। उन्होंने हजारों पद्य कण्ठस्थ किए। वे स्वभाव से सरल भद्र थी पर सिद्धान्तों की अच्छी जानकार थी। साध्वी रायकंवरजी सेवाभावी साध्वी थी।

स्वामीजी की आज्ञा से उन्होंने कई साध्वियों को दीक्षा दी। उनमें प्रमुख नाम ये हैं–1. साध्वी कमलूजी – चंगेरी, 2. साध्वी मयाजी – खैरवै, 3. साध्वी रायकंवरजी

ये तीनों साध्वियां दीक्षित होकर साध्वी बरजूजी के स्वर्गवास तक उनके पास रहीं।

साध्वी बरजूजी के नेश्राय में संत–

अनुमानत: प्रस्तुत: घटना सं. 1866 और 1869 के मध्य समय की है। मुनि जोधोजी, बखतोजी और संतोजी को किसी कारणवश पचपदरा चातुर्मास करना पड़ा। वे तीनों मुनि 'अगडसूत्री' थे। इन तीनों साधुओं ने तब तक आचारांग और निशीथ सूत्र का वाचन नहीं किया, जब तक दोनों सूत्रों का वाचन नहीं करते, तब तक वह श्रमण अगडसूत्री कहलाता है। वह आलोयणा नहीं दे सकता। इसलिए उन्होंने वहां साध्वी बरजूजी की नेश्राय में चातुर्मास किया। साध्वी बरजूजी का उस वर्ष का चातुर्मास पचपदरा में था। वे तीनों मुनि आज्ञा आलोयणा महासती बरजूजी से लेते थे। (परम्परा के बोल सं. 226)

आचार्य भिक्षु के सान्निध्य में :-

वह युग कसौटी का था। एक साथ अच्छी संख्या में साधु-साध्वियां चातुर्मास कर सके, ऐसी अनुकूलता बहुत कम थी, फिर भी महासती बरजूजी को आचार्य भिक्षु की सन्निधि में चातुर्मास करने का अच्छा मौका मिला। यह घटनाएं स्वामीजी की विशेष कृपा होने की सूचक भी है। दो चातुर्मास स्वामीजी के साथ किए पर कब कहां किए? प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। अनुमानत: सं. 1858, 59 को केलवा और पाली में स्वामीजी के साथ किए। एक चातुर्मास में आचार्य भारीमालजी की सेवा में रहीं। सं. 1861 में ऐसा शासन समुद्र में उल्लेख है।

साध्वी बरजूजी अनुमानत: सं. 1887 में ईडवा में समाधि मरण को प्राप्त हुईं। ख्यात तथा शासन विलास आदि में उनका स्वर्गवास संवत उपलब्ध नहीं है पर साध्वी रायकंवरजी के सम्बंध में लिखी गई गुणवर्णन गीतिका में लिखा है -दीक्षित होने के पश्चात 16 महीना बाद महासती बरजूजी दिवंगत हुईं। इससे उपर्युक्त संवत स्वत: प्रमाणित हो जाता है।

♦

8. साध्वी बीजांजी (रीयां) (40)

साध्वी बींजाजी मारवाड़ में बड़ी पादू के पास रीयां गांव की थी। उन्होंने पति वियोग के पश्चात सं. 1852 में आचार्य श्री भिक्षु के कर–कमलों से संयम ग्रहण किया। आचार्य भिक्षु पादू पधारे, वहां तीन बहिनों की दीक्षा हुई – साध्वी वरजूजी, बींजाजी और वन्नाजी की। ऋषिरायचरित्र में आचार्य श्री जय ने भी इस की पृष्टि की है।

मुनिश्री हेमराजजी ने बींजासती गुण वर्णन गीत में भी इन दीक्षाओं का वर्णन करते हुए लिखा है –

जंबूदीप रा भरतखेत्र में, मुरधर आर्य देशो रे।
पादू गांव रूपारेल खड़ो, पूज भीखनजी कीधो परवेशो रे।।
वरजूजी वीजांजी तीजी वनांजी एक दिन संयम लीघो रे।
भीखनजी स्वामी गुरु मिलिया भारी संजम अमृत रस पीधो रे।।
कीर्ति गाथा पृ. 480

सं. 1852 फाल्गुन शुक्ला 14 के लेखपत्र में तीनों साध्वियों के हस्ताक्षर है, इससे प्रमाणित होता है कि ये तीनों दीक्षाएं उक्त तिथि से पहले हो गई थी।

आचार्य भिक्षु ने तीनों साध्वियों को साध्वाचार और ज्ञानाचार में विकास करने के लिए साध्वी मैणांजी को सौंप दिया। साध्वी बींजाजी प्रकृति से भद्र और ऋजु थी। संयम की साधना में जागरूक रहती और जप, स्वाध्याय आदि में तत्पर रहती। सं. 1855 में आचार्य भिक्षु ने साध्वी बरजूजी को अग्रगण्या का दायित्व दिया, उसके बाद वे उनके साथ रही। ऐसा निम्नोक्त पद्य से प्रतीत होता है –

समणी भीक्खू स्वाम नीं, बरजू वींजा विचार।
गामा नगरां विचरती, सतियां नै परिवार।।
ऋषिराय सुजस ढा. 2 गा. 1

आचार्य भिक्षु ने सं. 1857 के जेठ महीने में लावासरदारगढ में साध्वी जोतांजी को दीक्षा दी और उन्हें साध्वी बरजूजी तथा बींजाजी को सौंपा। सं. 1859 में में साध्वी बीजांजी का सिंघाड़ा बना दिया तथा साध्वी जोतांजी को व्याख्यानादिक का सहयोग देने के लिए साध्वी बीजांजी को दे दिया। साध्वी बीजांजी ने आत्मकल्याण के साथ

तेरापंथ के विस्तार में अपना अच्छा योगदान दिया। उन्होंने अनेक अनेक भाई बहिनों को प्रतिबोध देकर तेरापंथी बनाया।

गुरुसन्निधि का दुर्लभ अवसर

साध्वी बींजाजी भाग्यशालिनी थी, उन्हें गुरु सन्निधि का भरपूर अवसर मिला। उन्होंने 1852 में दीक्षा ली और 9 वर्ष तक यानि 1860 तक आचार्य भिक्षु का पावन सान्निध्य मिला। सं. 1861 से 1878 तक आचार्य श्री भारीमालजी की सेवा का शुभ अवसर मिला और तृतीयाचार्य श्री रायचंदजी के युग में भी उन्हें सेवा का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ।

संलेखनातप और अनशन

साध्वी बींजांजी ने अपने जीवन के अन्तिम तीन वर्षों में विशेष कर्म निर्जरा का लक्ष्य बनाकर संलेखना तप प्रारंभ किया। संलेखना को उद्देश्य बनाकर जो तपस्या की उसकी तालिका इस प्रकार है –

उपवास – 76	बेला – 152	तेला – 32	चोला – 38
पंचोला – 14	छह – 6	सात – 3	आठ – 1

उनकी यह तपः साधना प्रायः चौविहार थी। कुछ तपस्या तिविहार हुई। पारणे में वे विगय – दूध, दही आदि का उपयोग बहुत कम मात्रा में करती तथा अरस विरस आहार कर अनाशक्ति का विशेष अभ्यास करती। तपस्या के पश्चात 25 दिन लगातार अत्यल्प आहार किया। इस प्रकार 1110 दिन अर्थात तीन वर्ष 1 महीना के उस तपोनुष्ठान में 322 दिन पारणे के आए।

इस उग्र और घोर तपस्या से उनकी काया अत्यन्त कृश हो गई। शरीर सूखकर अस्थिपंजर–सा प्रतीत होने लगा। ऐसी स्थिति में उन्हें यह अनुभव होने लगा कि अब शरीर अधिक समय साथ देने वाला नहीं है। तब उन्होंने हिम्मत और साहस के साथ चढते परिणामों से आजीवन अनशन स्वीकार कर लिया। अनशन काल में पूर्ण जागरूकता के साथ नमस्कार महामंत्र का अनवरत जप किया। मात्र नौ दिन का संथारा आया पर नौ दिनों में लाखों की संख्या में जप कर, उल्लेखनीय कार्य किया। सं. 1887 द्वितीय वैशाख सुदी 4 को वे कंटालिया में दिवंगत हुई।

संलेखना तप और अनशन उन्होंने सिरियारी और कंटालिया में किया था।

तप और अनशन के समय उन्हें भारी कष्ट का सामना करना पड़ा। वह कष्ट क्या था? उसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता, पर वे उसमें अविचल रही, उनका मनोबल बना रहा और आगत कष्टों को समभाव से सहनकर दृढसंकल्पी और सहनशील के रूप में अपनी पहचान कायम की। इससे तेरापंथ धर्मसंघ में उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा हुई और वे सबकी श्रद्धापात्र बनी।

9–10. साध्वी हस्तूजी, कस्तूजी (पीपाड़) (45,47)

साध्वी हस्तूजी, कस्तूजी दोनों पीपाड़ निवासी जग्गू गांधी की पुत्रियां थी। जग्गूजी पहले स्थानकवासी परम्परा में विश्वास करते थे। सं. 1945 में आचार्य भिक्षु का चातुर्मास पीपाड़ में हुआ, तब उन्होंने स्वामीजी के साथ चर्चा वार्ता की। तेरापंथ के सिद्धान्तों को गहराई से समझकर श्रद्धा स्वीकार की। जग्गू गांधी का तेरापंथी बनना स्थानवासी लोगों को अच्छा नहीं लगा। उसी चातुर्मास में अन्य अनेक लोगों ने तेरापंथ की गुरुधारणा की और गंभीरता से सोच समझकर, मंतव्य को जानकर की।

एक बार वेषधारी साधुओं ने जग्गू गांधी से कहा- भीखणजी की मान्यता गलत है। वे किसी श्रावक को बासती (कपड़ा) देने में भी पाप कहते हैं और किसी गृहस्थ की चादर कोई चोरी कर ले गया, उसे भी पाप कहते हैं। इस प्रकार श्रावक और चोर दोनों को (सरीखा)समान समझते हैं। जग्गूजी ने स्वामीजी के सामने उपरोक्त निवेदन करते हुए कहा- ऐसा क्यों? इसका न्याय क्या है?

आचार्य भिक्षु ने उत्तर देते हुए कहा- तुम उनको (स्थानकवासी साधुओं) पूछना -आपकी चादर कोई चोर चुराकर ले गया अथवा आपने वह चादर किसी श्रावक को दे दी। इन दोनों में आपको प्रायश्चित्त किस बात का करना होगा? यदि चोर चादर ले गया उसका प्रायश्चित्त बताकर श्रावक को चादर दी उसका बतलाए तो उनकी दृष्टि में भी श्रावक को चादर देना दोषपूर्ण है .....

बात जग्गूजी की समझ में आ गई पर जग्गूजी का तेरापंथी बनना स्थानकवासी श्रावकों को बहुत खराब लगा। यह उन्हें बहुत अखरा। तब स्थानीय लोगों ने आकर स्वामीजी से पूछा- भीखणजी! जग्गूजी ने आपके विचारों को स्वीकार किया, यह कई श्रावकों को अखरा पर खेतसीजी लूणावत को तो बहुत ज्यादा ही अप्रिय लगा है। वह बहुत चिन्ता करता है।

तब स्वामीजी ने कहा- कोई परदेश में मर गया, उसकी खबर आने पर चिन्ता तो बहुत करते हैं पर लम्बी कांचली तो एक ही पहनता है।

जग्गूजी की दोनों पुत्रियां आस्थावान और धार्मिक मनोवृत्ति की थीं। उन्होंने आचार्य भिक्षु के पास गुरुधारणा की। दोनों की स्वामीजी के प्रति अगाध श्रद्धा थी। उनका विवाह पीपाड़ के मूंहता परिवार में किया गया। हस्तूजी के पति का नाम मोखमदासजी

और कस्तूजी के पति का नाम मोटरमलजी था। उनके ससुराल वाले उस समय लक्षाधीश कहलाते थे। दोनों बहनें रूपवान और बुद्धिसम्पन्न थीं। हस्तूजी के दो पुत्र हुए- अमीचन्द और खूबचन्द। कस्तूजी के एक पुत्र था।

धन-वैभव से सम्पन्न घर की बहुएं होने पर भी दोनों बहिन पदार्थ के प्रति अनासक्त और निस्पृह थी। सांसारिक कार्यों में उन्हें रस नहीं था। साधु-साध्वियों के निकट सम्पर्क और प्रेरणा से दोनों के मन में वैराग्य के अंकुर पैदा हुए। उत्तरोत्तर वृद्धिगंत होती वैराग्य भावना के कारण उन्हें सांसारिक सुख-सुविधाएं और पारिवारिक सदस्यों का मोह बांध नहीं सका। वे संयम के लिए उतावली हो गईं। उनके सामने पति और सास-ससुर की आज्ञा का बड़ा प्रश्न था। उन्होंने ज्योंही अपनी भावना अभिभावकों के सामने रखी, सास-ससुर ने आज्ञा देने से इन्कार ही नहीं किया बल्कि दृढ़ निश्चय से विचलित करने की भरपूर कोशिश की। दोनों को खूब कष्ट दिए गए। लेकिन भगिनी द्वय पर चढे वैराग्य के मंजीठी रंग को वे उतार नहीं पाए। आखिर दृढ़ वैराग्य भावना के सामने उनका हर एक हथियार नाकामयाब साबित हुआ। छः महिने की कठोर परीक्षा के बाद सास-ससुर, पति, जेठ, देवर आदि ने उनको दीक्षा की अनुमति दी।

हस्तूजी, कस्तूजी ने लाखों की सम्पत्ति और पति-पुत्रों को छोड़कर सं. 1856 में साध्वी हीरांजी के हाथ से पीपाड़ में दीक्षा ली। स्वयं जयाचार्य ने हस्तू-कस्तू पंचढ़ालिया में लिखा है –

सासरिया मूंहता सही लखेसरी कहिवाय।
कंत पुत्र दोनों तजी, संजम धार्यो सवाय॥

संवत अठारह सत्तावनै, संजम शहर पीपाड़।
विनय विवेक विशेष गुण, कीधो जगत उधार॥

ख्यात में दोनों की दीक्षा स्वामीजी के साथ से हुई, ऐसा उल्लेख मिलता है पर यह यथार्थ नहीं लगता, क्योंकि स्वामीजी उस समय मेवाड़ में विहरमाण थे। 1857 में स्वामीजी का चातुर्मास पुर में और 58 का केलवा में था। इसलिए साध्वी हीरांजी द्वारा दीक्षित होने का उल्लेख ही युक्ति संगत लगता है।

उस वर्ष पांच सुहागिन बहिनों की दीक्षा हुई। उसमें एक तृतीयाचार्य रायचंदजी की माता कुशालांजी भी थी। उनकी दीक्षा 1856 चैत्र शुक्ला पूर्णिमा को हुई। हस्तूजी,

कस्तूजी की दीक्षा साथ होने पर भी नामक्रम में दोनों के मध्य कुशालांजी का नाम है। यह कैसे हुआ? एक विमर्शणीय प्रश्न है।

. संभव है, तीनों की दीक्षा एक दिन हुई हो। बड़ी दीक्षा के समय दीक्षा क्रम में हस्तूजी कुशालांजी और कस्तूजी यह क्रम रखा गया हो।

. दोनों बहिनों की दीक्षा चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के बाद हुई हो। बड़ी दीक्षा के समय हस्तूजी को बड़ा रखा गया हो।

ऋषिराय सुजस में जयाचार्य ने पांचों सुहागिन बहिनों की दीक्षा के प्रसंग में लिखा है। वहां दीक्षा-क्रम इस प्रकार है -

हस्तू कस्तू भगिनी बिहुं रे कुशालां ऋषिराय नी माय।
जोता नोरा नो जस घणो, पांचू पीउ छांड व्रत पाय॥

भगिनीद्वय के व्यक्तित्व और कर्तृत्व की संघ में अपनी विशेष पहचान थी। वे दोनों साहसिक, व्याख्यान कला में प्रवीण और आगम की जानकार थी। उनकी वाणी में ओज था। वे चर्चा वार्ता में इतनी दक्ष थी कि अन्यमती लोग उनसे चर्चा करने में संकोच करते थे। जयाचार्य ने साध्वी हस्तूजी के गुणों का वर्णन करते हुए जिन शब्दों का प्रयोग किया है, उनके व्यक्तित्व की ऊंचाई अभिव्यक्त होती है। जयाचार्य ने लिखा है-

सूत्र ना जाण, सैणी गुणी, लीध जन्म नो लाह रे।
निरहंकारपणो निरख नै, गुणीजन कहै वाह वाह रे॥

पाखण्ड पंथ उठायवा, सिंहण सम साहसीक रे।
गुरु भगता गाढ़ी घणी, तंत सरल तहतीक रे॥

इरषो (इर्ष्या) अधिको अस्त्री तणै सहज स्वभावे होय रे।
पिण हस्तू नै पेखतां, अचरज आवै सोय रे॥

हस्तू नां गुण एहवा, तेहवा गुण अधिकाय रे।
नर पिण विरला जाणज्यो, समणी महासुखदाय रे॥

दीक्षा के कुछ समय के पश्चात् योग्यता को देख गुरुदेव ने दोनों को अग्रगामी बना दिया। फिर भी दोनों बहनें साथ में ही विहरण करती रहीं, ऐसा पूर्वापर की घटनाओं से विदित होता है। उनका सिंघाडा कब हुआ, संवत् नहीं मिलती पर उन्होंने साध्वी

आसूजी को दीक्षा सं. 1861 में दी, इससे स्पष्ट है- साध्वी हस्तूजी, कस्तूजी का सिंघाडा उससे पहले हो गया था। साध्वी आसूजी आचार्य भारीमालजी के युग की प्रथम साध्वी थी। उनकी पीपाड़ में दीक्षा हुई। उन्होंने चालीस चातुर्मास किए। उनकी सम्पूर्ण तालिका शासन समुद्र में उपलब्ध है।

सं. 1864 में साध्वी हस्तूजी का चातुर्मास उदयपुर में था। वहां उस समय जैचंदजी दुलीचन्दजी पोरवाल प्रमुख श्रावक थे। द्वेषी लोगों ने महाराणा को बहका दिया जिससे उन्होंने साध्वी हस्तूजी को वहां न रहने का आदेश दिया। वे उदयपुर से बेदले चली गईं। बाद में जैचन्दजी ने महाराणा को यथार्थ स्थिति से अवगत कराया, तब महाराणा ने पुनः साध्वियों को उदयपुर बुला लिया।

साध्वी हस्तूजी को तीन आचार्यों -भिक्षु, भारीमाल ऋषिराय की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे सभी साधुओं को साता पहुंचाने वाली थी। उनकी तपस्या में भी बहुत रुचि थी। उपवास और बेले की गणना सीमा बाहर है। पन्द्रह दिनों तक की तपस्या के 18 थोकड़े किए। 28 चातुर्मासों में सावण-भाद्रव महीने में एकान्तर तप किए। बारह वर्ष तक शीतकाल में एक पछेवड़ी में रहकर भयंकर सर्दी सहन की। वे न केवल मौनी, ध्यानी, साम्ययोगी थी अपितु तपस्या के द्वारा कर्मनिर्जरा का महान यज्ञ करने में भी सदा तैयार रहती। यह उनकी साधना का उच्चस्तरीय पक्ष था।

सं. 1891 का अन्तिम चातुर्मास उन्होंने लावासरदारगढ़ (मेवाड़) में किया। लक्ष्य पूर्वक उस चातुर्मास में उन्होंने जप, स्वाध्याय और तप के विविध प्रयोग किए। उपवास बेले, तेले के साथ उणोदरी तप बहुत किया और अन्न से रुचि हटा ली। संवत्सरी के दिन उपवास किया। उसके बाद भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी तक आहार ग्रहण नहीं किया। उस दिन महाव्रतों का उच्चारण किया, आत्म-आलोचना की और सबसे क्षमायाचना कर अनशन का निर्णय सबके सामने रखा। उसी दिन रात्रि के समय शुद्ध मन से चारों आहार का त्याग कर सतियों से कहा - 'मैंने आजीवन चौविहार अनशन कर लिया है'। अनशन ग्रहण के डेढ़ प्रहर बाद निर्मलतम भावों में वे पण्डित मरण को प्राप्त हो गई।

साध्वी हस्तूजी की तरह ही कस्तूजी भी विनय, वैराग्य और तपस्या में अग्रणी थी। उन्होंने लगभग 19 वर्ष संयम साधना की। उत्कृष्ट तपस्या उन्होंने सतरह दिन की। अन्त में सवा प्रहर के सागारी अनशन में वे दिवंगत हो गईं। उस समय उनका चातुर्मास उज्जैन में था।

11. साध्वी कुशालांजी (रावलिया) (46)

साध्वी कुशालांजी नाथद्वारा (मेवाड़) के शाह भोपा शाह सोलंकी की पुत्री और मुनि खेतसीजी की छोटी बहिन, साध्वी रूपांजी की बड़ी बहिन थी। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्हें तृतीयाचार्य श्री रायचन्दजी की माता होने का गौरव प्राप्त था।

कुशालांजी का विवाह बड़ी रावलिया निवासी शाह चतरोजी बम्ब के साथ हुआ। उनके तीन पुत्र और एक पुत्री थी। जिनके नाम क्रमशः नानजी, मोतीजी और रायचंदजी था। लड़की का नाम मैणा था।

मुनि खेतसीजी का गृहस्थावस्था में रावलिया आवागमन होता रहता था। वहां उनकी दो बहिनें – कुशालांजी और रूपांजी का ससुराल था। वे जब भी वहां जाते धर्म चर्चा का प्रसंग उपस्थित होने पर तेरापंथ के सिद्धान्त सबको समझाते। खेतसीजी के परिश्रम ने रंग दिखाया और रावलिया (बड़ी) में तेरापंथ का बिरवा फूलने फलने लगा। खेतसी की प्रेरणा से उनके बहनोई तथा उनके परिवार के कई सदस्य तेरापंथ के प्रति श्रद्धालु बने।

साध्वी बरजूजी एक बार बड़ी रावलिया पधारी। उन्होंने वहां के लोगों को धर्मोपदेश देकर समझाया। कुशालांजी और उनके सबसे छोटे पुत्र रायचंद को संयमी जीवन जीने की प्रेरणा दी। साध्वीजी की प्रेरणा का नीर पाकर वैराग्य बीज अंकुरित हो गया। माता और पुत्र दोनों दीक्षा के लिए तैयार हो गए।

इससे पूर्व कुशालांजी के बड़े भाई खेतसी सं. 1838 में और छोटी बहिन रूपांजी 1848 में आचार्य भिक्षु के कर-कमलों से दीक्षित हो चुके थे।

कुशालांजी और रायचंदजी ने जब परिवार जनों के सामने दीक्षा की भावना रखी और दीक्षा की अनुमति मांगी, तब मोहवश परिवार के सदस्यों ने आज्ञा देने से इन्कार कर दिया और घर में ही रह जाए इसके लिए भरसक प्रयत्न किया। आखिर कुशालांजी और रायचंदजी की दृढतम भावना के सामने उन्हें झुकना पड़ा और दीक्षा की आज्ञा प्रदान की। सं. 1857 में आचार्य भिक्षु ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए रावलिया पधारे। पारिवारिक जनों ने बडे उमंग से दीक्षा से पूर्व दोनों के लाडकोड किए। सं. 1857 चैत्र शुक्ला 15 को रावलिया में आम्रवृक्ष की सघन छाया में आचार्य भिक्षु के हाथ से माता पुत्र ने संयम जीवन स्वीकार किया। साध्वी हस्तुजी, कस्तुजी की दीक्षा इसी वर्ष चैत्र शुक्ला पूर्णिमा से पहले हुई थी, परन्तु बड़ी दीक्षा में आचार्य

भिक्षु ने सलक्ष्य साध्वी कस्तुजी को छोटा और साध्वी कुशालांजी को बड़ा रखा।

तेरापंथ धर्मसंघ में यह पहला अवसर था कि एक साल में पांच सुहागिन बहिनों की दीक्षा हुई हो। आचार्यश्री भिक्षु ने कुशालांजी को दीक्षित कर साध्वी बरजूजी को सौंप दिया। वे उनके पास संयम साधना करने लगी। साध्वी बरजूजी के साथ तीन चातुर्मास उन्होंने आचार्य भिक्षु और आचार्यश्री भारीमालजी की सन्निधि में किए, जिससे पुत्र–सेवा का अवसर उन्हें सहज प्राप्त हो गया। ऋषिराय सुजस में इसका वर्णन करते हुए आचार्य भारीमालजी ने लिखा है – कि उनका नाम खुशाला गुण निष्पन्न था। वे संयम–यात्रा और स्वाध्याय जप में खुश रहती थी। इससे स्पष्ट होता है कि उन्हें कुशालाजी और खुशालांजी दोनों नाम से पुकारा जाता था।

महाभाग्यवान महासती भीक्खू तथा भारीमाल हो।
तीन चौमासा भेला कराविया गुणनिप्पन्न नाम खुशाल हो।।
ऋषिराय सुजस ढा. 5 गा. 9

साध्वी कुशालाजी ने विनय नम्रता और उदारता आदि गुणों से साध्वी समाज में अच्छी शोभा ली। वे सबके लिए हितकारिणी थी अतः उन्हें 'भंडारी' इस उपनाम से सम्बोधित किया गया। कुशालाजी के गुण वर्णन गीत में लिखा है –

सती गण में घणी शोभती, सगलां नै होती हितकार।
भंडारी नाम दियो हुंतो वनीत हुआ श्रीकार।।

सं. 1867 में वे आउवा ग्राम में प्रवास कर रही थी। फाल्गुन का महीना था। उनके मन में संलेखना–संथारा करने की भावना प्रबल बनने लगी। उन्हीं दिनों आचार्यश्री भारीमालजी, मुनिखेतसीजी तथा मुनि रायचंदजी आदि संत आउवा पधारे। इस दुर्लभ अवसर को प्राप्त कर साध्वीजी का वीरत्व जाग उठा। अपने संसारपक्षीय भाई और पुत्र – दोनों के साथ गुरु का सान्निध्य प्राप्तकर उन्हें लगा चिरपालित मनोरथ पूरा करने का सुन्दरतम अवसर है। इसलिए वे कमर कसकर तैयार हो गई। कुशाल सती गुण वर्णन ढाल में लिखा है वीर पुरुष केसरिया बाना पहनकर रणभूमि में जाने को जैसे उद्यत होता है, वैसे ही कर्म शत्रुओं से लड़ने के लिए साध्वी कुशालांजी अत्यन्त उत्साह से भरी दिखाई दी। मुनि खेतसीजी, रायचंदजी आदि ने परामर्श की भाषा में कहा आप संलेखना के लिए इतनी जल्दी न करें। अभी तो संयम यात्रा और विहार चर्या से स्वयं को तथा श्रावक समाज को लाभान्वित करें। समय आने पर संथारा संलेखना की बात सोची जा सकती है।

साध्वी कुशालांजी ने कहा – अभी मुझे जैसा उत्तम और दुर्लभ संयोग मिला है। मेरे भाई, पुत्र और स्वयं गुरुदेव ने यहां पधारने की कृपा की है। यह त्रिवेणी संगम मुझे फिर कब मिले। मेरा मन वैराग्य भाव से ओतप्रोत है। मैं चाहती हूँ संयम के साथ संलेखना संथारा कर जीवन को सार्थक बनाऊं। इस प्रकार अपनी हार्दिक मनोभाव गुरु के सामने प्रस्तुत कर विनय नम्रता के साथ संलेखना की आज्ञा प्राप्त की और सं. 1867 फाल्गुन शुक्ला 13 को संलेखना तप प्रारंभ किया। चैत्र कृष्णा पांचम तक एकान्तर तप किया पर पारणे में अत्यधिक उणोदरी यानी अल्पमात्र आहार का उपयोग किया। चैत्र कृष्णा 6 से तपस्या प्रारंभ की। तपःसाधना के पन्द्रह दिन सानन्द सम्पन्न हुए। इस एक पक्ष में वे प्रतिदिन आचार्य श्री भारीमालजी का प्रवचन सुनती और आपके द्वारा किया जाने वाला भगवती सूत्र का स्वाध्याय सुनती। मुनि खेतसी और रायचंदजी आपको विविध प्रकार से स्वाध्याय कराते और अध्यात्म की वृद्धि करने वाले पद्य सुनाते। इस प्रकार आत्माराधना करती हुई साध्वी कुशालांजी ने तपस्या के 15वें दिन चैत्र शुक्ला 6 को आत्मालोचन कर सबसे क्षमायाचना की। अत्यन्त चढते परिणामों के साथ आचार्यश्री भारीमालजी से आजीवन अनशन कर तीसरा मनोरथ पूरा किया। मात्र आठ प्रहर के पश्चात चैत्र शुक्ला सातम की दोपहर में अनशन सानन्द सम्पन्न हो गया। उस दिन आउवा जैसे छोटे गांव में 6 साधु और 11 साध्वियां थी। सभी ने साध्वीजी को आध्यात्मिक सहयोग दिया। अनेक गांवों के श्रावक श्राविकाओं ने इस दुर्लभ अवसर का लाभ कमाया और त्याग प्रव्याख्यान कर अपने वैराग्य की वृद्धि की।

साध्वी कुशालांजी ने जिस मकान में अनशन–काल में प्रवास किया, वह शोभाचंदजी का था। उन्होंने शय्यातर का दायित्व निभाते हुए जो सेवा की और अहोभाव का अनुभव किया, विशेष उल्लेखनीय था। जिस दिन उनका स्वर्गवास हुआ। उसी दिन का रचित एक गीत उपलब्ध होता है पर रचनाकार का नाम उसमें नहीं है –

समत अठारै सतसठे, आउवा शहर मझारो जी।
चेत सुदी सातम रविदिने, गुण गाया श्रीकारो जी।।

इतिहासविद मुनि श्री नवरतनमलजी के अनुसार यह गीतिका मुनि श्री हेमराजजी रचित होनी चाहिए। क्योंकि संवत 1867 में उनका चातुर्मास खैरवा था और उन दिनों वे उधर ही विहरण कर रहे थे। आचार्य श्री भारमलजी जब आउवा पधारे, तब संभव है वे भी वहां आ गए हो।

12. साध्वी जोतांजी (लावासरदारगढ़) (48)

साध्वी जोतांजी मेवाड़ में लावासरदारगढ की निवासिनी थी। वे ओसवाल जाति में बांवलिया गोत्र की थी। साधु साध्वियों तथा विशेष रूप से आचार्य भिक्षु के उस क्षेत्र में विहरण से उन्हें प्रतिबोध मिला और संयम ग्रहण करने का संकल्प जागा। जैसे ही परिवार के सामने उन्होंने अपनी भावना रखी, विरोध का लावा फूट पड़ा। उनका स्वर्ण संकल्प था, इसलिए ज्यों ज्यों विरोध की अग्नि तेज हुई, उनका संकल्प अधिक मजबूत हुआ। उन्होंने परिजनों द्वारा शाब्दिक यातना ही नहीं झेली, मारपीट, बंधन तक अमानवीय कष्ट भी सहन किए। इन सबके पीछे द्वेषभाव नहीं, रागभाव था। वे चाहते थे कि – भय, मार और प्रलोभन के सामने वे घुटने टेक दें पर वे उत्तरोत्तर अधिक मजबूत होती चली गई।

सुहाग का चूड़ा : तीन बार तोड़ा

शिक्षा के अभाव में वह युग अन्धविश्वास और रूढपरम्परा का था। इसलिए संयमपथ पर बढने से रोकने के लिए घर वालों ने अपशकुन के रूप में उनके 'सुहाग चूड़ा' को तोड़ दिया। ऐसा एक बार नहीं तीन बार किया गया। लेकिन साध्वी जोतांजी के उत्कट वैराग्य पर इसका किंचित भी असर नहीं हुआ। न उन्हें अपशकुन का भय हुआ और न रूढपरम्परा का व्यामोह। जो भौतिक पदार्थ संयम स्वीकार के समय छोडने वाली थी, वह सहज छूट रहे हैं, इस चिंतन ने संभवतः उन्हें आत्मस्थ बनाए रखा।

जब हर प्रकार की परीक्षा में उनका वैराग्य खरा उतरा तब परिवार वालों ने अपने आप हार स्वीकार कर ली और चौथी बार नया चूड़ा पहनाकर कहा – तुम संयम लेना चाहती हो, हमारी सहर्ष आज्ञा है। इतना ही नहीं, परिवार के लोग आचार्य भिक्षु के चरणों में उपस्थित हुए और प्रार्थना की – आप लावासरदारगढ पधारो और जोतांजी को दीक्षा देने की कृपा करो। आचार्य भिक्षु ने उनकी विनीत प्रार्थना स्वीकार की और वहां पधारे।

सं. 1857 के जेठ महीने में जोतांजी ने पति–परिवार और सुख समृद्धि छोड़कर दृढ संकल्प और वैराग्य के साथ आचार्य भिक्षु के कर–कमलों से संयमश्री स्वीकार की। उस समय उनकी अवस्था सतरह वर्ष की थी। युवावस्था में सब प्रकार के सांसारिक सुखों की अनुकूलता को छोड़कर साध्वी जोतांजी ने एक आदर्श उपस्थित किया, जिसकी चारों ओर भूरि–भूरि प्रशंसा हुई और उत्कृष्ट त्याग का सब

पर गहरा प्रभाव पड़ा। दूसरी बांवलिया परिवार के सभी सदस्य तेरापंथ के पक्के श्रावक और आचार्य भिक्षु के परम भक्त बन गए। उनकी गणना गांव के प्रभावशाली प्रमुख श्रावकों में होने लगी। उस परिवार की कुल दीक्षाएं हुई – साध्वी जोतांजी, मुनि रत्नजी और साध्वी नन्दूजी। साध्वी जोतांजी संभवतः मुनि रत्नजी की भाभी और नन्दूजी की चाची थी। ऐसी सरदारगढ के श्रावकों की अवधारणा है। साध्वी नन्दूजी के पिता का नाम फतेहचंदजी था और मुनि रत्नजी उनके छोटे भाई थे। सं. 1873 में रत्नजी की दीक्षा के कुछ दिन पश्चात साध्वी नन्दूजी की दीक्षा हुई।

साध्वी जोतांजी की दीक्षा हुई उस वर्ष पांच सुहागिन बहिनों की दीक्षा हुई, यह तेरापंथ में प्रथम घटना थी। साध्वी जोतांजी को दीक्षित कर आचार्य भिक्षु ने उन्हें साध्वी बरजूजी तथा बीजांजी को सौंप दिया। साध्वी बरजूजी और बींजाजी की उभय सन्निधि का साध्वी जोतांजी ने अच्छा लाभ उठाया। साधुचर्या में निपुणता प्राप्त करने के साथ–साथ ज्ञान के क्षेत्र में भी अच्छा विकास कियां। थोड़े ही समय में सूत्र सिद्धान्त की अच्छी धारणाकर आचार्यों के मन में विश्वास प्राप्त किया। यही कारण था कि जब आचार्य भिक्षु ने साध्वी बींजाजी को अग्रगण्य बनाया तब व्याख्यानादिक के लिए साध्वी जोतांजी को उनके साथ भेजा। उनकी गायन कला अच्छी थी, कण्ठ मधुर थे। व्याख्यान ओजस्वी था। वे साध्वी बीजांजी के सिंघाड़े का प्रतिनिधित्व करती थी।

केशलुंचन किया

सं. 1873 के मिगसर या पौष मास में मुनि श्री हेमराजजी ने साध्वी नन्दूजी को खारा गांव की सीमा में गृहस्थ वेश में गहनों कपड़ों सहित दीक्षा दी, तब साध्वी जोतांजी वहां उपस्थित थी। उनका पहला केशलुंचन साध्वी जोतांजी ने किया। साध्वी नन्दूजी को दीक्षा के बाद साध्वी जोतांजी को सौंप दिया।

साध्वी बीजांजी के स्वर्गवासी होने के बाद तृतीयाचार्यश्री रायचंदजी ने साध्वी जोतांजी को अग्रगण्या बनाया। उन्होंने जन उपकार करने में बहुत श्रम किया। अनेक–अनेक व्यक्तियों को धर्म के अनुरागी और श्रद्धालु श्रावक बनाकर संघ विस्तार में अपना योगदान दिया। सात बहिनों को अपने हाथ से दीक्षा प्रदान की। दीक्षित साध्वियों के नाम निम्नप्रकार है –

1. साध्वी मयाजी देवगढ़ (86) को संवत 1872 मिगसर वदि 1 को आमेट में दीक्षा दी। साध्वी मयाजी का पीहर आमेट था। मुनि जीवोजी जो साध्वी मयाजी के

संसारपक्षीय भाई थे। उनके द्वारा लिखित गीत में इसका स्पष्ट उल्लेख है –

पीहर संजम पाइयो रे, सैहर आमेट मझार।।
चेली भीखू साम नी रे, जोता जी जशवंत
स्वहत्थ संजम आपियो रे मयाजी नै मतवंत।।
समत अठारै बोहीतरै रे आवियो आगण मास।
वासर विद एकम तणो रे पूर्ण पूरी आस।।

2. साध्वी लच्छूजी मेड़ता (101) को सं. 1878 फाल्गुन कृष्णा 4 को नाथद्वारा में दीक्षा दी। दीक्षित करने के बाद नवदीक्षिता को गुरुचरणों में समर्पित किया तब उन्हें ही वापिस सौंप दिया।

3. साध्वी पन्नांजी पींपाड़ (104) को सं. 1888 मृगसर कृष्णा 14 को पाली में दीक्षा दी।

4. साध्वी मेहखांजी काणाणा (114) को सं. 1892 पौष सुदी 6 को काणाणा में दीक्षा दी।

5. साध्वी चंपाजी जोजावर (116) को सं. 1895 चैत्र कृष्णा 6 को जोजावर में दीक्षा दी।

6. साध्वी सोनांजी खैरवा (208) को सं. 1900 फाल्गुन शुक्ला 5 को हिंगोला में दीक्षा दी।

7. साध्वी दोलांजी मलसाबावड़ी (249) को सं. 1906 मृगसर सुदि 9 को हिंगोला में दीक्षा दी।

साध्वी जोतांजी की तेरापंथ साध्वी समाज में अपनी पहचान थी। वे एक नीतिमान साध्वी थीं। संयम साधना में जागरूक साध्वी थीं। उन्हें साध्वाचार सम्बंधी गहरी धारणाएं थी। वे स्वाध्याय, ध्यानं में तल्लीन रहने वाली थीं और नमस्कार महामंत्र का जप वे विशेष रूप से करती थीं। उनकी अप्रमत्त साधना, उत्कृष्ट वैराग्य और भाव क्रिया हर दर्शक को प्रभावित करती थी। जयाचार्यश्री ने साध्वी जोतांजी की साधना के संदर्भ उनकी अर्हता प्रकट करते हुए लिखा है –

नीव चारित्र नी हर नीकी रे, जूनी धारणा सखर सधीकी
चौथा आरां री सरीखी।
ध्यान स्मरण अधिको धार्यो रे, लाखांग में नवकार संभार्यो
विषया–रस नें दूर निवार्यो।।

अन्तिम यात्रा

वृद्धावस्था के कारण जब चलने फिरने में अक्षमता बढने लगी, तब वे हिम्मत से सिरियारी राणावास, सोजत कंटालिया आदि क्षेत्रों में छोटे–छोटे विहार करती रही। पर एक स्थान पर उन्होंने स्थिरवास नहीं किया। सं. 1908 में उनका चातुर्मास पाली में था। वहां कार्तिक महीने में अढ़ाई प्रहर के अनशन में दिवंगत हो गई।

द्वितीयाचार्यश्री भारीमालजी के युग की साध्वियाँ

1. साध्वी चन्नणांजी खाटू (64)
2. " चत्रूजी बाजोली (65)
3. " चत्रूजी तोषीणा (70)
4. " कल्लूजी रोयट (74)
5. " दीपांजी जोजावर (90)
6. " नन्दूजी लावा (92)
7. " चत्रूजी गंगापुर (100)

1. साध्वी चन्नणांजी (बड़ी खाटू) (64)

साध्वी चन्नणांजी बाजोली निवासी जगरूपजी बाफणा की पुत्री और स्वरूपजी की पौत्री थी। उनका विवाह बड़ी खाटू निवासी सूरजमलजी बरमेचा के साथ किया गया। बाल्यावस्था में उनका विवाह हुआ, थोड़े समय पश्चात प्रकृति प्रकोप से उनके पति का देहान्त हो गया। अवस्था अत्यधिक छोटी होने के कारण वे वैधव्य की विभीषिका से अनजान रही पर माता पिता की जागरूकता ने साधु साध्वियों से सम्पर्क बढा और जीवन की दिशा बदल गई। उनमें धर्मध्यान के साथ वैराग्य का उदय हुआ और कुछ समय पश्चात द्वितीयाचार्य भारमलजी के साक्षात दर्शन का अवसर मिला। गुरु के प्रेरक वचनों व उपदेश को श्रवण कर उनकी भावना ने संकल्प का रूप ले लिया।

लगभग साधिक सतरह वर्ष की अवस्था में सं. 1866 में साध्वी आसूजी पीपाड़ (57) ने साध्वी चन्नणांजी को दीक्षा दी। साध्वी आसूजी आचार्यश्री भारीमालजी के युग की पहली साध्वी थी। उन्होंने चार बहिनों को अपने हाथों दीक्षित किया उनके नाम इस प्रकार हैं – साध्वी चत्रूजी बाजोली (65) साध्वी नगांजी बोरावड़ (76) और साध्वी दीपांजी जोजावर (90)। चारों साध्वियों ने तेरापंथ धर्मसंघ में सुयश प्राप्त किया और संघ के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

साध्वी चन्नणांजी को दीक्षित कर गुरुचरणों में जब समर्पित किया, आचार्यश्री भारीमालजी ने महती कृपाकर उनको साध्वी आसूजी के साथ रखा। साध्वी आसूजी को जब–जब गुरु – सन्निधि में रहने का अवसर मिला, स्वयं आचार्यश्री ने साध्वी चन्नणांजी को अध्ययन कराया और उन्होंने अपनी योग्यता का परिचय देते हुए अच्छा विकास किया। यह जयाचार्यश्री कृत गीत से स्पष्ट होता है। उन्होंने लिखा है –

सतरह बरस जाझेरी वय थया, धार्‌यो संजम ध्यान।
भारीमाल भणाई भाव स्यूं, चंदणा चंदण समान।।
आगम अर्थ अनोपम ओलख्या झीणी चरचा जाण।
ग्रंथ हजारां मुंहढै सीखिया, वारू अमृत – वाण।।
सूत्र सिद्धांत घणां सती वांचिया, बखांण नी छिब ऐन।
भिन्न भिन्न भेद सुणी जीवड़ा चित्त में पामै चैन।। कीर्ति गाथा पृ. 303

इससे स्पष्ट है कि आचार विचार में दक्ष होने के साथ ज्ञान की आराधना भी उन्होंने अप्रमत्त भाव से की। जैनागमों का गंभीरता से अध्ययन कर गहन धारणाएं की और हजारों पद्य कंठस्थ किए। उनकी व्याख्यान शैली अच्छी थी, आवाज बुलंद थी उनमें साहस, विवेक और विनय का अद्‌भुत संगम था। संघ और संघपति के प्रति उनका आन्तरिक समर्पण भाव था। वे गुरु–आज्ञा और अनुशासन के प्रति अत्यधिक जागरूक थीं। वे सहज, निर्मल और संघ की शोभा बढाने वाली भाग्यशालिनी साध्वी थीं। उनके विविध आयामी गुणों से प्रसन्न होकर आचार्यश्री भारीमालजी ने उन्हें अग्रगण्या पद पर नियुक्त किया। 30 वर्ष तक विहरणकर उन्होंने धर्मसंघ की अच्छी प्रभावना की।

यद्यपि वे उपवास से अठाई तक ही तपस्या कर सकी। उपवास से लेकर तेला तक तपस्या अनेक बार की, पर लम्बी तपस्या उन्होंने नहीं की। उनकी अंतरंग तपस्या अधिक तेजस्वी थी, इसलिए वे सबके लिए साताकारी थी, सबके मन को सुख शांति देने वाली थी। स्वयं जयाचार्य ने लिखा है –

उपवास बेला तेलादिक बहुत किया, पांच आठ अधिकार।
बहु क्रोध मान माया सती परहरया, गण में घणी सुखकार।। कीर्ति गा. 304

तपस्या भले छोटी–छोटी की, पर उसके साथ क्षमा आदि विशेष गुण होने से वह अधिक देदीप्यमान हुई। उस तप का महत्त्व शतगुणित हुआ, ऐसा कहा जा सकता है।

सं. 1889 का दिल्ली चातुर्मास कर मुनि जीतमलजी ने आचार्यश्री रायचंदजी के गोगुन्दा में दर्शन किए। उस समय आचार्यश्री रायचंदजी कच्छ गुजरात की ओर पधार रहे थे। मुनि जीतमलजी उग्रविहारी थे, उन्होंने अपनी भावना के अनुसार वहां सिरियारी जाकर मुनिश्री हेमराजजी के दर्शन किए। दस दिन वहां रहे। वहां से पुनः विहार करते हुए कांकरोली पधारे। वहां श्राविका सुखी बाई ने दीक्षा प्रदान करने की अर्ज की और आप पांच रात यहां विराजे यह भी निवेदन किया। जयमुनि ने कहा – मैं शीघ्र गुरु सन्निधि में पहुंचना चाहता हूं अतः यहां रहने का समय नहीं है।

नाथद्वारा होते हुए जयमुनि खमणोर पधारे। वहां सुखी बाई अपने परिवार को लेकर पहुंच गई और दीक्षा स्वीकार की। जयमुनि ने उनको दीक्षित कर वयोवृद्ध

साध्वी चन्दनांजी को सौंप दिया। उनका नाम रखा था साध्वी सुखांजी।

सं. 1896 में वे शेषकाल में विहार करती–करती सिरियारी पहुंची। उस समय वे वृद्धावस्था के कारण शक्तिहीनता का अनुभव कर रही थी। उनके मन में गुरुदर्शन की तीव्र आकांक्षा पैदा हो गई, पर स्वास्थ्य साथ नहीं दे रहा था। भाग्ययोग से कुछ ही दिनों के बाद तृतीयाचार्य रायचंदजी सिरियारी पधार गए। अचानक मनोकामना सफल होने से उनका मन खिल उठा, आनन्द का पार नहीं रहा। उस समय सिरियारी में लगभग 55 साधु साध्वियों की उपस्थिति थी। उस समय लगभग 1 महीने तक गुरु–उपासना का दुर्लभ अवसर मिला। साध्वी चन्नणांजी कृतकृत्य हो गई। आचार्यप्रवर ने स्वयं पधार कर उनको दर्शन दिए, कृपापूर्ण शब्दों से आत्मतोष प्रदान किया। उसी वर्ष सिरियारी चातुर्मास में साध्वी चन्नणांजी अधिक अस्वस्थ हो गई। साध्वी दीपांजी (90) का चातुर्मास सिरियारी के आसपास ही था, वे दर्शन करने आई। चातुर्मास सम्पन्न होते हुए आचार्य रायचंदजी ने सिरियारी पधार कर पुनः दर्शन दिए और सात दिन सेवा कराई। जिससे साध्वीजी का मन प्रसन्नता से झूम उठा।

उस समय सिरियारी में स्थान की सुविधा न होने से आचार्यवर ने उनको कंटालिया पहुंचा दिया। उस समय उनके स्वास्थ्य की अनुकूलता थी। वहां पहुंचने के कुछ समय पश्चात एक दिन श्वास–प्रकोप बढ गया। उस समय उनके मन में गुरु–दर्शन की प्रबल उत्कंठा जागी और जब तक गुरु दर्शन न हो तब तक तिविहार तपस्या का प्रत्याख्यान कर दिया। उस समय आचार्यश्री दुघोड़ विराज रहे थे। श्रावकों ने काशीद भेजकर साध्वीजी की स्थिति के विषय में निवेदन कराया, पर आचार्यश्री के पधारने से पहले ही आजीवन अनशन कर लिया और पण्डित मरण को प्राप्त हो गई। सं. 1996 पौष बदी 9 कंटालिया में चार प्रहर के अनशन में वे दिवंगत हो गई। श्रावक समाज ने पच्चीस खंडी मंडी बनाकर बड़े उत्साह के साथ लोकाचार सम्पन्न किया।

साध्वी चन्नणांजी के गुणोत्कीर्तन की दो गीतिका उपलब्ध है। एक श्रीमज्ज्याचार्य कृत है और दूसरी मुनि हेमराजजी द्वारा बनाई गई है।

मुनि हेमराजजी रचित गीत सं. 1896 पौष शुक्ला बारस, बुधवार कंटालिया में बनाई गई है।

दूसरा गीत सं. 1896 बैसाख शुक्ला 6 पाली में बनाया गया। उस समय जयाचार्य युवाचार्य थे।

2 साध्वी चत्रूजी (बाजोली) (65)

साध्वी चत्रूजी बाजोली की रहने वाली थी। उन्होंने पति वियोग के बाद साध्वी आसूजी (पीपाड़) द्वारा सं. 1866 में दीक्षा स्वीकार की। दीक्षा के पश्चात आचार्यश्री भारीमालजी ने उनको साध्वी हीरांजी को सौंप दिया। साध्वी चत्रूजी की बुद्धि प्रखर थी। उन्होंने साध्वी हीरांजी के पास गहरा ज्ञान किया और तीस आगमों का वाचन कर गंभीर धारणा की। व्याख्यान की शैली उनकी प्रभावी थी। स्वभाव से वे निर्भीक थी और साहसी थी। वे तत्त्वचर्चा में निपुण थी। प्रश्नों के जबाव देने में चतुर ही नहीं, प्रत्युत्पन्न बुद्धि वाली थी। स्वमती अन्यमती लोगों में उनकी गहरी धाक पड़ती थी। साधुचर्या के प्रति जागरूक रहते हुए उन्होंने संघ की अच्छी सेवा की तथा गुरु दृष्टि की समर्पण भाव से आराधना की।

उस समय चत्रूजी नाम की कई साध्वियां थी। उनका रंग सांवला (काला) था, इसलिए उनका दूसरा नाम 'कालिकी' पड़ गया। उनकी प्रकृति में कठोरता और वाणी में कड़ुवापन था। जिससे उन्हें पिशाची भी कह दिया जाता था।

उन्होंने अग्रगामी बनकर अनेक वर्षों तक विचरण किया। वे जहां भी जातीं, भाई बहिनों के वैराग्य भाव को वृद्धिंगत करती। उसी का सुपरिणाम था कि उन्होंने बारह साध्वियों को अपने हाथ से दीक्षा दी।

1. साध्वी झूमांजी (103) को संवत 1881 शवगढ़ में दीक्षा दी।
2. साध्वी चांदूजी (104) थांदला वालों 1881 थांदला में ही शवगढ़ से तीन मील की दूरी पर दीक्षा दी।
3. साध्वी सिणगारांजी (121) 'कोलिया' को 1881 में डीडवाना में दीक्षित किया।
4. 5.6. साध्वी किस्तूरांजी तुलछांजी और कुनणांजी तीनों लाडनूँ की थीं और तीनों को लाडनूँ में ही दीक्षा दी।
7. साध्वी बरजूजी (रतनगढ़) को 1881 में दीक्षित किया।
8. साध्वी लिछमांजी (बीदासर) को 1892 मृगसर बदि को संभवत: बीदासर में ही दीक्षा दी।
9. साध्वी गुलाबांजी लाडनूँ की थी, उन्हें 1896 मृगसर बदि 9 को बीदासर में

दीक्षा दी।

10. साध्वी तीजांजी (कोटासर) को श्रीडूंगरगढ में 1900 की साल दीक्षित किया।

11. साध्वी चांदूजी (पोखरजी) को 1906 बाजोली में दीक्षित किया।

12. साध्वी ज्ञानांजी को (70) सत्तर वर्ष की वृद्धावस्था में ईडवा में दीक्षा दी। साध्वी चत्रूजी की बहिन थी, उन्हें संवत 1910 मृगसर वदि 3 को दी। यद्यपि ख्यात में साध्वी चत्रूजी के हाथ से सात दीक्षा होने का उल्लेख है– लाडनूँ में हुई तीन दीक्षा साध्वी किस्तूरांजी, तुलछांजी, कुन्नणांजी तथा डीडवाना के सिणगारांजी, बरजूजी (रतनगढ़) लिछमांजी तथा गुलाबांजी।

सं. 1896 में उनका बीदासर में चातुर्मास था, इसलिए साध्वी गुलाबांजी की दीक्षा उनके हाथ से ही प्रमाणित होती है।

सं. 1910 में साध्वी चत्रूजी का ईडवा में चातुर्मास था, अतः अपनी बड़ी बहन को उन्होंने ही दीक्षा दी, ऐसी प्रबल संभावना लगती है।

सं. 1906 में बाजोली चातुर्मास से चान्दूजी की दीक्षा भी उन्हीं के हाथ से हुई, यह निर्णय उचित लगता है।

सं. 1896 में उनका चातुर्मास बीदासर में था। सरदारसती ने दीक्षा के लिए जाते समय चत्रूजी के दर्शन किए, ऐसा सरदार सुजस में जयाचार्य ने उल्लेख किया है। उनके साथ प्रायः आठ नौ साध्वियों के रहने का वर्णन मिलता है। साथ वाली साध्वियां भी तपस्या अच्छी करती थीं।

आचार्यश्री रायचंदजी राजनगर में विराज रहे थे। गुरु दर्शनार्थ साधु-साध्वियों के अनेक सिंघाड़े वहां आए हुए थे। मुनिश्री हेनराजजी जिस दिन वहां पहुंचने वाले थे, आस पास के गांवों के लोग पहले पहुंच गए, क्योंकि उनके मन में एक विशेष आकर्षण था कि हेमराजजी स्वामी पधारे तो आचार्य ऋषिरायजी सामने पधारकर उन्हें वन्दना करेंगे -यह मिलन का दृश्य देखने की सबमें उत्कण्ठा थी।

लेकिन उस दिन ऋषिराजजी सामने नहीं पधारे। मुनि श्री हेमराजजी स्थान पर पधार कर बाजोट पर बैठ गए। उस समय आचार्यों से दीक्षा पर्याय में बड़े साधु उनके सामने बाजोट पर बैठ जाते थे। ऋषिराय ने भी बाजोट पर बैठे-बैठे ही वन्दना कर ली।

लोगों के मन में ऊहापोह खड़ा हो गया। वे सोचने लगे ..... यह क्यों हुआ? न जाने अब क्या होगा? उसी समय श्रावक जसराजजी मारु ने उपालंभ की भाषा में ऋषिराय से कहा -आपने यह क्या किया? आप सामने पधारते तो अनेक लोगों को कितनी खुशी होती एवं कितने कर्म कटते?

मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) वहीं खड़े थे। उन्होंने लोगों को टोकते हुए कहा- आचार्य की इच्छा हो तो सामने जाए और इच्छा न हो तो न भी जाए। इस विषय में तुम श्रावकों को बीच में पड़ने की क्या आवश्यकता है?

यह सुनकर जन समूह को आश्चर्य हुआ। कुछ समय पश्चात् एकांत देखकर मुनि जीतमलजी ने ऋषिराय को निवेदन किया- आपको बाजोट से नीचे उतरकर वन्दना कर लेनी चाहिए थी।

ऋषिराय ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा- जीतमल! इतना ही क्यों? मैं तो बहुत बार हेमराजजी स्वामी के सामने गया हूँ और आगे भी जाता रहूँगा। इस बार तो इस कालकी (साध्वी चत्रूजी) के कहने से नहीं गया। साध्वियों की इच्छा थी कि आप यहीं विराजे तो हम भी मिलाप को देख सकेंगे।

इससे स्पष्ट है कि ऋषिराय महाराज का साध्वी चत्रूजी पर कितना कृपा भाव था। एक आचार्य साध्वी की बात मानकर यदि किसी प्रसंग या घटना को मूल्य देते हैं तो उस साध्वी के व्यक्तित्व की पहचान स्वयं में महत्त्वपूर्ण बन जाती है। उनकी प्रत्युत्पन्न मेधा भी जबरदस्त थी। उसका निदर्शन है- निम्नोक्त उदाहरण-

संवत 1908 में जयाचार्य के पदासीन होने के पश्चात् साध्वी श्री ने चींपिया (कांटा निकालने की चिंपडी) तथा एक बेंत की छड़ी भेंट की। साध्वियों द्वारा साधु-साध्वियों के लिए उपयोगी उपकरण आचार्यों को भेंट किए जाते हैं पर ये दोनों चीजें देखकर सबको विस्मयमिश्रित उत्सुकता हुई।

इस उपहार में साध्वी चत्रूजी की जो भावना निहित थी, उसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा- गुरुदेव! इस चींपियां की तरह हम साधु-साध्वियों के दुर्गुण रूपी कांटे निकालते रहें।

बेंत की छड़ी भेंट करने का मेरा तात्पर्य है- आपके सामने सब बेंत (अवसर) मनोनुकूल रहें, यह मेरी मंगल कामना है।

उनमें संघ संघपति के प्रति अगाध निष्ठा थी। आचार्यों की मरजी की तरह समय पर मिलने वाले उपालंभ को भी वह हंसते-हंसते झेलना जानती थी। सं. 1910 में जयाचार्य कांकरोली के रेती बाजार में विराज रहे थे। जयाचार्य ने साध्वी चत्रूजी की सहयोगिनी साध्वी बरजूजी (139) को किसी भूल के लिए कड़ा उपालंभ दिया। तब साध्वी चत्रूजी ने मुस्कुराते हुए कहा- "देखो, देखो! गुरुदेव बच्चों को पालने में झूला रहे हैं।"

इससे स्पष्ट है कि गुरु द्वारा कठोर शब्दों में दी गई शिक्षा को सुनकर वे भी अस्थिर या अधीर नहीं होती थीं प्रत्युत् सकारात्मक चिन्तन से मन को हल्का कर सह लेती थी। इससे लगता हैं कि उनका सम्पूर्ण जीवन श्रद्धा से आप्लावित था, निष्ठा से परिष्कृत था और समर्पण से रंगा था।

वे उपवास बेले, तेले आदि तपस्या बहुत करती थी। उन्होंने सोलह की तपस्या तीन बार की। प्रतिवर्ष एक बार वे दस पचक्खाण करतीं। बहुत वर्षों तक उन्होंने पांच विगय के त्याग रखे, केवल कड़ाई विगय को ही उपयोग में लेती। उन्होंने तीस वर्ष तक शीतकाल में एक पछेवडी में सोकर सर्दी सहन कर बहुत-बहुत कर्म निर्जरा की।

सं. 1914 में केलवा चातुर्मास कर वे राजनगर पधारीं। वहां उन्होंने पौष सुदी 4 को दो मुहूर्त्त के चौविहार संथारे में समाधि मरण प्राप्त किया।

3. साध्वी चत्रूजी (छोटा तोषीणा) (70)

साध्वी चत्रूजी मारवाड़ के तोषीणा गांव की थी। उन्होंने पति तथा भरापूरा समृद्ध परिवार छोड़कर बड़े वैराग्य से संयम साधना स्वीकार की। वे नाहर परिवार की थी। उन्होंने सं. 1868 में साध्वी फत्तूजी के साथ दीक्षा ली। उन्होंने दीक्षा कहां ली और किसके द्वारा ली, यह जानकारी उपलब्ध नहीं है। आर्यादर्शन गीत 5 के गाथा 43 में जयाचार्य ने उनकी दीक्षा का उल्लेख करते हुए लिखा है –

.....लघु चत्रू वर्ष अडसठे।
पिउ तज चरण सुजोग रे, तोषीणा रा न्हार ते।। कीर्ति गाथा पृ. 173

साध्वी चत्रूजी प्रकृति से भद्र, सहज सरल, वैराग्यवती साध्वी थीं। वे समिति गुप्ति की साधना में अच्छी जागरूक, अनाशक्त, निस्संग तथा संयम में लयलीन रहने वाली साध्वी थीं। संघ, संघपति के प्रति उनका गहरा तादाम्यभाव था। उनके मन में गुरुसेवा की भावना निरन्तर बनी रहती।

अग्रगामी बनकर उन्होंने मेवाड़, मारवाड़, थली, हाडोती और ढूंढाड़ में विहरण किया। जहां–जहां उन्होंने विचरण किया, प्रतिबोध देकर अच्छे श्रद्धालु श्रावक बनाएं। चार बहिनों को संयम देकर संघ वृद्धि में अपना योगदान दिया। साध्वी चत्रूजी द्वारा दीक्षित साध्वियां –

साध्वी सिणगारांजी पीसांगण (179) को सं. 1879 को जेठ कृष्णा 5 को मेवाड़्या में दीक्षा दी।

साध्वी हस्तुजी (191) सबलपुर को सं. 1899 पौष कृष्णा 10 को सबलपुर में दीक्षा दी।

साध्वी जीऊजी (243) रीणी (तारानगर) को सं. 1905 मृगसर सुदी 3 को दीक्षा दी। दीक्षा स्थान ख्यात में चुरु तथा आर्यादर्शन में रीणी लिखा हुआ है।

साध्वी सरदारांजी बडू (247) को बोरावड़ में दीक्षा दी। इसके अलावा उन्होंने साध्वी सदाजी बोरावड (150) को दीक्षा साध्वी चत्रूजी ने दी, ऐसा उनके जीवन वृत्त तथा जयाचार्यश्री द्वारा रचित साध्वी सदाजी गुण वर्णन गीत से स्पष्ट होता है।

सं. 1895 बारोवड़ में साध्वी सदाजी ने संलेखना संथारा किया तब साध्वी

चत्रूजी ने उन्हें अच्छा सहयोग देकर उनके साथ पूर्ण प्रीति निभाई। जयाचार्य के शब्दों –

छोटा चत्रूजी सहाज आछो दियो रे, व्यावच रूडी रीत।
विविधपणै परिणाम चढाय नै रे, पूरण पाली प्रीत।।

साध्वी सदाजी ने मात्र 28 महीने चारित्र का पालन किया। उनकी दीक्षा बोरावड़ में साध्वी चत्रूजी छोटा के हाथ से हुई, ऐसी प्रबल संभावना है।

तीन आचार्यों की दुर्लभ सन्निधि

साध्वी चत्रूजी को तीन आचार्यों – भारीमालजी, रायचंदजी और जयाचार्य की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनका मन गुरु भक्ति के मजीठी रंग से रंगा हुआ था। उनके मन में गुरुसेवा की बड़ी तमन्ना रहती। अस्वस्थता और वृद्धावस्था की वे परवाह नहीं करती, जब भी गुरुदर्शन का मौका मिलता उसका लाभ अवश्य उठाती। उनका मनोबल इतना मजबूत था कि छोटे–छोटे विहार करके भी गुरुदर्शन को पहुंच जाती। गुरुकुलवास में होने वाली सामूहिक जीवन की कठिनाइयां उन्हें कभी विचलित नहीं करती। आहार, पानी, स्थानादिक की कठिनाई में कभी अधीरता का भाव नहीं आता, प्रत्युत उनको गुरु सन्निधि की प्रसन्नता के सामने उन्हें सारी दुविधाएं गौण लगती। जयाचार्य ने उनकी मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए अपने गीत में लिखा है –

तन कारण पिण विहरंता, गुरुदर्शन कर चित्त हरषंता।
करी बहु दिन हर्ष अधीको।।
सीख दीधा पिण विहार करै नांहि, अति हरख दर्शण हिया मांहि।
ए गुण विरला जन गुणी को।।
कायर जे दिन अल्प रही, सीख मांगी विहार करै उमही।
एहवो कायरपणो नाहिं ए सती को।। कीर्ति गाथा पृ. 310

जब–जब वे गुरुदर्शन के लिए पहुंचती, अधिक से अधिक समय तक रहने का उनका मन रहता। आचार्यश्री विहार का निर्देश देते, विहार की बात करते तब भी साध्वी चत्रूजी जहां तक बन सकता आगे सरकाने का प्रयत्न करती। जयाचार्यश्री की दृष्टि में सामूहिक जीवन की कठिनाइयों से घबराने वाली कायरता उनमें नहीं थी। संघीय मर्यादाओं के प्रति उनका हार्दिक समर्पण भाव था। वे जागरूकता और

प्रामाणिकता के साथ मर्यादाओं का पालन करतीं। अपने समय को कभी प्रमाद में नहीं खोतीं। तप और जप में लीन रहकर अपने संयमी जीवन को तेजस्वी बनाने का प्रयत्न करतीं। वे एक दाठीक साध्वी थी और समय पर अच्छी निर्णायक क्षमता का परिचय देती।

एक बार पाली के श्रावकों ने जयाचार्यश्री के दर्शन कर अपने गांव में साधुओं का ही चातुर्मास करने का निवेदन किया। तेरापंथ धर्मसंघ में साधु का ही, अथवा साध्वियों का ही चातुर्मास कराएं, ऐसी प्रार्थना करने की परम्परा नहीं है। इसी आधार पर जयाचार्यश्री ने उस वर्ष पाली चातुर्मास नहीं कराने की मानसिकता बना ली। जिससे पाली श्रावक समाज को सीख मिले और भविष्य में सावधानी रख सके। यह सं. 1912 की बात है। जयाचार्य ने पाली चातुर्मास न फरमाकर खैरवा ग्राम में साध्वी चत्रूजी का चौमासा फरमा दिया। पाली के कुछ श्रावकों की समझ में आ गया कि आचार्यदेव की हमारे पर दृष्टि कड़ी है।

अतः इस वर्ष हमें चातुर्मास मिलेगा यह उम्मीद भी नहीं है। पर खैरवा जैसे छोटे क्षेत्र को चौमासा मिले और पाली जैसे बड़े क्षेत्र को न मिले – यह हमारे लिए इज्जत का प्रश्न है। आषाढ महीना निकट आ गया, इसलिए हमें ही कोई उपाय ढूंढना चाहिए और नया रास्ता बनाना चाहिए। क्षेत्र की इज्जत बचाने के नशे में समझदार श्रावकों ने संघ की रीति, नीति और परम्परा को नजर अन्दाज कर ठीक चातुर्मास प्रारंभ होने से दो दिन पहले एक जाली कागज खैरवा के प्रमुख श्रावकों के नाम से दिया। जिसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा – साध्वीश्री को वन्दना मालूम कर निवेदन करें कि पूज्य जयाचार्यश्री ने आपका चातुर्मास पाली फरमाया है। अतः आप जल्दी से जल्दी पाली पधारें। खैरवा के श्रावक समाज को इस तरह अचानक उपलब्ध चातुर्मास चले जाने से आन्तरिक कष्ट तो हुआ, लेकिन गुरु–आज्ञा के सामने बोल नहीं सके। साध्वी चत्रूजी गुरु–आज्ञा को शिरोधार्य कर आषाढ शुक्ला चवदस या पूर्णिमा के दिन पाली पहुंच गईं। चातुर्मास प्रारंभ हो गया।

श्रावकों ने मिल बैठकर चिन्तन किया – अब पावस प्रारंभ हो गया है, साध्वियां कहीं जा नहीं सकती। दूसरी बात हमने मनमाने ढंग से गलती कर ली है, यह छिपाए छिप नहीं सकतीं, इसलिए साध्वियों के सामने सारी स्थिति हमें स्पष्ट कर देनी चाहिए, यही उचित रहेगा। जब श्रावकों ने गलती स्वीकार करते हुए सारा घटना–क्रम सुनाया, साध्वियां अवाक् रह गई। पाली के श्रावक ऐसा कर सकते हैं, साध्वियों के सोच से बाहर की बात थी। साध्वी चत्रूजी ने श्रावक–समाज को

उलाहना देते हुए कहा – आप लोगों ने धर्मसंघ की मर्यादा के विपरीत काम किया है और जानबूझकर गुरु दृष्टि की अवहेलना की है। गुरुदेव के द्वारा तो आपको जो कुछ मिलना है मिलेगा ही पर हम भी यह निर्णय लेते हैं कि – "गुरुदेव ने हमारा यहां चातुर्मास फरमाया नहीं, आप लोगों ने छल–बल कर अपने आप हमें यहां चौमासे के लिए बुला लिया। चातुर्मास शुरु हो गया, हम वापिस तो जा नहीं सकते, पर पूरे चार महीने हम आपके घरों की गोचरी नहीं करेंगे और व्याख्यान नहीं सुनाएंगे।"

साध्वीजी का साहसिक और वजनदार निर्णय सुन श्रावक समाज में हलचल व्याप गई। अगर व्याख्यान और पात्रदान का लाभ ही न मिले तो चातुर्मास होना भी न होना जैसा हो गया। इसलिए सब घबरा गए और मन ही मन पश्चात्ताप करने लगे। अब उनके सामने चारों ओर समस्या के बादल घिर आए, उसमें प्रकाश की एक मात्र किरण थी – गुरु चरणों में पहुंचकर अपनी भूल स्वीकार करना। तत्त्काल श्रावकों का एक दल उदयपुर जयाचार्यश्री के दर्शनार्थ गया।

श्रावक सब संघीय रीति–नीति के जानकार थे, शासन भक्त थे और गुरु के प्रति समर्पित थे। भावावेश में की गई गलती के प्रति भी व्यथा–ग्रस्त थे। गुरुदर्शन के लिए पहुंचते ही उन्होंने एक स्वर से खमाघणी के स्थान पर कहा – 'हम गुनहगार आपके चरणों में उपस्थित हैं, हमने बहुत बड़ी गलती की है, आप हमें क्षमा करें। आप मालिक हैं, हम आपके भक्त हैं, दास हैं। पुत्र कुपुत्र हो सकता है, माइत माइत ही रहते हैं, आप हमें जो भी दण्ड दें स्वीकार करेंगे.....इस प्रकार अत्यन्त विनम्रता और सरलता के साथ अपनी बात प्रस्तुत की।'

जयाचार्यश्री ने कड़े शब्दों में अनुशासनात्मक कार्रवाही करते हुए – मनमाने ढंग से जो कार्य तुम लोगों ने किया, उसमें संघीय मर्यादा और गुरु आदेश का बिल्कुल ध्यान नहीं रखा। तुम लोग केवल नाम के श्रावक हो तुम्हारे में विवेक की बड़ी कमी है। इस तरह पांच सात दिन तक कठोर दृष्टि के साथ जयाचार्यश्री का उपालंभ श्रावकों को मिलता रहा। पाली के श्रावकों ने गुरु की खीज को धीरता, विनम्रता, सहनशीलता और सकारात्मक सोच के साथ ग्रहण की, वह भी एक नजीर जैसी थी। वे बार–बार अपनी गलती के लिए क्षमायाचना करते रहे। श्रावक समाज के योग से गुरु को हुई मेहनत के लिए प्रायश्चित की भाषा बोलते रहे।

पाली के श्रावकों की गणभक्ति, गुरुनिष्ठा और संघनिष्ठा देख जयाचार्यश्री का दिल पिघल गया। कसौटी पर खरे उतरे श्रावकों को प्रसन्न मुद्रा में सम्बोधित

किया। वहां प्रवासी साध्वियों को गोचरी करने और व्याख्यान देने का निर्देश दिया। उत्तरोत्तर अभिव्यक्त होती संघनिष्ठा से प्रभावित हो स्वयं का सं. 1913 का चातुर्मास पाली के लिए घोषित कर खीज पर रीझ का उदाहरण प्रस्तुत किया। पाली के श्रावकों का मनमयूर नाच उठा। गुरुदेव के गुणगान करते फूले–फूले पाली पहुंचे और साध्वी चत्रूजी को सारे समाचारों की जानकारी दी।

साध्वी चत्रूजी पाली चातुर्मास सम्पन्नकर शेषकाल में लाटोती, बिलाड़ा, बलुंदा होती हुई आणंदपुर (कालू) पहुंची। वहां जयाचार्यश्री के दर्शन किए। उन दिनों उनका स्वास्थ्य कमजोर–सा था। आचार्यप्रवर के पास उन्होंने आत्मालोचन किया। आचार्यवर ने उनको महाव्रतारोपन कराया। वहीं सं. 1913 की बैसाख पूर्णिमा को निर्मल भावों से अनशनकर स्वर्गस्थ हो गई।

जयाचार्यश्री ने साध्वीजी के दिवंगत होने के सात दिन बाद उनके गुणोत्कीर्तन की एक गीतिका बनाई। जिसकी उन्नीस गाथाओं में उनके जीवन की सांगोपांग प्रस्तुति दी है।

4. साध्वी कल्लूजी (रोयट) (74)

साध्वी कल्लूजी रोयट निवासी आईदानजी गोलेछा की पत्नी थी और मुनि स्वरूपचंदजी, भीमजी तथा जीतमलजी (जयाचार्य) की जननी थी। आईदानजी की बहन, कल्लूजी की ननद साध्वी अजबूजी ने सं. 1844 में आचार्य भिक्षु के हाथों दीक्षा स्वीकार की। यह इस परिवार की पहली दीक्षा थी। इन्हीं की प्रेरणा व उपदेश से गोलेछा परिवार में धर्म जागरणा हुई जो उत्तरोत्तर बढ़ती गई। सं. 1862–63 में साध्वी अजबूजी रोयट पधारी और बालक जीत की अस्वस्थता के कारण कल्लूजी चिंतित थी। उस समय साध्वी अजबूजी ने संकल्प की महौषधि प्रदान की। उसका अचिन्त्य प्रभाव हुआ और बालक स्वस्थ हो गया। इस घटना का कल्लूजी के जीवन पर प्रभाव पड़ा।

उसी वर्ष यानी 1863 में रोयट को मीरखां डाकू ने लूट लिया, उस सदमे से आईदानजी की मृत्यु हो गई। इस हादसे ने भी धार्मिक मनोवृत्ति को वृद्धिंगत किया। पतिवियोग के दुःखद क्षणों में मां का दायित्व निभाते हुए तीनों पुत्रों का पालन पोषण करती रहीं। कई वर्षों के बाद वे अपने तीनों पुत्रों को लेकर किशनगढ आकर रहने लगी। वहां सबसे बडे पुत्र स्वरूपचंदजी ने व्यापार में अपने आपको नियोजित किया। वहां गए कुछ ही दिन हुए थे कि आचार्यश्री भारीमालजी का किशनगढ पदार्पण हुआ। उस शुभ अवसर का लाभ कल्लूजी ने अच्छा उठाया। वे अपने तीनों पुत्रों को लेकर जाती। उस समय मुनिश्री हेमराजजी भी साथ थे। उस वर्ष उनका चातुर्मास किशनगढ में हुआ। उनकी उपासना का लाभ उठाकर कुछ समय पश्चात वे तीनों पुत्रों को लेकर आचार्यश्री भारीमालजी की सेवा करने जयपुर चली गई। आचार्यश्री की पावन सन्निधि में बंधुत्रय अपनी मां के साथ उपासना व्याख्यान श्रवण आदि से अपने आपको भावित करते रहे। कल्लूजी जयपुर में लाला हरचंदलालजी के मकान में ठहरी।

चातुर्मास के बाद अस्वस्थता के कारण आचार्यश्री भारीमालजी का वहां से विहार न हो सका। इसलिए मृगसर महीने से ही बहिर्विहारी साधु साध्वियों का आगमन प्रारंभ हो गया। उस समय साध्वी अजबूजी ने सबसे बड़े भतीजे स्वरूपचंदजी को दीक्षा के लिए सलक्ष्य प्रेरणा दी। संयोग की बात साध्वीजी की प्रेरणा से उनका सोया वैराग्य जाग गया। बालक जीतमल की दीक्षा भावना पहले से ही थी। सं. 1869 की पौष शुक्ला नवमी को आचार्यश्री भारीमालजी ने स्वरूपचंदजी को दीक्षा दी और मुनि रायचंदजी ने जीतमलजी को दीक्षित किया।

दो पुत्रों को धर्मसंघ में समर्पित करने के बाद मां कल्लूजी और मध्यम पुत्र भीमजी के मन में वैराग्य की घटाएं गहराने लगी। विचार संकल्प बना और गुरुचरणों में पहुंच गए। उसी वर्ष फाल्गुन शुक्ला 11 को जयपुर की मोहनबाडी में आचार्यश्री भारीमालजी के हाथों दीक्षा स्वीकार की। दीक्षा के समय साध्वी अजबूजी भी वहीं थी। दीक्षा के पश्चात साध्वी कल्लूजी को आचार्यश्री ने साध्वी अजबूजी को सौंप दिया।

साध्वी कल्लूजी का अंतरंग व्यक्तित्व प्रभावशाली था। वे साध्वाचार में अत्यधिक जागरूक, कार्य में दक्ष और नीतिमान थीं। वे हर काम में तत्पर रहतीं। उनकी आकृति सौम्य थी और स्वभाव से गंभीर थीं। उनमें विनय और वैराग्य का अद्भुतसंगम था। वे महान तपस्विनी थी। उनका आचार उत्तम और समता बेजोड़ थी। वे साधु साध्वियों को साता देने वाली थी। स्वयं जयाचार्य ने उनके गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है –

सील सिरोमण समता सागर, संत सत्यां नै घणी सुहावती।
सैणी सुगुणी गण में सुखदाय।।
गुण घणां सती कलूजी मांहि, मोंसूं पूरा गुण कह्या जाय नथी।
याद आयां हिवड़ो हुलसाय।।

कल्लू गुण वर्णन गीत 3 गा. 12, 13

विविध आयामी तपःसाधना

साध्वी कल्लूजी की तपस्या में सहज रूचि थी। संयम साधना के साथ तप साधना का मणिकांचन योग उनके जीवन में देखा जा सकता है। प्रतिवर्ष उनकी तपस्या का ग्राफ ऊपर चढता रहा। प्रथम चातुर्मास में एक पंचोला, दूसरे में अठाई तीसरे में पन्द्रह, चौथे में सत्रह, पांचवें में बीस और छठे चातुर्मास में उन्होंने मासखमण तप किया। उसी प्रकार सातवें से ग्यारहवें चातुर्मास में एक–एक मासखमण किया। उसके बाद पांच वर्षों में उन्होंने उपवास, बेले, तेले, चोले और पंचोले अनेक अनेक बार किए जिनकी गणना उपलब्ध नहीं है।

संलेखना–संथारे की उत्कंठा

दीक्षा का सतरहवां (17) वर्ष चल रहा था। उनका स्वास्थ्य सामान्यतया ठीक था। पांचों इन्द्रियां पूर्णरूपेण काम कर रही थी। नेत्र ज्योति भी अच्छी थी। उन्हें खांसी की शिकायत हो गई। जो खास बात नहीं थी, फिर भी साध्वी कल्लूजी के मन में संलेखना की तीव्र उत्कण्ठा जाग गई। यह सं. 1886 की बात है। साध्वी अजबूजी के साथ वे खैरवा में प्रवास कर रही थी। यह चातुर्मास सम्पन्नता के बाद की बात

है। संभवतः उस वर्ष का चौमासा उन्होंने वहीं किया हो। तृतीयाचार्यश्री रायचंदजी पाली चातुर्मास कर खैरवा उन्हें दर्शन देने पधारे। उस समय बंधुत्रिपुटी मुनिश्री स्वरूपचंदजी, भीमजी और जीतमलजी भी आचार्यश्री के साथ थे। आचार्यवर ने साध्वी कल्लूजी को सेवा का उत्कृष्ट लाभ दिया, तथा तीनों पुत्रों ने मातृऋण से उऋण होने के अनुपम अवसर का पूरा लाभ उठाया। उस समय वहां 43 साधु साध्वियां उपस्थित होने से उत्सव–सा माहौल बन गया। जयपुर और पाली के श्रावक भी बहुत अच्छी संख्या में पहुंच गए, जिससे छोटा–सा गांव भी विशाल लगने लगा। आचार्यश्री रायचंदजी का 25 दिन खैरवा विराजना हुआ।

एक दिन साध्वी कल्लूजी ने अपनी अन्तर अभिलाषा प्रकट करते हुए संलेखना की आज्ञा मांगी। आचार्यवर ने उनकी शारीरिक सक्षमता को देखकर कहा – अभी तुम शक्ति सम्पन्न हो फिर संलेखना की जल्दी क्यों कर रही हो? वहां उपस्थित अन्य साधु साध्वियों ने भी जल्दी न करने की सलाह दी पर साध्वीजी ने तीव्र आकांक्षा प्रकट करते हुए कहा – मेरा मन अब तपस्या करने के लिए उत्कण्ठित हो गया, आप मुझे स्वीकृति प्रदान करें। इस प्रकार अति आग्रह के साथ उन्होंने संलेखना की अनुमति प्राप्त की।

आचार्यश्री रायचंदजी का वहां से विहार हुआ, तब वहां से थली की ओर पधार रहे थे। इसलिए मुनि स्वरूपचंदजी और मुनि जीतमलजी को आपने साथ ले लिया तथा मुनि भीमजी को वहीं खैरवा साध्वी कल्लूजी को सेवा कराने के उद्देश्य से रखा।

यद्यपि साध्वी कल्लूजी ने संलेखना तप आचार्य रायचंदजी के खैरवा पदार्पण से पहले ही चालू कर दिया था। उनका क्रम इस प्रकार रहा। एक महीने तक उनोदरी तप किया। पूरे दिन में एक चपाती से अधिक खाने में नहीं ली। फिर पन्द्रह दिन एकान्तर तपस्या की। उसके बाद सात उपवास किए। फिर तेले तेले तपस्या प्रारंभ की। लगभग 50 तेले लगातार किए, बीच में 8 बेले किए यह सारी तपस्या चौविहार की। पारणे के दिन अच्छी उनोदरी करते और चार द्रव्य लेते – रोटी, पानी, साग और पापड़। बेले के पारणे में पूरे दिन में एक फुलका और तेले के पारणे में दो फुलका लेते। जय सुजस में मघवागणी ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है –

इक मास लग अवमोदरी, दिन पनर एकांतर भला।
पछे अठम अठम पारणे, तप करण लागा गुणनिला।।
सहु पचास तेला आसरै, तप बीच अठ छठ जाणियै।
वलि पारणे अवमोदरी अति, चौविहार कै माणियै।।

आचार्यश्री के खैरवा से विहार करने के पश्चात पौष कृष्णा पांच को उन्होंने पंचोले का प्रत्याख्यान किया। पांच से दस और पन्द्रह दिन की तपस्या की और पन्द्रहवें दिन मासखमण का नियम कर लिया। मासखमण में आधा सेर से ज्यादा पानी नहीं पिया और बीच बीच में सात दिन चौविहार भी रखा। मासखमण के पारणे के बाद एक अठाई और एक बार 11 की तपस्या की।

इसके अतिरिक्त साढे तीन महीने फिर एकांतर तपस्या की, पारणे में अधिकांश उणोदरी रखी और एक तेला किया।

संलेखना काल में की गई उपरोक्त घोर तपस्या से उनका शरीर अत्यधिक कृश हो गया। मात्र हड्डियों का ढांचा–सा रह गया, पर उनका मनोबल, धृतिबल और तपोबल उच्च से उच्च बना रहा। जयाचार्य ने उनके शौर्य का वर्णन करते हुए लिखा है –

सूर चढ़ै संग्राम में फिर पाछो नहीं जोवै लिगार।
सती तप–संग्राम सूरी घणी धिन धिन हो धिन सती अवतार।।
कल्लु गुणवर्णन गीत 2. गा. 10

पंडित मरण

सं. 1887 सावन सुदि 13 के पश्चिम पहर में अचानक उनके शरीर में असाता वेदनीय ने आक्रमण किया। शरीर अत्यधिक कमजोर हो चुका था, जबान बंद हो गई। मुंह से एक शब्द भी निकल नहीं पाया। अवसरज्ञ साध्वी अजबूजी ने साहस किया और उन्हें सागारी अनशन करा दिया। संथारा स्वीकार किए मात्र एक प्रहर बीती और साध्वी कल्लूजी देह को छोड़ विदेह की यात्रा पर निकल पड़ी।

5 साध्वी श्री दीपांजी (जोजावर) (90)

महासती दीपांजी का जन्म मेवाड़ देश के ताल ग्राम में सं. 1956 में हुआ। उनके पिता का माण्डोत गोत्र (लोहड़ा साजन, ओसवाल) था। अल्पायु में उनका विवाह जोजावर निवासी सोमाशाह बम्ब के साथ हुआ। नियति का ऐसा योग मिला कि कुछ समय पश्चात् सोमाशाह का देहान्त हो गया।

उन्हीं दिनों ग्रामानुग्राम विहार करती हुई साध्वीश्री आसूजी (26) जोजावर पधारी। उनके प्रेरक उपदेश को सुनकर उनके मन में वैराग्य-बीज अंकुरित हुए। पौद्गलिक संयोगों की क्षणभंगुरता का वे अनुभव कर ही चुकी थी। साध्वियों के पावन सान्निध्य में तत्त्व-ज्ञान और आध्यात्मिक चर्चा वार्ता से उनका वैराग्य पुष्ट हो गया और वे दीक्षा लेने के लिए उद्यत हो गई। उसके पश्चात अपने पारिवारिक जनों की आज्ञा लेकर सं. 1962 में उन्होंने साध्वी आसूजी के हाथ से जोजावर में दीक्षा ली। उस समय उनकी अवस्था सोलह वर्ष की थी। उनके छोटे भाई ने 1885 में संयम ग्रहण किया। वे प्रकृति से भद्र थे और तपस्वी थे।

साध्वी दीपांजी ने दीक्षित होने के पश्चात् साध्वी आसूजी के साथ आचार्य भारमलजी के दर्शन कर परम प्रसन्नता का अनुभव किया। आचार्यवर ने उनको साध्वी आसूजी को ही सौंप दिया। साध्वी दीपांजी ने साध्वी आसूजी के पास साधुचर्या में निपुणता प्राप्त कर विद्याध्ययन प्रारंभ किया। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी और मन एकाग्र था। इसलिए उन्होंने बत्तीस आगमों का वाचन किया। दर्शन के सूक्ष्म रहस्यों को जाना और बोल थोकड़ों की गहन गंभीर धारणा की। उन्हें स्वामीजी द्वारा रचित श्रद्धा-आचार आदि की हजारों गाथाएं कण्ठस्थ थीं। उनमें ज्ञान की प्रखरता थी, वचन का माधुर्य था और आवाज बुलन्द थी। उनके व्याख्यान का अपना अलग ही आकर्षण था, क्योंकि प्रवचन में हेतु और दृष्टान्त देने की उनमें अद्भुत कला थी। इसलिए उनका व्याख्यान सुनने के लिए अनेक गांवों के ठाकुर, मुसद्दी, हाकिम आदि आते। वे पौरुष की जलती मशाल थी तथा उनका साहस गजब का था। चर्चा-वार्ता करने में निर्भय थी, इसलिए अन्यमति लोग उनसे चर्चा करने में संकोच करते। उन्होंने गुरु की बहुत-बहुत कृपा दृष्टि प्राप्त की और गांव-गांव पुर-पुर में उनकी यश गाथाएं फैलने लगी। आन्तरिक व्यक्तित्व की भांति उनका बाह्य व्यक्तित्व भी सुन्दर, सुडौल और प्रभावशाली था।

साध्वी दीपांजी संघ-संघपति के चरणों में पूर्ण रूप से समर्पित थी, इसलिए

आचार्यों का अनुग्रह भी उन पर विशेष रहा। उनके कर्तृत्व और व्यक्तित्व की संघ पर अच्छी छाप थी। आचार्य श्री रायचन्दजी का उन पर विशेष वात्सल्य था। आचार्य श्री रायचन्द ने मुनि जीतमलजी को युवाचार्य-पद प्रदान विषयक पत्र लिखा, उसमें साध्वी दीपांजी का नामांकन किया है। उसे 'जय सुजस' आचार्य मघवा ने इन शब्दों में प्रस्तुति दी है-

सरूप ऊपर म्हांरी मुरजी घणीजी, कांइ सती दीपांजी नो जान।
थांसू मन राजी छै घणोजी, कांइ यांरी वनणा लीज्यो मान॥

उल्लेखनीय है कि तृतीयाचार्य श्री रायचन्दजी के शासन काल में साध्वी दीपांजी का मान-सम्मान और कर्तृत्त्व साध्वीप्रमुखा समतुल्य था। आचार्यों ने अनुकूल साताकारी क्षेत्र, पुस्तकें तथा अधिकाधिक साध्वियों को उनके पास रखकर संघीय सम्मान दिया। उनके सिंघाड़े में अधिकतम 23 साध्वियां रहीं। उन्होंने अनेक व्यक्तियों को सुलभ बोधि बनाया, श्रावक श्राविकाओं को धर्म लाभ दिया। इस प्रकार संघ की श्रीवृद्धि में उनका योगदान सराहनीय रहा। दस बहिनों को अपने हाथ से संयम रत्न प्रदान किया तथा 50 भाई-बहिनों को दीक्षा के लिए तैयार किया।

तेरापंथ धर्मसंघ की नींव को दीर्घकालीन तपस्या से गहरी करने का श्रेय भी साध्वी दीपांजी को है। तेरापंथ में छह-मासी जैसी दीर्घ तपस्या उनकी अद्‌भुत प्रेरणा से प्रारम्भ हुई।

साध्वी समाज में सर्वप्रथम साध्वी हस्तूजी 'चीवरा' ने संवत 1909 में 130 दिन की तपस्या (आछ के आगार से) साध्वी दीपांजी के पास की थी। इन्हीं साध्वी हस्तूजी ने 1992 की संवत में पुर ग्राम में उनके ही सान्निध्य में 193 की तपस्या (आछ के आगार) की, जिसका साध्वी-समाज में 66 वर्ष तक कीर्तिमान रहा।

विक्रम संवत् 1909 में उनका चातुर्मास 23 ठांणा से पुर में था। उस एक चातुर्मास में साध्वियों द्वारा की गई तपस्या का विवरण मन को आश्चर्य चकित करता है --

1. साध्वी श्री दीपांजी 9 दिन
2. साध्वी मलूकाजी 59 दिन और 32 दिन
3. साध्वी ज्ञानांजी 118 दिन
4. साध्वी हस्तूजी 193 दिन

5. साध्वी जेतांजी (चितामा) 31 दिन
6. साध्वी झूमांजी 30 दिन
7. साध्वी रोडांजी 30 दिन
8. साध्वी जेतांजी (रावलिया) 15 दिन
9. साध्वी मगनांजी (लाडनूं) 15 दिन
10. साध्वी सेवूजी 30 दिन
11. साध्वी रामूजी 31 दिन
12. साध्वी मगनांजी (पाली) 20 दिन
13. साध्वी सुन्दरजी 30 दिन और 12 दिन
14. साध्वी मूलांजी 30 दिन
15. साध्वी नन्दूंजी 31 दिन और 10 दिन
16. साध्वी साकरजी 11 और 8
17. साध्वी दोलांजी 13 दिन
18. साध्वी जेतांजी 9 दिन और 6 दिन
19. साध्वी रंगूजी 9 दिन
20. साध्वी कस्तूरांजी 10 दिन
21. साध्वी बगतूजी 9 दिन और 10 दिन

साध्वी छोटांजी और चूनांजी दोनों ने तपस्या नहीं की।

विक्रम संवत 1912 में जयाचार्य ने मेवाड़ में एक साथ 6 मासी तप का और एक सवा सात मासी तप का पारणा कराया। उनमें तीन संत और चार साध्वियां थी। उनके नाम थे-

1. साध्वी रंभाजी ने 6 मासी तप
2. साध्वी हस्तूजी ने 193 दिन का तप
3. साध्वी ज्ञानांजी ने 6 मासी
4. साध्वी जेतांजी ने 6 मासी

इन चारों साध्वियों ने भी साध्वी दीपांजी के सान्निध्य में तपस्या का महान् यज्ञ

सम्पन्न किया।

तपस्या के सन्दर्भ में कीर्तिमान स्थापित करने वाली साध्वी दीपांजी 1813 के ज्येष्ठ महीने में चौदह साध्वियों के साथ आमेट विराज रही थीं। एक दिन अन्य गांव का एक भाई घी लेकर वहां आया। रास्ते में साध्वियों के दर्शन करने आया, तब थोड़ा-सा व्रत निपजाने का निवेदन किया। श्रावक के अत्यन्त आग्रह भरे निवेदन पर स्वयं महासती दीपांजी ने थोड़ा-सा घृत लेने के लिए पात्र को नीचे रखा। श्रावक ने दान-भावना के अतिरेक में उच्च भावना के साथ सारा घी पात्र में उंडेल दिया। वह घी लगभग 3-4 सेर था। इतना घी साध्वियों के लिए उपयोग में लेना बहुत कठिन था पर महासती दीपांजी ने रोटियां और खीच आदि जो भी उपलब्ध हुआ, उसमें घी मिलाकर साध्वियों को खिला दिया।

सायंकाल के समय उन्होंने साध्वियों से पूछा-बोलो साध्वियों! क्या अब तपस्या करनी है? साध्वियों ने महासतीजी के अभिप्राय को गंभीरता से न लेकर सहज भाव से बोली- उपवास पचखा दीजिए।

महासती दीपांजी ने ओजभरी बुलन्द आवाज में कहा- इतना घी खाया है, क्या केवल उपवास ही करोगी? स्वामीजी ने तो पाली के बाजार में घी बिकता हुआ देखा था, उनकी तपस्या के प्रभाव से हमें तो आज खाने के लिए इतना घी मिला, अत: उसके अनुरूप तप करना चाहिए। घी के खाने से शरीर को पोषण मिला है, अब निराहार रहकर तपस्या करो, तभी घी खाने का सार निकलेगा। महासतीजी की वाणी में कुछ ऐसी जादूभरी प्रेरणा थी कि तपस्या में रुचि रखने वाली साध्वियों को संमोहित कर लिया। उपवास बेले तेले की तपस्या की भावना लेकर खड़ी होने वाली पांच साध्वियों की परिणामधारा को बढाते-बढाते उसी समय 6 मासी तप (आछ के आधार) का संकल्प स्वीकृत कर लिया गया। उन तपस्विनी साध्वियों के नाम इस प्रकार हैं-

1. साध्वी मलूकांजी
2. साध्वी गेनांजी (ज्ञानांजी)
3. साध्वी सुन्दरजी
4. साध्वी जेतांजी
5. साध्वी झूमांजी

इस प्रकार एक साथ पांच साध्वियों को छह मासी तप करवाकर उन्होंने भिक्षु शासन की नींव को एक साथ-ऊंचाई और गहराई दी। संघ में नया कीर्तिमान स्थापित हुआ। साध्वी दीपांजी स्वयं बहुत लम्बी तपस्या नहीं करती थी। पर समय-समय पर बहुत से थोकड़े- स्फुट तपस्याएं की । दस पच्चक्खाण आदि तप प्राय: करती रहती। सर्दी में कम उपकरणों का उपयोग भी सलक्ष्य करतीं। यह सर्दी सहन करना भी एक तप था।

तपस्या का अमोघ प्रभाव

संवत 1914 गदर के समय काले गोरों की फोजें भारत में लूट खसोट मचा रही थी। देवगढ़ की तरफ उनके आने की सूचना से आमेट की जनता में भयमिश्रित हलचल मच गई। उस समय आमेट के ठाकुर साहब का नाम चतरसिंह जी था। उन्होंने जनता के नाम विशेष आह्वान करते हुए कहा- "हमें भयभीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि हमारे गांव में छहमासी जैसी कठोर तपस्या करने वाली पांच-पांच साध्वियाँ विराजमान हैं। उनके तप-तेज व संयम के प्रताप से हमारे यहां किसी प्रकार का उपद्रव अथवा अनिष्ट होने की संभावना नहीं है। आशा ही नहीं, दृढ़ विश्वास है कि हमारे यहां पूर्णत: कुशलक्षेम रहेगा। यह सुनकर गांव के लोग आश्वस्त हो गए और वे फोजें भी आमेट की तरफ न आकर दूसरे रास्ते से निकल गईं। तपस्या का यह अमोघ प्रभाव देखकर आमेटवासी लोगों के मन में धर्म के प्रति आस्था के भाव गहरे हो गये।

निर्भयता की नजीर

एक बार महासती दीपांजी लावा सरदारगढ़ में विराज रही थी। वहां एक इतर जैन सम्प्रदाय के साधु भी प्रवास कर रहे थे। उन्हें अपने पांडित्य एवं प्रबुद्धता पर बहुत घमण्ड था। वह युग शास्त्रार्थ का था। एक सम्प्रदाय के साधु दूसरे सम्प्रदाय के साधु-साध्वियों के साथ जमकर शास्त्रार्थ करते। उनमें अधिकतर लोगों के मन में जय-पराजय की भावना रहती थी। अहंकार के शिखर पर बैठे उन मुनिजी ने अपने श्रावकों के माध्यम से महासतीजी के पास शास्त्रार्थ का प्रस्ताव भेजा। यद्यपि साध्वी दीपांजी को जय-पराजय-प्रेरित चर्चाओं में रुचि कम थी पर जब उस प्रस्ताव ने चुनौति का रूप ले लिया, तब उन्होंने संघीय प्रभावना में कमी न आए, यह मानकर उसे स्वीकार कर लिया। चर्चा का स्थान गढ रखा गया और उस शास्त्रार्थ के मध्यस्थ बने लावा सरदारगढ़ के ही ठाकुर मनोहरसिंहजी!

ठाकुर मनोहरसिंहजी की गणना उदयपुर के सोलह उमरावों में होती थी। नियत समय पर दोनों पक्षों के लोग वहां पहुंच गए। मुनिश्री अपने बैठने के लिए इधर-उधर उपयुक्त स्थान देख ही रहे थे कि महासती दीपांजी वहां पहुंची। वहां उन्होंने तत्काल ठाकुर साहब की आज्ञा प्राप्त की और साध्वियों द्वारा लाई गई चौकी को बिछाकर बड़ी शालीनता और ठाट के साथ बैठ गईं। ठाकुर साहब साध्वीजी की दक्षता और निर्भयता देख अभिभूत हो गए। उन्होंने मुनिश्री को सम्बोधित कर कहा- महाराज! चर्चा हो गई। महासतीजी स्त्री जाति होकर कितनी कुशल और साहसी है देखिए, कैसी शान और शालीनता हैं उनके बैठने में और आप मर्द होकर भी अभी तक बैठने का ढंग और स्थान तक तय नहीं कर पाए। बस हो गई चर्चा आप हारे और महासती जी जीतीं। ऐसा नहीं लगता कि आप कुछ इनसे अधिक कौशल दिखा सकेंगे। ठाकुर साहब साध्वी दीपांजी की निर्भयता और समयज्ञता की भूरी-भूरी प्रशंसा करते हुए उन्हें गढ़ से बाहर तक पहुचाने आए।

परीक्षा में उत्तीर्ण

ऐसी अनुश्रुति है कि एक बार जयाचार्य ने साधु-साध्वियों से भरी परिषद में चुनौति भरे लहजे में पूछा- चित्तौड़ में चातुर्मास करने के लिए कौन तैयार है? पूरी परिषद में सन्नाटा छाया रहा, किसी ने भी उत्तर नहीं दिया, क्योंकि उस समय चित्तौड़ में तेरापंथी श्रद्धा के दो ही घर थे। एक ताराचंदजी ढीलीवाल का और दूसरा कानमलजी पारख का। जयाचार्य ने कुछ रुककर फिर पूछा- तब साध्वी दीपांजी ने कहा- गुरुदेव! मुझे आदेश दीजिए, मैं तैयार हूँ। जयाचार्य ने उनकी कसौटी करते हुए पूछा- तुम्हारे वर्ग में साध्वियां अधिक है और वहां की स्थिति तुम्हारे से अज्ञात नहीं है, फिर वहां वर्षावास कैसे करोगी?

साध्वीजी ने चिन्तन पूर्वक उत्तर दिया- हम कम से कम बारह साध्वियां वहां रहेंगी, शेष साध्वियाँ आसपास के क्षेत्रों में चातुर्मास करने चली जाएंगी। उन बारह साध्वियों में चार सतियां चातुर्मासिक तप कर लेंगी, चार साध्वियाँ दो, दो मासी तप करने के लिए तैयार हैं। अवशिष्ट चार साध्वियों में से दो एक दिन और दो दूसरे दिन एकान्तर तप कर लेंगी, सिर्फ दो साध्वियों को ही प्रतिदिन भोजन की आवश्यकता होंगी, जिसकी आपकी कृपा से कोई कमी नहीं रहेगी। भाद्रव महीने के बाद वर्षा बन्द होने पर आस पास के गांवों की भी गोचरी हो जाएगी।

महासतीजी की हिम्मत और उपायज्ञता देख वहां उपस्थित सभी साधु-साध्वियां

आश्चर्य चकित रह गए। जयाचार्य ने उस समय चित्तौड़ चातुर्मास नहीं फरमाया, केवल साहस की परीक्षा ली थी। इस घटना से आमतौर पर यह धारणा बन गई कि साध्वी दीपांजी का चितौड़ चातुर्मास कराया नहीं, केवल परीक्षा ली थी। किन्तु निम्नोक्त प्रमाण से यह संभावना की जा सकती है कि कुछ समय बाद चित्तौड़ चौमासा कराया, जो निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। उसमें न तो आहार पानी की कमी रही और न किसी को लम्बी तपस्या करनी पड़ी।

आर्या दर्शन ढाल 1 की 4 गाथा में लिखा है कि सं. 1909 में जयपुर चातुर्मास के बाद जयाचार्य मेवाड़ पधारे, तब साध्वी दीपांजी ने जयाचार्य के दर्शन कर डेढ़ महीने सेवा की। फिर 1910 का चातुर्मास ग्यारह अनुगामी साध्वियों के साथ चितौड़ में किया तथा उनके साथ की साध्वी जेतांजी आदि छह साध्वियों ने हमीरगढ़ चातुर्मास किया।

दीपांजी ग्यारै ठाणा सूं चितौड़ में चौमासं।
हमीरगढ़ जेता षट् ठाणे वरणवियै तप रासं॥

तलवार हाथ में ली

एक बार साध्वी दीपांजी विहार कर रही थी। जंगल में कुछ डाकू मिले। अपनी अनुगामिनी साध्वियों के सिवाय उनके साथ कोई नहीं था। डाकुओं ने साध्वियों को लूटना चाहा। साध्वीजी ने बुलन्द आवाज में कहा- ''हमारे हाथ मत लगाना, हम अपना सारा सामान अलग रख देती हैं।'' इतना कहते ही सारी साध्वियों ने कन्धें से अपना वजन उतार कर एक ढ़ेर लगा दिया। डाकुओं के सरदार ने अपने हाथ की तलवार नीचे रखकर ज्योंही समान की तरफ कदम बढ़ाए, महासती दीपांजी ने तुरन्त धरती से तलवार उठाकर हाथ में ले ली और ओजस्वी वाणी में डाकुओं को ललकारते हुए कहा- खबरदार! जो समान को हाथ लगाया तो ....। साध्वियों को लूटते हुए आपको शर्म नहीं आती। हमारे समान के और इन शीलवती साध्वियों के हाथ लगाया तो यह तलवार .....।

साध्वीजी की वाणी का ओज और शौर्यपूर्ण आकृति देख डाकू सहम गए। उन्हें लगा जैसे साक्षात दुर्गा या भवानी प्रकट हो गई हों। उनमें से एक व्यक्ति ने घबराए स्वर में कहा- बाईजी! हमारी तलवार तो हमें दे दो। हम आपके हाथ नहीं लगाएंगे।

महासती दीपांजी हाथ में तलवार थामे आगे बढ़ी, साथ वाली साध्वियों को अपना सामान उठाकर चलने का आदेश दिया। सभी साध्वियों को आगे कर स्वयं

महासतीजी सबके पीछे तलवार लिए चलने लगी।

डाकुओं का साहस डोल उठा और वे पीछे-पीछे चलने लगे। जंगल पार कर वे ज्योंही गांव के निकट पहुंची, लोगों का आवागमन देखा तो तलवार को जमीन पर रखकर डाकुओं के सरदार को कहा- "लो, संभालो अपनी तलवार, पर याद रखना- आगे भविष्य में कभी किसी भी सती साध्वी को मत सताना। सती के ब्रह्मचर्य व तपस्या का तेज किसी को भस्म कर सकता है। आज जीवित बच गए, यह भी पर्याप्त हैं।"

इसी प्रकार एक बार साध्वी दीपांजी का विहार करते समय डाकुओं से सामना हो गया। उन दिनों सड़के/ राजपथ थे नहीं, आवागमन के साधन नगण्य थे। स्थान-स्थान पर निर्जन जंगल थे और डाकुओं का चारों ओर बोलबाला था। डाकुओं की मनःस्थिति साध्वियों को लूटने की है- यह भांपते ही महासतीजी ने गंभीर वाणी में गर्जना करते हुए कहा- 'हमको छूना मत, हम अपना सामान एक ओर रख देते हैं।' यह कहकर उन्होंने अपनी अनुगामिनी साध्वियों को एक स्थान पर समान एकत्रित करने का आदेश दिया। सामान का ढ़ेर लगते ही सब साध्वियाँ उसे घेर कर गोलाकार बैठ गईं। महासती दीपांजी ने तत्काल जोर-जोर से ऊँचे स्वर में नमस्कार महामंत्र का जप प्रारंभ कर दिया। डाकुओं ने महामंत्र जप के स्वरों को सुना तो उन्हे लगा- 'साध्वियाँ किसी देवी की आराधना कर रही है। साध्वियों की मंत्र साधना से उनका अनिष्ट न हो जाएं,' इससे भयभीत हो डाकू भाग गए।

इसी प्रकार 1896 के वर्ष में खैरवा के आसपास साध्वी दीपांजी (संभवतः) आदि चौदह साध्वियां विहार कर रही थी। दो अयोग्य पुरुषों ने बहुत कष्ट दिया। साध्वियों ने भयंकर विकट बेला में बड़ी हिम्मत और दृढ़ता का परिचय दिया।

नया परिवर्तन : नई पहचान

आचार्य ऋषिरायजी की सन्निधि में महासती दीपांजी बैठी थी। वे मुखवस्त्रिका सुखाकर समेट (जमा) रही थी। उनका ध्यान ऋषिरायजी की ओर था। समेटते समेटते मुख वस्त्रिका को चौड़ाई के बदले लम्बाई की ओर मोड़ दी और तब उसकी ओर ध्यान गया तो महासतीजी ने अपनी गलती पर अफसोस प्रकट करते हुए कहा- यह तो उल्टी मुड़ गई ....। कभी-कभी सहज घटने वाली घटना इतिहास का दुर्लभ दस्तावेज बन जाता है, ऐसा ही उस दिन हुआ।

आचार्य ऋषिराय जी ने साध्वी दीपांजी की तरफ देखा और वहीं खड़े जीतमुनि (जयाचार्य) ने बड़ी गंभीरता से मुखवस्त्रिका देखते हुए चिन्तन करने लगे। दो क्षण के बाद मौन खोलते हुए उन्होंने अपना संस्मरण सुनाया।

वह मेरी भाषा में इस प्रकार है - कच्छ यात्रा के पश्चात् जीतमुनि भयंकर गर्मी में जसोल पहुंचे। वेशभूषा स्थानकवासी साधुओं जैसी थी, मुखपत्ती भी वैसी ही थी, कोई अन्तर नहीं। इसलिए पहचान के अभाव में तेरापंथी लोग भी धके हालो -धके हालो .... कहते रहे। जब आगे जाकर मुनिश्री ने अपना परिचय दिया तब लोगों को पश्चात्ताप हुआ। जीतमुनि वह बात भूले नहीं थे। तेरापंथ की विशेष पहचान कैसे बने, इस बात पर वे सोच ही रहे थे। महासतीजी के हाथ में नई शैली की मुखवस्त्रिका को देख जीतमुनि ने कहा- यह मुखवस्त्रिका तो बढ़िया लग रही है। तभी ऋषिराय ने साध्वियों के मुख पर बंधाकर देखा तो मुखवस्त्रिका अच्छी लगी। बस, इसी क्षण एक नया परिवर्तन हो गया और तेरापंथ की नई पहचान बन गई।

<u>प्रतिबंध तम्बाखू सूंघने पर</u>

श्रीमद् ऋषिराय के शासन काल की घटना है। उन दिनों अनेक साधु तम्बाखू सूंघते थे। यह आदत दिन प्रतिदिन बढ़ रही थी। जब कभी तम्बाखू नहीं उपलब्ध होती, मुनि गण अस्वस्थता का अनुभव करते। साध्वी दीपांजी का काम था तम्बाखू की व्यवस्था करना। वे यत्र तत्र तम्बाखू की गवेषणा करवाकर मंगाती और सूंघने के लिए साधुओं को दे देती।

एक दिन तम्बाखू नहीं मिली। तम्बाखू सूंघने की आदत वाले मुनियों को उसका अभाव खटका। किसी के सिर में दर्द होने लगा तो किसी का जी मचलाने लगा। आचार्य ऋषिरायजी तक बात पहुंची। उन्होंने महासती दीपांजी को उलाहना देते हुए तम्बाखू की गवेषणा करने के लिए भेजा। उस दिन समुचित प्रयत्न करने के बावजूद भी तम्बाखू नहीं मिली।

महासतीजी चतुर, विचारशील और सूझबूझ की धनी थी, उन्होंने दो चार उपले जांचे और अच्छी तरह कूट पीस कर एक डब्बे में भरकर सन्तों को दे दी। ऋषिरायजी महाराज को निवेदन कर दिया -तम्बाखू ऐसी ही मिली है पर काम चल जाएगा। सन्तों ने उसे सूंघा, तलब पूरी होते ही सिर दर्द, जी मचलाना आदि सब काफूर हो गए। सब में

स्फूर्ति-सी आ गई। उन्हें तम्बाखू अच्छी लगी। एक दूसरे को जब यह कहते सुना तो साध्वी दीपांजी मन ही मन मुस्कराने लगी।

उचित अवसर देखकर महासती दीपांजी ने निवेदन किया- गुरुदेव! सन्तों में तम्बाखू की आदत बढ़ती जा रही है, आप प्रतिबंध लगाइए।

आचार्यवर ने कहा- तम्बाखू के बिना सन्तों के गड़बड़ हो जाती है। साध्वी दीपांजी ने बिना किसी लाग लपेट के स्पष्ट भाषा में कहा- नहीं गुरुदेव! गड़बड़ से भयंकर है आदत की लाचारी।

पास बैठे सन्तों ने जब यह बात सुनी तो सब खुसर-फुसर करने लगे- इन्हें क्या पता कि समय पर तम्बाखू न मिलने पर कितनी बेचैनी होती है। इन्हें लानी पड़ती है, इसलिए प्रतिबंध की बात कर रही हैं।

साध्वी दीपांजी पुनः अपनी बात रखते हुए कहा- शरीर में गड़बड़ होने का तो बहाना लगता है। तम्बाखू बिना भी काम चल सकता है। कल वाली तम्बाखू कैसी थी?

आसपास खड़े सन्त झट से बोल पड़े- बहुत तेज और अच्छी थी। उसको सूंघते ही बेचैनी दूर हो गई।

रहस्य खोलते हुए साध्वीजी ने कहा-कल वाली तम्बाखू थी ही नहीं। वह तो उपलों (आरण छोने) का चूर्ण था। यदि उसे सूंघने से बेचैनी दूर हो सकती है तो तम्बाखू क्यों?

आचार्य ऋषिराय जी ने यह बात सुनी और दीपांजी का कथन मन को प्रभावित कर गया। उस दिन के पश्चात् उन्होंने तम्बाकू सूंघने पर पांच विगय छोड़ने का प्रतिबंध कर दिया। साधुओं में धीरे-धीरे यह व्यसन छूट गया।

आप कोई जोड़ की रचना करते

मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) की अवस्था सतरह-अठारह वर्ष की होगी। उन्होंने एक बार काष्ठ पात्री बहुत सुन्दर रंगी। उस समय वे बहिर्विहार में थी। जब उन्होंने आचार्य ऋषिरायजी के दर्शन किए तब उन्होंने अपने हाथ से रंगी पातरी साध्वी दीपांजी को दिखाई। महासतीजी ने जीतमुनि को सम्बोधित करते हुए कहा- यह हांडी कुण्डों यानि पात्र पात्रियों को रंगने के लिए तो हम साध्वियां ही बहुत है। आप तो प्रतिभा सम्पन्न,

होनहार मुनि हैं। आप अपने पुरुषार्थ का नियोजन किसी आगम की पद्यमय जोड़ बनाने में करते तो हमें अधिक खुशी होती। दूसरी बात राजस्थानी भाषा में आगम का पद्यानुवाद करने से आगम को पढ़ने और समझने में सुविधा होती। समय की बात थी। साध्वीजी ने जिस लहजे और अभिप्राय में अपनी बात कही, जीतमुनि के हृदय को वेध गई। उन्होंने इस घटना को चुनौति के रूप में माना और उसी प्रेरणा से प्रेरित होकर उसी वर्ष जीतमुनि ने पन्नवणा जैसे तात्त्विक आगम का राजस्थानी में पद्यानुवाद किया। जिस समय पन्नवणा जोड़ की रचना की, आपकी अवस्था मात्र अठारह वर्ष की थी और दीक्षा लिए उनको नौ वर्ष ही हुए थे।

जयाचार्य आचार्य पद पर आसीन होने के एक वर्ष बाद अर्थात् संवत 1909 में जयपुर चातुर्मास पर प्रथम बार मेवाड़ प्रदेश में पधारे। महासती दीपांजी ने आचार्य बनने के बाद पहली बार दर्शन किए। एक बार उन्होंने जयाचार्य की सेवा में संघीय व्यवस्था के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए निवेदन किया- गुरुदेव! अभी मोखणुंदा किसी साध्वी के सिंघाड़े को न भेजा जाए, क्योंकि यह क्षेत्र साध्वियों के लिए अनुकूल नहीं है। इन दिनों वहां टोटकों का दौर चल रहा है। डाकिनी-विद्या का उपद्रव बहुत है। मेरी तो प्रार्थना है कि आप वहां न पधारें यदि श्रावक समाज के आग्रह पर पधारना पड़े तो साध्वियों को साथ में न ले जाएं।

जयाचार्य ने इस बात को ध्यान से सुन ली पर जितना महत्त्व देना चाहिए था, नहीं दिया। साध्वी दीपांजी विहार कर अन्यत्र पधार गईं। मोखणुंदा के श्रावकों ने पधारने का अत्यधिक आग्रह किया। उस समय जयाचार्य के साथ पांच साध्वियां थीं।

जयाचार्य मोखणुंदा पधारे और साध्वियों को भी साथ ले गए। संयोग की बात कि सभी साध्वियों डायनों के उपद्रव से पीड़ित हो गई जिससे वे विहार करने में अक्षम थी। उनको वहीं छोड़ जयाचार्य ने विहार कर दिया।

(कुछ इतिहासविदों के अनुसार मोखणुंदा के लोगों ने आग्रह-भरा निवेदन किया कि साधु / साध्वियों को यहां विराजने का आदेश दें, जिससे गांववासियों को धार्मिक प्रेरणा मिलती रहें। उनके आग्रह पर जयाचार्य ने साध्वियों को वहीं छोड़ा। जयाचार्य के विहार करने पश्चात वे सभी उपद्रव ग्रसित हो गईं।)

जयाचार्य ने आदेश दिया कि धीरे-धीरे विहार कर आ जाएं लेकिन विहार नहीं

हो सका। साध्वियों के अन्य सिंघाड़ों को उन्हें लाने के लिए भेजने को टंटोला पर कोई सिंघाड़ा तैयार नहीं हो रहा था। प्राय: सभी साध्वियां उस गांव में जाने से ही भय खा रही थीं।

कुछ दिनों पश्चात साध्वी दीपांजी ने पुन: दर्शन किए। तब जयाचार्य ने उन्हें सम्बोधित कर कहा –तुमने तो मोखणुंदा जाने से पहले ही सावधानी बरतने की बात कही थी, पर हम तो श्रावकों के आग्रह को टाल नहीं पाए और वहां अब साध्वियों की स्थिति उपद्रव ग्रसित है। तुम जाओ और उन्हें उपद्रव से निकालकर लाओ।

महासती दीपांजी से रहा नहीं गया। उन्होंने कड़े शब्दों में कहा–मैंने पहले ही निवेदन किया था पर मैं जानती थी कि आप पधारेंगे। खैर ... अब आप आदेश दें..... मेरा वहां जाने का भाव है .....। साध्वी दीपांजी 22 ठाणों के साथ विहार कर मोखणुंदा पहुंची।

वे निर्भीक और साहसी साध्वी थीं। साथ वाली साध्वियों का सहयोग भी उपलब्ध था। स्वयं मंत्रविद् भी थी और उनका आचार तथा साधना का तेज भी था। मोखणुदा में कुछ प्रयोग किए (कहते हैं, उपद्रव शांति के लिए कलवाणी पिलाई) साध्वियां स्वस्थ हो गईं। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व के सामने डाकण–साकण, भूत प्रेत किसी का वश नहीं चला। पांचों साध्वियाँ उनके चरणों में गिर पड़ी। उन्हें साथ लेकर साध्वी दीपांजी गुरु सान्निध्य में पहुंच गईं।

जयाचार्य ने कहा– ''यह हिम्मत साध्वी दीपांजी ही कर सकती हैं। यद्यपि साध्वी दीपांजी के पूर्व कथित शब्द मुझे कड़े प्रतीत हुए थे, पर इनके कथन में सच्चाई थी, यह आज अहसास हो रहा है।''

महासतीजी दीपांजी की आंखें नम हो आईं और उन्होंने गद्‌गद् स्वरों में विनम्रता पूर्वक निवेदन किया –गुरुदेव! मेरा अविनय क्षमा करें। मुझे ऐसे शब्दों का उपयोग नहीं करना चाहिए था। इस आशातना के प्रायश्चित्त में मुझे भगवती सूत्र के परायण का स्वाध्याय धराने की कृपा करें। (अनुश्रुति)

कल्लूजी आज भी जीवित है

एक बार जयाचार्य ने किसी कार्य विशेष के लिए साध्वी दीपांजी को अन्यत्र गांव

में जाने का आदेश दिया। साध्वी दीपांजी उस समय की सारी स्थितियों से अवगत थीं। उन्हें स्वयं का जयाचार्य के पास रहना ज्यादा उचित लगा। इसलिए उन्होंने निवेदन किया- गुरुदेव! आप जिस उद्देश्य के साथ मुझे जहां भेज रहे हैं, उसकी पूर्ति मुझे कम संभव लग रही है। फिर भी जयाचार्य ने विहार का पुनः आदेश दे दिया। महासतीजी गुरु-आज्ञा के अनुसार वहां से विदा हो गईं। वे गंतव्य तक पहुंची ही नहीं कि रास्ते से पुनः आने का आदेश दे दिया कि वहां जाने की अभी अपेक्षा नहीं है। साध्वी दीपांजी ने गुरु दर्शन करते ही विनोदभरे शब्दों में कहा- राजस्थान में कहावत है कि औरत की बुद्धि गुदि में रहती है अर्थात् वे पाछल (पश्चात) बुद्धि वाली होती है परन्तु कभी-कभी आप जैसे महापुरुष भी बाद में ध्यान देते हैं। मैंने तो पहले ही आपसे प्रार्थना की थी पर मुझे तो आदेश का पालन करना था।

जयाचार्य महासती दीपांजी के कथन को गंभीरता से लिया और मुस्कराते हुए बोले-लगता है कि मुझे कहने वाली माता कल्लूजी आज भी किसी न किसी रूप में जीवित है अन्यथा इतने खुले शब्दों में मुझे कौन कहती।

मिच्छामि दुक्कडं

प्रसंग मेवाड़ का है। साध्वी दीपांजी गंगापुर में प्रवास कर रही थी। दिन के समय एक चोर ने साध्वियों के वस्त्र उपकरण आदि देखे। उन्हें चुराने के लिए वह रात्रि के समय साध्वियों के स्थान में घुस आया। उस समय कुछ साध्वियां महासती दीपांजी के पैर दबा रही थी। जब वे साध्वियां सो गईं और उन्हें नींद आ गई तब चोर आकर दीपांजी के पैर दबाने लगा। अचानक उनकी नींद खुली, उन्हें लगा पैर दबाने वाले हाथ पुरुष जैसे लगे। साध्वीजी ने तत्काल उठकर उसके दोनों हाथ पकड़ लिए और जोर से बोली -कौन हो तुम? ललकार भरी आवाज सुनते ही वह भाग गया और महासतीजी ने जोर से कहा- 'मिच्छामि दुक्कड़ं'

एक बार जयाचार्य ने साध्वी दीपांजी से कहा- पुर जाना है? उन्होंने स्पष्ट शब्दों में निर्भीकता से उत्तर दिया- मेरा वहां क्या काम है, मैं वहां क्यों जाऊं। जयाचार्य ने दूसरी बार कहा- नहीं, जाना पड़ेगा। वहां चौरड़िया परिवार पर भारी उपद्रव हो रहा है, अनेक प्रयत्न के बावजूद उपद्रव शांत नहीं हो रहा है। समय पर श्रावकों को संभालना भी हमारा दायित्व है। वे चाहते हैं कि एक बार तुम वहां जाकर उन्हें मंगल पाठ सुनाओ। यह तुम्हारे सिवाय किसी और के वश की बात नहीं है।

साध्वी दीपांजी ने गुरु आज्ञा लेकर विहार किया। पुर में प्रवेश करते समय गांव के फलसे पर अपने इष्ट का स्मरण कर पैर से ठोकर मारी। उसके बाद चौरड़िया परिवार की पोल में कदम धरते समय उसी क्रम से यह कहते हुए कि चल हट, यहां तेरा क्या काम! ठोकर मारी। अन्दर पधार कर पूरे परिवार को मंगल पाठ सुनाया और संयोग की बात कि उसी समय उपद्रव शान्त हो गया। तीन दिन महासती दीपांजी वहां रहे और तीन दिनों में जितनी बार चौरड़िया परिवार को दर्शन देने पधारीं, उपरोक्त उपक्रम को चालू रखा।

मुनि श्री चम्पालालजी 'मीठिया' के अनुसार साध्वी दीपांजी ने पुनः जयाचार्य के दर्शन राजनगर में किए। जयाचार्य ने प्रसन्नता के साथ महासती दीपांजी को साधुवाद दिया तथा उनकी राठौड़ी मनोवृत्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

साध्वी दीपांजी ने उस अवसर पर निवेदन किया कि मैंने उस दिन पुर जाने की मनाही कर आपकी आशातना की मुझे वैसा नहीं करना चाहिए था। यदि मैं ही ना कहूंगी तो पीछे वालों पर क्या प्रभाव होगा।

जयाचार्य ने यह कहकर बात टालनी चाही कि कोई खास बात नहीं। ऐसा करने के पीछे सेवा में रहने का ही तुम्हारा उद्देश्य था। फिर भी महासती दीपांजी ने प्रायश्चित्त मांगते हुए कहा- एक बार और भगवती सूत्र का स्वाध्याय प्रायश्चित्त स्वरूप करूंगी। कहते हैं कि महासती दीपांजी ने अपने जीवन काल में 32 बार भगवती सूत्र का पारायण किया। स्वाध्याय करते समय जाव शब्द से पाठ का संक्षिप्तीकरण कर लिया करते थे। बत्तीस आगमों का उन्होंने एक बार नहीं, अनेक बार वाचन किया।

यहां मन में एक जिज्ञासा उभरती है कि महासतीजी में ऐसी कौन-सी शक्ति थी, जिसके कारण असंभव से प्रतीत होने वाले कार्य भी वे करने में समर्थ बन जाती।

साध्वी दीपांजी के पति सोमाशाह दिवंगत होकर सोमप्रभ नाम के देव बने। महासतीजी को उनका इष्ट था। वे बहुत बार प्रत्यक्ष प्रकट होते। जब कभी महासती दीपांजी के सामने समस्या आती, वे उनका स्मरण कर सो जाती। रात्रि में कभी प्रत्यक्ष हो कर समाधान देते तो कभी अप्रत्यक्ष रूप में देते पर उनकी समस्या हर हालत में प्रायः समाहित हो जाती थी। यहां एक घटना का उल्लेख करना चाहूंगी-

एक रात साध्वी दीपांजी को नींद नहीं आ रही थी। वे सोई-सोई करवट बदल रही थी, अचानक कमरा तेज प्रकाश से जगमगा उठा। महासतीजी ने ध्यान से देखा तो

प्रकाश में से एक आकृति उभरती दिखाई दी और आवाज आई-चिन्ता है क्या? जिससे नींद नहीं आ रही है?

साध्वी दीपांजी चिर परिचित आवाज सुनते ही समझ गईं और बोली- मेरे पास भगवती की प्रति नहीं है और मुझे भगवती का वाचन करना है।

पुनः आवाज आई- लिखा लो। साध्वी दीपांजी बोली- यदि मेरे पास लेखक (लिखने वाली) साध्वी होती तो ....। तभी दिव्यात्मा ने पास सोई एक साध्वी की ओर संकेत कर कहा- ये लिख देंगी। ....

साध्वी दीपांजी को देव वाणी पर विश्वास था पर अमुक साध्वीजी .....लिख देंगी, इस पर सहसा विश्वास नहीं हो रहा था, क्योंकि वह साध्वी क ... ख .... लिखना भी नहीं जानती थी।

दूसरे दिन प्रातः महासतीजी ने साध्वीजी ... को भगवती लिखने की प्रेरणा दी। साध्वीजी ने अपनी अक्षमता प्रकट की पर देव-वाणी को आधार मानकर कार्य प्रारंभ कर दिया। कहते हैं कि उनको क ... ख उच्चारण नहीं आता था पर वे केवल नकल करके उसी आकार में ढ़ालने का अभ्यास किया और धीरे-धीरे उन्होंने अच्छी तरह से केवल भगवती ही नहीं, उसके साथ-साथ उत्तराध्ययन, निशीथ, दशवैकालिक, एक और आगम (नाम स्मृति में नहीं) पांच प्रतियां लिखी।

महासती दीपांजी के पास इष्ट सिद्धि थी, नमस्कार महामंत्र की सिद्धि थी और भी न मालूम कितनी शक्तियां थी, जो अज्ञात हैं।

अन्तिम समय में साध्वी दीपांजी आमेट में प्रवासित थी, उनका शरीर व्याधि-ग्रस्त हो गया, फिर बीमारी में उनकी सहिष्णुता गजब की थी। जयाचार्य का उस वर्ष (1918) चातुर्मास लाडनूँ में था। नाथद्वारा के श्रावक ऋषभदासजी तलेसरा लाडनूँ दर्शन करने आए। उन्होंने साध्वी दीपांजी की अस्वस्थता के समाचार बताए।

जयाचार्य ने उसी समय चिन्तन किया कि चातुर्मास के पश्चात् बहुत साधु साध्वियों के साथ दीपांजी को दर्शन देना है। महासती सरदारांजी ने कहा- यह कार्य शीघ्र करना चाहिए। उसी समय जयाचार्य ने यह भी फरमाया -स्वरूपचन्दजी स्वामी यहां थली में विराजमान हैं, अतः दीपांजी को दर्शन देकर उनके लिए वापिस जल्दी आना होगा।

इस प्रकार विचार विमर्श चल ही रहा था कि थोड़े दिनों बाद आमेट से पत्र आया, जिसमें लिखा था- साध्वी दीपांजी ने भाद्रव कृष्णा पांचम को एक मुहूर्त्त चढ़ने के बाद आजीवन अनशन स्वीकार कर लिया। भाद्रवा कृष्णा सातम को ऊंचे परिणामों में अनशन सानन्द सम्पन्न हुआ।

संवत 1918 सुदि 6 के दिन जयाचार्य ने साध्वी दीपांजी के गुणों की एक गीतिका बनाई जिसमें दोहों सहित 34 गाथाएं हैं। उसमें उनके व्यक्तित्व की सम्पूर्ण विशेषताओं का वर्णन करते हुए प्रभावक अभिव्यक्ति दी है।

6 साध्वी नन्दूजी लावा (सरदारगढ़) (92)

साध्वी नन्दूजी का जन्म मेवाड़ के लावा सरदारगढ़ में हुआ। उनके पिता का नाम फतेहचंद बंवलिया था। फतेहचंदजी गांव के प्रमुख जिम्मेदार, पंच-पंचायती में अग्रणी और श्रद्धानिष्ठ श्रावक थे। नन्दूजी जब अकनकुमारी कन्या (जो कन्या ब्रह्मचारिणी हो और जिसकी सगाई भी न की गई हो वह अकन कुमारी कहलाती है) थी। तब साधु साध्वियों के सम्पर्क से उनके मन में वैराग्य भाव पैदा हुआ। उनके पिता फतेहचंदजी ने अहोभाव के साथ पुत्री को दीक्षा की आज्ञा दी और बड़े ठाटबाट से दीक्षा महोत्सव का आयोजन किया। उसी गांव और उसी परिवार की प्रथम दीक्षा आचार्य भिक्षु के कर-कमलों से सं. 1858 में हुई -साध्वी जोतांजी की। उनको दीक्षा के संकल्प को डिगाने के लिए परिवारजनों ने बहुत-बहुत कष्ट दिए। यहां तक कि मारपीट तथा बंधन का प्रयोग भी किया। उनके हाथ का चूड़ा तीन बार तोड़ दिया गया। आखिर उत्कट और अटल वैराग्य के सामने घर वालों ने हार मान ली और चौथी बार उन्हें नया चूड़ा पहनाकर दीक्षा की आज्ञा दी। स्वयं आचार्य भिक्षु ने लावा सरदारगढ़ पधारकर साध्वी जोतांजी को दीक्षा दी। साध्वी जोतांजी की दीक्षा के बाद साधु-साध्वियों के निकट सम्पर्क में आने से उन्होंने तत्त्व ज्ञान की जानकारी की और तेरापंथ धर्मसंघ के प्रति गहरी आस्था हो गई।

साध्वी नन्दूजी को दीक्षा देने की लिए मुनि हेमराजजी लावा सरदारगढ़ पधारे। साध्वी जोतांजी भी वहां पहुंच गईं। दीक्षा की निर्णीत तिथि के दिन, मुहूर्त्त के समय मुनिश्री हेमराजजी दीक्षा स्थल पर पहुंच गए। इधर दीक्षार्थिनी बहिन नन्दूजी को लेकर उनके अभिभावक पूरे परिकर के साथ समारोह में सम्मिलित हो गए।

उसी समय विघ्न संतोषी विरोधी लोगों ने स्थानीय रावला में जाकर ठाकुर साहब को शिकायत कर दी कि यह अबोध कुमारी कन्या आपके गांव की सीमा में दीक्षा ले रही है। इससे आपको भारी मुसीबतों को सामना करना पड़ेगा। ठाकुर साहब ने बिना सोचे-समझे अपने हलकारे (चपरासी) को तत्काल भेजकर साधुओं को कहला दिया कि मेरे गांव की सीमा में दीक्षा न दें। ठाकुर साहब का आदेश मिलते ही मुनिश्री हेमराजजी, साध्वी जोतांजी, दीक्षार्थिनी बहिन तथा बंवलिया परिवार के सारे लोग वहां से चल पड़े। वहां से डेढ कोस की दूरी पर डींगरोल नाम का गांव था, वहां पहुंचे। उस समय वह गांव चारणों की सीमा में था। किन्तु विपक्षी लोग उनसे भी पहले पहुंच चुके थे। उनके बहकावे में आकर चारण इतने भ्रान्त हो गए कि उन्होंने पहले ही अपनी सीमा में दीक्षा देने की

मनाही कर दी। मुहूर्त्त का समय थोड़ा ही अवशेष था, दीक्षा कहाँ दे? यह प्रश्न भी मुंह बाएं खड़ा था। आखिर मुनिश्री हेमराजजी की सूझबूझ ने काम किया। वे निकटवर्ती महाराणा की सीमा में पहुंचे और खारा नामक गांव में उनके अभिभावकों की आज्ञा लेकर नन्दूजी को गृहस्थ के वेश में (गहनों और कपड़ों सहित) दीक्षा दी। यह संवत 1873 की घटना है। महीना तथा तिथि कौन-सी थी- यह प्राप्त नहीं है। शासन विलास में जयाचार्य ने मात्र संवत का उल्लेख करते हुए लिखा है -

संवत अठारै वर्ष तिहोतरै, हेम-हाथ चारित्र धारी जी।
नन्दू अकन कुमारी किन्या, भणी वखाण कला भारी जी॥

शा. वि. ढा. 4 गा. 28

हेमनवरसा में जयाचार्य ने लिखा है - सं. 1873 मृगसर बदि पांचम को मुनि रत्नजी (लावा) तथा मुनि अमीचंदजी (गलूंड) को मुनिश्री हेमराजजी ने दीक्षा दी। उसके कुछ दिन पश्चात नन्दूजी को दीक्षित किया। इसलिए अनुमानतः साध्वी नन्दूजी की दीक्षा मृगसर या पोष में संभावित लगती है।

मुनिश्री हेमराजजी ने साध्वी नन्दूजी को दीक्षित कर साध्वी जोतांजी को सौंप दिया। उन्होंने साध्वी नन्दूजी का केशलोच किया तथा उन्हें साध्वी के कपड़े पहनाकर गृहस्थ के पाड़िहारिय वस्त्राभरण उनके पिता फतेहचंदजी को संभलाए। साध्वी नन्दूजी सहित उस परिवार की चार दोक्षाएं हुईं- साध्वी जोतांजी उनकी चाची थी। मुनि रत्नजी उनके चाचा थे जिन्होंने अपनी पत्नी पेमाजी के साथ संयम ग्रहण किया। तेरापंथ धर्म संघ का शुभारंभ होने के लगभग 56 वर्ष बाद कुमारी कन्या के रूप में पहली दीक्षा साध्वी नन्दूजी की हुई।

आचार्य भिक्षु से लेकर द्वितीय आचार्य भारीमालजी के शासन काल में कुमारी कन्या के रूप में दीक्षा लेने वाली इकलौती साध्वी नन्दूजी थी। उन्होंने ऐसे शुभ समय में दीक्षा ग्रहण की, जिससे संघ में कुमारी कन्याओं के प्रवेश का द्वार ही खुल गया। क्रमशः आचार्य ऋषिराय के युग में 10, जयाचार्य के युग मे 28, आचार्य मघवा, आचार्य माणक, आचार्य डालगणी के क्रमशः 8, 1, 6 तथा अष्टमाचार्य कालूगणी के शासकाल में 85 दीक्षाएं हुईं। नवमाचार्य तुलसी गणी के युग में लगभग 500 कुमारी कन्याएं संघ में दीक्षित हुईं। वर्तमान में वह प्रवाह द्रुतगति से प्रवहमान है।

साध्वी नन्दूजी की दीक्षा के सन्दर्भ में घटी घटना से उनके पिताजी आहत से हो

गए। ठाकुर साहब द्वारा बिना सोचे-समझे किए गए व्यवहार के कारण उन्होंने लावा में निवास करना छोड़ दिया। आगे के लिए पूरा बन्दोवस्त किए बिना ही उन्होंने गांव में जाने का त्याग कर दिया। चारण लोगों के व्यवहार से खिन्न बंवलियाजी ने गांव-गांव में श्रद्धालु भाइयों को सूचित कर दिया कि डिंगरोल के चारणों के साथ किसी प्रकार का लेन-देन, वाणिज्य आदि नहीं करना है। वे नगद रुपये देकर भी कोई वस्तु खरीदना चाहे तो मत देना। ऐसी कड़ी प्रतिक्रिया देख सुन चारण लोगों ने अपनी गलती स्वीकार करते हुए कहा- भविष्य में हम आपके समाज के साथ कभी ऐसा व्यवहार नहीं करेंगे। तब महाजनों ने उनके साथ लेन-देन का व्यवहार चालू किया।

ठाकुर साहब ने महाजनों द्वारा रखी गई सारी शर्तें स्वीकार कर उनको प्रसन्न कर लिया। उसके बाद फतेहचंदजी आदि लावा सरदारगढ में आकर रहने लगे।

साध्वी नन्दूजी पहले साध्वी बींजाजी के सिंघाड़े में रही। उनके स्वर्गवास के पश्चात् साध्वी जोतांजी के पास रहीं। साधु-चर्या के अनुरूप आचार प्रशिक्षण प्राप्त किया। आगमों का अध्ययन किया तथा व्याख्यान कला में विशेष योग्यता प्राप्त की। वे साहसिक मनोवृत्ति की थी। वे दीर्घकालीन बड़ी तपस्या न कर सकी पर शीतकाल में साध्वी नन्दूजी शीत सहन कर बहुत कर्म निर्जरा करती रही।

साध्वी जोतांजी के स्वर्गवास के पश्चात जब उन्होंने जयाचार्य के दर्शन किए, तब जयाचार्य ने उनको विधिवत अग्रगामी बना दिया। संवत 1909 जेठ सुदि 4 को उन्होंने अग्रगामी का दायित्व संभाला।

अग्रगामी अवस्था में उन्होंने बहुत वर्षों तक मारवाड़, मेवाड़, मालवा, थली, और हरियाणा आदि क्षेत्रों में विहरण कर धर्म की अलख जगाई। उन्होंने अनेक व्यक्तियों को धर्म का सही स्वरूप समझा कर तेरापंथी बनाए तथा संघ की प्रभावना बढ़ाने में अपनी शक्ति का नियोजन किया। पांच बहिनों को प्रतिबोध देकर अपने हाथ से दीक्षित किया। उनके नाम इस प्रकार हैं-

1. साध्वी सुवटांजी पचपदरा,
2. साध्वी नानूजी जसोल,
3. साध्वी गंगाजी मांडा,
4. साध्वी नानूजी पचपदरा,

5. साध्वी कुसुम्बाजी पचपदरा

साध्वियों की सुव्यवस्था के लिए जयाचार्य के युग में क्रान्तिकारी कदम संघ में उठाया गया साध्वियों तथा पुस्तकों के केन्द्रीयकरण का। प्राचीन परम्परा में पलने वाली साध्वियों की मानसिकता बदलने के लिए जयाचार्य को बहुत श्रम करना पड़ा पर कुछ विवेक सम्पन्न साध्वियों ने इस नई परम्परा को सहज स्वीकृति दी। उनमें एक नाम साध्वी नन्दूजी का था।

संवत 1914 में वैसाख सुदि 8 को साध्वी नन्दूजी ने आठ साध्वियों से अपना सिंघाड़ा सरदार सती को समर्पित किया। 1914 में सरदार सती की निश्राय में समर्पित होने वाली सिंघाडबंध साध्वियों के लेखपत्र पर साध्वी नन्दूजी का हस्ताक्षर है।

जीवन की सन्ध्या बेला में उन्हें पचपदरा में स्थिरवास करना पड़ा, क्योंकि उनके उदर में ग्रन्थि थी, इसलिए उनके विहार में कठिनाई होने लगी। सं. 1935 से 1941 तक छह चातुर्मास पचपदरा में किए। वैसे पचपदरा में सात साल तक वे स्थिरवासी रहीं। उन्होंने मालवा में रतलाम, हरियाणा में भिवानी चातुर्मास किए। अन्तिम वर्षों में उदर ग्रन्थि की वेदना अत्यधिक बढ जाने से वे शारीरिक दृष्टि से दुर्बल हो गईं। वेदना को उन्होंने बड़े समभाव से सहन किया। आखिर 1941 के पचपदरा चातुर्मास में समाधिपूर्वक स्वर्गस्थ हो गई।

7. साध्वी चत्रूजी (गंगापुर) (100)

साध्वी चत्रूजी मेवाड़ में गंगापुर की निवासिनी थी। उनकी जात चहावत थी। उनके पति का नाम दीपोजी था।

आचार्यश्री भारीमालजी स्वामी सं. 1876 का चातुर्मास कर गंगापुर पधारे। उस समय दीपोजी, उनके अनुज जीवोजी और दीपोजी की पत्नी चत्रूजी – तीनों आचार्यश्री का प्रवचन सुन प्रभावित हुए, वैराग्य भाव और धर्म के प्रति रूचि जागृत हुई। जीवोजी के मन में दीक्षा की भावना जागी। उन्होंने आचार्यश्री भारीमालजी से निवेदन किया – मैं संयम जीवन स्वीकार कर साधु बनूंगा। आचार्यवर ने उन्हें प्रेरणा दी कि – "यदि तुम्हारा दृढ संकल्प है तो फिर समय व्यर्थ करने में क्या फायदा है। "शुभ कार्य में विलम्ब क्यों किया जाए?"

जीवोजी ने घर पहुंचकर अपने अग्रज भाई के पास मनोभाव प्रस्तुत करने से पहले अपनी भाभी से कहा – भाभी जागो, अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचानों। आप और मैं दोनों संयम स्वीकार कर सच्चे सुख का स्वाद चखें।

भाभी का मन पहले से ही वैराग्य रंग से रंगा था। देवर के जोशीले शब्द सुनकर वह और अधिक जागरूक बन गई। उन्होंने उत्तर देते हुए कहा – देवरजी! मेरी भी दीक्षा की दृढ भावना है। अब विलम्ब नहीं करना चाहिए। आप अपने बड़े भाई से दीक्षा की आज्ञा प्राप्त कर लें पर पहले अपनी क्षमता को हमें अच्छी तरह परख लेना चाहिए। पैदल चलना, केशलोच कराना, सर्दी गर्मी सहन करना.....। इसलिए हमें पहले साधना का अभ्यास करना चाहिए। कहते हैं साधना–काल में एक बार देवर भाभी दोनों ने एक दूसरे का केशलोच कर कष्ट सहिष्णुता का परीक्षण किया। धोवण पानी पीकर देखा, इस प्रकार प्रायोगिक रूप से दोनों साधना पथ पर आगे बढने लगे।

दीक्षा की अनुमति और दीक्षा

जीवोजी ने दीपोजी से अपनी दीक्षा की भावना बताई और आज्ञा मांगी। दोनों भाई मोहवश परस्पर उलझ पड़े और तनातनी बढ गई। आखिर दोनों के बीच में कुछ समझदार व्यक्तियों ने हस्तक्षेप किया। लोगों के समझाने से दीपोजी ने जीवोजी को छह महीने बाद दीक्षा लेने की लिखित आज्ञा दे दी। स्थानीय प्रमुख श्रावक जिनका नाम फतैचन्दजी था, उस आज्ञा पत्र को सबके सामने पढकर सुना दिया और उस आज्ञापत्र को साधुओं को दे दिया। साधुओं ने आचार्यश्री भारीमालजी को सौंप दिया। आज्ञापत्र को लिखे लगभग एक वर्ष व्यतीत हो गया। दीपोजी को सूचित किए बिना

सं. 1877 पौष कृष्णा 6 को जीवोजी ने मुनि स्वरूपचंदजी द्वारा गंगापुर से डेढ कोस दूर जाकर कांगणीमाल (ताल) में गृहस्थ के कपड़ों सहित दीक्षा ग्रहण कर ली।

दीपोजी को जब इस घटना की अवगति मिली, वे आग–बबूला हो गए। संतों से नाराज भी हुए और अपने तेवर विरोधी बना लिए। कुछ लोग भी उनके साथ हो गए। कुछ महीने इसी वातावरण में गुजर गए। फिर दीपोजी और पत्नी चत्रूजी एकबार आचार्यश्री भारीमालजी स्वामी के दर्शन करने कांकरोली पहुंचे। वहां मुनि खेतसीजी और ऋषिरायजी आदि ने उन्हें समझाकर शान्त किया। उनके भी वैराग्य भाव बढे वैसी प्रेरक बातें बताई। अन्त में उनके हाथ से लिखा आज्ञा पत्र दिखाया। इस सारे घटनाक्रम और संतों के उपदेश से दीपोजी बहुत प्रभावित हुए। तत्काल आचार्यश्री के पास पहुंचकर पति पत्नी – दोनों ने ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया और अपने आपको दीक्षा के लिए प्रस्तुत कर दिया। उसी समय कांकरोली से गंगापुर लौट गए।

आचार्यश्री भारीमालजी ने दोनों की भावना का मूल्यांकन किया और उन्हें गंगापुर में ही दीक्षा देने के उद्देश्य से मुनिश्री स्वरूपचंदजी को तथा साध्वियों को गंगापुर भेजा। वहां पहुंचकर सं. 1877 जेठ सुदि 13 को गंगापुर में मुनि श्री स्वरूपचंदजी ने मुनि दीपोजी और साध्वी चत्रूजी को दीक्षा दी। स्वरूपनवरसा में जयाचार्य ने इस घटना की इस प्रकार प्रस्तुति दी है –

तांम स्वरूप नै मेलिया रे, चारित्र देवा सार।
बलि मेली समणी भणी रे, भारीमाल तिणवार।।
तांम स्वरूप आवी करी रे, बिहुं नै दिख्या दीध।
दर्शण कीधा पूज नां रे, जग मांहै जश लीध।।

दीपोजी के इस प्रकार पत्नी सहित दीक्षा लेने का संवाद जब उन लोगों के कानों में पहुंचा जो उनके साथ विरोध कर रहे थे, सब आश्चर्यचकित हो गए। उन्हें भी भूल का अहसास हुआ और गुरुचरणों में पहुंचकर क्षमा–याचना कर हलकेपन का अनुभव किया।

साध्वी चत्रूजी की ननद साध्वी मयाजी देवगढ (86) ने सं. 1872 में साध्वी जोतांजी लावा (48) के हाथ से आमेट में दीक्षा ली। साध्वी मयाजी प्रकृति से भद्र, विनम्र और अनाशक्त थीं। साध्वी चत्रूजी स्वभाव से सहज उपशांत थीं उनका व्यवहार मधुर और सरल था। वे अत्यधिक विनम्र थीं। वे जिन साध्वियों के साथ रही बड़ी हेत मिलाप और सहयोग भावना के साथ रहीं। इससे उनकी शोभा बढी और संघ की

प्रभावना बढी।

उन्होंने तेरह वर्ष संयम साधना की। उसमें तपःसाधना और स्वाध्याय के द्वारा अच्छी कर्म निर्जरा की। तपस्या में छोटे–छोटे चोले पंचोले व अठाई आदि थोकड़े तो वे प्रायः करती रहती। एक बड़ी तपस्या की वह थी 62 दिनों की।

साध्वीजी ने जीवन की सान्ध्य बेला में संलेखना तप प्रारंभ किया। संलेखना में क्रमशः पांच तेले और चार चोले किए। तत्पश्चात पंचोला करने का संकल्प लिया। उसके चौथे दिन अचानक स्वास्थ्य की स्थिति बिगड़ी और उन्होंने आजीवन चौविहार अनशन कर लिया। लगभग साढे चार प्रहर के बाद उनका संथारा संपन्न हो गया।

सं. 1890 में उन्होंने समाधि–मरण प्राप्त किया। साध्वी चत्रूजी आचार्यश्री भारीमालजी की अन्तिम शिष्या थी।

तृतीयाचार्यश्री रायचंदजी के युग की साध्वियाँ

1. साध्वी मगदूजी आमेट (102)
2. " मयाजी धड़ला (106)
3. " कंकूजी उदयपुर (113)
4. " मलूकांजी डेह (122)
5. " ज्ञानांजी (गेनांजी) लाडनूं (124)
6. " चम्पांजी नाथद्वारा (140)
7. " साध्वीप्रमुखा सरदारांजी फलौदी (171)
8. " सिणगारांजी सुजनागढ़ (190)
9. " हरखूजी सुजनागढ़ (194)
10. " सेरांजी मोमासर (199)
11. " जेताजी सूरवाल (201)
12. " हस्तुजी चीवरा (209)
13. " उमेदांजी फलौदी (216)
14. " रंभाजी पदराड़ा (220)
15. " किस्तुरांजी मांडा (227)
16. " साध्वीप्रमुखा नवलांजी (240)
17. " सुन्दरजी नाथद्वारा (264)
18. " बगतूजी रेलमगरा (266)

1. साध्वी मगदूजी (आमेट मेवाड़) (102)

साध्वी मगदूजी आमेट (मेवाड़) निवासी ऋषभदासजी हिंगड़ की पुत्री थी। उनका ससुराल आमेट के ही हिरण परिवार में था और पति वियोग के पश्चात संवत 1979 चैत्र कृष्णा एकम को उन्होंने लावासरदारगढ़ में दीक्षा स्वीकार की। उन्होंने दीक्षा किसके हाथ से ली? इस सन्दर्भ में जानना आवश्यक है।

ख्यात के अनुसार उनकी दीक्षा साध्वी झूमांजी (44) नाथद्वारा के हाथ से सम्पन्न हुई।

चतुर्थ आचार्य जय ने मगदूजी के गुण वर्णन की ढाल में जैसा उल्लेख किया है उससे स्पष्ट है उनकी दीक्षा बगतूजी (बगदूजी) के हाथ से हुई है। जयाचार्य ने लिखा है -

मगदूजी मोटी सती, पियर हिंगर जात।
सैहर आमेट मध्ये सही, ऋषभ-सुता विख्यात॥

हिरण सासरया जाति हद, बगतूजी रै पास।
समचित संयम आदरयो, विनय गुणां री रास॥

वे आचार विचार में कुशल, सरल हृदय, निर्मल, गण, गणपति के प्रति निष्ठाशील और साध्वियों के लिए साताकारी साध्वी थी। वे सेवाभावी थी। उन्होंने दीक्षित होते ही साध्वी बगतूजी की सेवा की, फिर झूमाजी और सरूपांजी -तीनों की तन-मन से सेवा कर कर्मनिर्जरा की। साध्वी सरूपांजी के पश्चात आचार्य ऋषिराय ने उनको अग्रगामी बनाया। उन्होंने अग्रगण्या के रूप में गांव-गांव में विहरण कर लोगों का अच्छा उपकार किया। वे स्वयं तपस्वी थी और साथ वाली साध्वियों को भी तपस्या में अच्छा सहयोग देती।

'आर्यादर्शन' गीत के अनुसार 1909 से 1915 तक के उनके चातुर्मासों का उल्लेख मिलता है। उनके अनुसार उनकी सहयोगिनी साध्वियों की तपस्या भी उल्लेखनीय रही है। उनमें साध्वी रोड़ाजी और चन्दनाजी ने मासखमण आदि तपस्याएं की।

साध्वी मगदूजी स्वयं तपस्विनी थी। उन्होंने बहुत वर्षों तक एकान्तर किए। उपवास से लेकर दस दिन तक की तपस्या उन्होंने अनेक बार की। विशेष तप का विवरण

इस प्रकार है-

11 - एकबार	22 - एकबार
12 - एकबार	30 - एकबार
13 - एकबार	34 - एकबार
14 - एकबार	40 - एकबार
15 - एकबार	54 - एकबार

केवल निराहार रहकर ही उन्होंने तप नहीं तपा। वे सहिष्णु एवं तितिक्षु मनोवृत्ति की साधिका थी। उन्होंने शीत परिषह को जीवन पर्यन्त वीर वृत्ति से सहन किया। दो पछेवड़ी से अधिक कपड़ा भयंकर से भयंकर सर्दी में भी उपयोग में नहीं लिया।

तपस्या के साथ कषाय उपशम की साधना उनकी विशेष थी। स्वयं जयाचार्य ने उनके आन्तरिक व्यक्तित्व को जिन शब्दों में प्रस्तुति दी है वह साध्वी समाज के लिए गौरव का विषय है -

भजन करो सतियां तणो, सतियां माहे सखर सुरंग।
सती मगदू सुखदायिनी चित निर्मल शीतल जल गंग॥

इसी गीत में आगे लिखा है -

साध्वी मगदूजी चार तीर्थ (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका) को अच्छी लगती थी। सबका उसके प्रति विशेष आकर्षण था। उनका मनोबल दृढ था। कठिन से कठिन साधना पथ में अडिग रहने वाली थी। गुरु-आज्ञा और संघ की मर्यादा से उन्हें अत्यधिक प्रीति थी, इसलिए संघ में उन्होंने अच्छा यश कमाया।

उनके उपशांत कषाय की चर्चा करते हुए लिखा है -

क्रोध मान माया लोभ पातला, करड मरड़ नै बंक रहीत।
निरहंकार चित निरमलै, पूरण गण गणपति सेती प्रीत॥

क्रोध, मान, माया, लोभ की अल्पता ही पवित्रता का आधार था, अतः अकड़ाई और कुटिलता जैसे शब्द साध्वी मगदूजी के जीवन कोष में नहीं थे। सफल एवं सार्थक साधना करती हुई साध्वी मगदूजी ने हर क्षेत्र में समर्पण का उदाहरण प्रस्तुत किया। जिस

समय जयाचार्य ने साध्वियों को समर्पित करने का वातावरण बनाया, साध्वी मगदूजी ने गौरव के साथ अपनी साध्वियों को समर्पित किया- जयाचार्य ने उस सन्दर्भ में निम्न शब्दों में प्रस्तुति दी है -

उगणीसै चवदै समै रे, थया सरदारजी नेश्राय रे।
बहु हठकर जन वृन्द में रे, ऊंडी आलोचना मनमाय॥

उन्होंने श्रावक श्राविकाओं को संघीय संस्कार देने के साथ-साथ कई बहिनों को वैराग्य के रंग में रंगने का प्रयास किया। चार बहिनों की दीक्षा उनके हाथ से हुई -

1. साध्वी हरखूजी - राजलदेसर
2. साध्वी ऊमाजी - रतनगढ़
3. साध्वी रोडाजी -दीवेर
4. साध्वी चन्दनाजी -बीठोड़ा।

संवत 1915 का उनका अन्तिम चातुर्मास सुजानगढ़ में था। वहां वे अस्वस्थ हो गईं। वेदना को उन्होंने बड़ी हिम्मत से सहन की। चातुर्मास के पश्चात जयाचार्य सुजानगढ़ पधारे। जयाचार्य प्रतिदिन साध्वी मगदूजी को दर्शन देते, वैराग्यभाव को वृद्धिंगत करते और आध्यात्मिक सहयोग देते। साध्वीप्रमुखा सरदारांजी ने भी उनकी सेवा-सम्मान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। साध्वी मगदूजी उन्हें सदा माता का -सा सम्मान देती। यद्यपि वे दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ थी। फिर भी प्रमोद भाव के साथ गुणगान करती।

अत्यधिक उदर व्यथा के कारण जलन और प्यास की पीड़ा उन्हें बहुत सताती पर जयाचार्य और महासती सरदारांजी की वैराग्यप्रद प्रेरणा से उत्तरोत्तर आत्म विशुद्धि के पथ पर बढ़ती रही। अन्तिम समय में महासती सरदारांजी से उन्होंने अनशन स्वीकार किया, पूर्ण सजगता और सावधानी पूर्वक संथारे में संयम यात्रा सम्पन्न कर धन्य बन गई।

2. साध्वी मयाजी (धडला) (106)

साध्वी मयाजी धड़ला (मारवाड़) का विवाह ओसवाल परिवार में हुआ। पति वियोग की दु:खद स्थिति में संसार की असारता का अनुभव हुआ और आत्मकल्याण के पथ पर बढ़ने का संकल्प किया। संवत 1869 ज्येष्ठ शुक्ला 2 के दिन अपनी जन्मभूमि खैरवा में साध्वी बरजूजी के हाथों संयम रत्न प्राप्त किया।

महासती बरजूजी तेरापंथ परम्परा में साध्वी प्रमुखा स्थानीय प्रथम साध्वी थी, साध्वी मयाजी ने साध्वाचार का प्रथम प्रशिक्षण साध्वी बरजूजी से प्राप्त किया। वे सहज विनम्र एवं भद्र-प्रकृति की साध्वी थी। ज्ञान, ध्यान, सेवा और तपस्या से भावित हो विकास करती रही। साध्वी बरजूजी के पश्चात कुछ वर्षों तक उन्हें साध्वी चत्रूजी की सन्निधि में रहने का अवसर मिला। संवत 1903 में तृतीयाचार्य रायचन्दजी ने उनको अग्रगामी बनाया।

साध्वी मयाजी ने जीवन के अन्तिम तीन वर्षों में तप के विविध प्रयोग किए, जो आज भी प्रेरणाप्रद हैं। संवत 1816 की साल में उन्होंने एक मासखमण किया तथा तेरह की तपस्या की एक बार, ग्यारह की तपस्या की एक बार अठाई की तपस्या की एक बार, चोला की तपस्या पांच बार की।

तप का अद्‌भुत प्रयोग

उसके अगले वर्ष में उनका चातुर्मास सुजानगढ़ था। वहां उन्होंने श्रावण कृष्णा एकम से बत्तीस (32) दिन की तपस्या की। उसके बाद तीन दिन भोजन किया फिर तेले (तीन दिन) की तपस्या की। उसके पश्चात एक पंचोला और दो अठाई की। प्रथम अठाई के पारणे में केवल एक विगय (दूध, दही, घी, तेल, शक्कर और मिठाई) का उपयोग किया। दूसरी अठाई के पारणे में एक भी विगय नहीं ली। फिर नौ दिन का तप किया और पारणे में विगय तथा व्यंजन अर्थात् साग-सब्जी नहीं ली। अगले क्रम में बारह दिन का तप किया और पारणे में सिर्फ रोटी और पानी ही ली। फिर चार दिन यानि चोले की तपस्या के पारणे में उन्होंने एक नया प्रयोग किया- रोटी को पानी में मिलाकर उसे कपड़े से छान लिया। पानी निकल जाने के बाद रोटी का जो निस्सार तत्त्व बचा, पहले उसे खाया और बाद में उसे पानी में मिलाकर पी लिया। स्वादविजय या खाद्य संयम का यह एक उत्कृष्ट प्रयोग कहा जा सकता है। दूसरे दिन अन्न व पानी लिया तथा पुन: आठ दिन की तपस्या

चालू की। उसका पारणा न करके तपस्या को चालू रखते हुए यह अभिग्रह कर लिया कि चातुर्मास के बाद स्वयं जयाचार्य यहां पधारकर पारणा कराए तभी पारणा करना है, अन्यथा नहीं करना है।

संवत 1918 में जयाचार्य का चातुर्मास लाडनूँ में था। चातुर्मास सम्पन्न होते ही मृगसर कृष्णा 2 को जयाचार्य सुजानगढ़ पधारे और साध्वी मयाजी को दर्शन दिए। उस दिन उनके तप का बत्तीसवां दिन था। गुरु-दर्शन की प्रसन्नता में उस दिन उन्होंने पानी का त्याग कर उत्कृष्ट वैराग्य का परिचय दिया। जयाचार्य ने साध्वीजी को महाव्रतों का आरोपण करवाकर अठारह पाप की आलोचना कराई। दूसरे दिन जयाचार्य ने उन्हें पारणे के लिए कहा, लेकिन उन्होंने पारणा करने से मना कर दिया। उसी दिन अर्थात् मृगसर कृष्णा 3 को एक प्रहर रात्रि बीतने पर वे स्वर्गस्थ हो गई।

उस समय साध्वीप्रमुखा सरदारांजी का उन्हें अच्छा आध्यात्मिक सहयोग मिला। उस दिन सुजानगढ़ में बत्तीस साधु और चौहत्तर (74) साध्वियां -कुल 106 ठाणा थे। सहज महोत्सव -सा माहौल बन गया। श्रावक समूह ने 13 खंडी मंडी बनाकर बड़े उत्साह के साथ अन्तिम लोकाचार की क्रिया सम्पन्न की।

उल्लेखनीय है कि शेष जीवन के 128 दिन में साध्वी मयाजी ने केवल 14 दिन आहार ग्रहण किया, शेष सारे दिन तपस्या में बिताए। साध्वी मयाजी की उपरोक्त तपस्या की तालिका इस प्रकार है-

तीन दिन की तपस्या	ग्यारह दिन की तपस्या
चार दिन की तपस्या	बारह दिन की तपस्या
पांच दिन की तपस्या	तेरह दिन की तपस्या
छः दिन की तपस्या	तीस दिन की तपस्या
आठ दिन की तपस्या	बत्तीस दिन की तपस्या
नौ दिन की तपस्या	तैतीस दिन की तपस्या

उपवास और बेले जीवन में उन्होंने कितने किए, गणना नहीं है। शीत काल में सर्दी सहन कर उन्होंने बहुत-बहुत निर्जरा की। उनके स्वर्गवास के पांच दिन पश्चात मृगसर कृष्णा आठम को जयाचार्य ने उनके गुणों की एक ढाल बनाई।

उनकी सहगामी साध्वियाँ भी प्रतिवर्ष अच्छी तपस्या करती थी। उनकी छह वर्ष की तपस्या का ही वर्णन उपलब्ध होता है। वह इस प्रकार है-

साध्वी गंगाजी ने 1909 से 14 तक लड़ी की और उससे आगे 18, 30, 60 की तपस्या की।

साध्वी बींजाजी ने 16, 20, 13, 9 और 7 दिन का तप किया। साध्वी अमृताजी ने 15, 45, 22, 16 दिन का तप किया।

इस प्रकार संघ की नींव को तप साधना से गहराई देने वाले साधारण से व्यक्तित्व भी असाधारण बन जाते हैं। उन्हीं में से एक उल्लेखनीय नाम है- साध्वी मयाजी।

3. साध्वी कंकूजी (उदयपुर) (113)

साध्वी कंकूजी उदयपुर के पोरवाल परिवार की बहु थी, उनका पीहर आहेड ग्राम में था। उन्होंने पतिवियोग के पश्चात साध्वी अजबूजी (जो जयाचार्यश्री की संसारपक्षीया बुआ थी) द्वारा उदयपुर में दीक्षी ली। उनकी दीक्षा सं. 1883 चैत्र शुक्ला 10 को हुई। वे आचार्यश्री रायचंदजी के निर्देशानुसार साध्वी अजबूजी के सिंघाड़े में रही और उनके संरक्षण में अपनी साधना निर्विघ्न करती रही। जयाचार्यश्री की संसारपक्षीया मां साध्वी कल्लूजी भी साध्वी अजबूजी की सहगामी थी। इसलिए साध्वी कंकूजी को साध्वी कल्लूजी जीवन के अंतिम वर्षों में जब संलेखना कर रही थी, सेवा का दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने मनोभाव पूर्वक जागरूकता से सेवा की।

साध्वी कंकूजी स्वभाव से ऋजु, विनयशील और व्यवहारकुशल थी। स्वाध्याय जप में तल्लीन रहना उनकी रूचि का विषय था। जयाचार्यश्री तथा मुनिश्री स्वरूपचंदजी का भी उन पर विशेष अनुग्रह रहा। इसका मुख्य कारण वे गुरुदृष्टि की समर्पण भाव से आराधना करती। आचार्यश्री रायचंदजी ने उनको अग्रगामी बनाया पर उनका सिंघाड़ा कब बनाया यह कहीं उल्लेख उपलब्ध नहीं है। एक अनुमान यह किया जाता है कि जब 1888 में साध्वी अजबूजी दिवंगत हुई तब उन्हें अग्रगामी बनाया हो।

साध्वी कंकूजी ने अपने हाथ से चार बहनों को दीक्षा दी –

1. साध्वी चन्दनाजी (बड़ू) को सं. 1896 माघ बदि 12 को बड़ू में दीक्षा दी।

2. साध्वी हस्तुजी (बेमाली) को सं. 1903 मृगशर बदि 13 को रतलाम में दीक्षा दी।

3. साध्वी सुरतांजी (भीलवाडा) को सं. 1903 पौष वदि 1 को दंतोरी में दीक्षा दी।

4. साध्वी कंकूजी (छोटा) सिसोदावालों को सं. 1909 माघ कृष्णा 8 को सिसोदा में दीक्षा दी।

साध्वी कंकूजी ने अस्वस्थता के कारण लगभग 8 वर्ष चांदारूण में स्थिरवास किया। वहां ओसवाल महेश्वरी आदि सभी जाति के लोगों पर उनका अच्छा प्रभाव रहा। सं. 1927 से 1934 तक उनका वहां प्रवास हुआ। उस अवधि में आवश्यक वस्त्र

पात्र आदि की जब भी उन्हें अपेक्षा रही स्वयं जयाचार्यश्री ने सलक्ष्य ध्यान दिराया और सतियों को उधर भेजाकर उनकी पूर्ति कराते। यह अविस्मरणीय कृपा प्राप्त कर साध्वीजी कृतकृत्य हो जाती।

सं. 1934 आश्विन शुक्ला 11 को उन्होंने अत्यन्त उत्साह और उमंग के साथ विधिवत चौविहार अनशन स्वीकार कर हिम्मत का परिचय दिया। उसी दिन वे समाधि मरण को प्राप्त हो गई। वहां के महेश्वरी ओसवाल समाज ने निर्जला एकादशी के दिन स्वर्ग प्रस्थान होने से उसे अत्यधिक महत्त्व दिया। उनकी अनुगामी साध्वी बगतावरजी और चन्दनाजी ने साध्वीजी की तन मन से सेवा कर जनता में अच्छा सुयश कमाया।

ज्योहीं साध्वीजी के स्वर्गवास की खबर चांदारूण रावला में पहुंची। ठाकर साहब की माताजी नाथावतीजी ने तेरापंथ समाज के लोगों को कहलाया कि साध्वीजी की अन्त्येष्टि–क्रिया में जिस किसी वस्तु की अपेक्षा हो रावला से मंगवा ले और साध्वीजी का चरमोत्सव ठाटबाट से करें। स्थानीय श्रावक समाज ने अच्छी तरह से अन्तिम लोकाचार की तैयारी की और ठाकुर साहब रामसिंहजी बहुत अच्छी संख्या में पुरजनों के साथ उसमें सम्मिलित हुए। इसी प्रकार इतर समाज के ओसवाल और महेश्वरी आदि अनेक लोग अंतिम यात्रा में अगुआ थे, उन्होंने भी तन, मन और धन से अपना दायित्व निभाया। जिस प्रकार रावला से लेकर आम व्यक्ति की भावना थी उसी प्रकार साध्वीजी की अंत्येष्टि क्रिया का काम खूब ठाटबाट और हर्ष उल्लास के साथ हुआ।

साध्वी कंकूजी उस वर्ष चांदारूण में तीन साध्वियों से प्रवास कर रही थी। उनके स्वर्गवास के पश्चात दो साध्वियां रह गई – साध्वी बगतावरजी और साध्वी चन्दनांजी। उस वर्ष जयाचार्यश्री का चातुर्मास लाडनूं था। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार दो साध्वियों को एक स्थान में एक दिन से अधिक रहने का विधान नहीं है, इसलिए दोनों साध्वियों ने चांदारूण से विहार कर दिया और जयाचार्य श्री की सन्निधि में पहुंच गई।

4. साध्वी मलूकांजी (डेह) (122)

साध्वी मलूकांजी नागौर के पास डेह गांव की वासिनी थी। जाति से वे सरावगी कासलीवाल थीं। उनका पीहर लाडनूं के सेठी (सरावगी) परिवार में था। सं. 1887 में तृतीयाचार्यश्री रायचंदजी के कर–कमलों से अपनी जन्मभूमि लाडनूं में दीक्षा ली। उनकी गणना तपस्विनी साध्वियों में होती है। दीक्षा–क्रम से देखा जाए तो छहमासी तप करने वाली साध्वियों में उनका प्रथम स्थान है। उनकी तपस्या के आंकड़े सचमुच विलक्षण है।

उपवास : अनेक गिनती उपलब्ध नहीं है।

बेला	–	132	बार	ग्यारह	–	1	बार
तेला	–	30	"	तेरह	–	1	"
चोला	–	19	"	तीस	–	2	"
पंचोला	–	14	"	पैंतालीस	–	1	"
अठाई	–	4	"	चारमासी	–	2	"
दस	–	4	"	छहमासी	–	2	"

= यह सारी तपस्या आछ के आगार से की गई।

पानी के आगार से की गई तपस्या का आंकड़ा निम्न है –

पन्द्रह	–	1
इक्कीस	–	1
बत्तीस	–	1
पैंतीस	–	1
इकचालीस	–	1
अठावन	–	1

साध्वी मलूकांजी के जीवन में उल्लेखनीय बात यह रही कि – लाडनूं निवासी साध्वी नन्दूजी ने सं. 1906 के वैशाख महीने में दीक्षा साध्वी मलूकांजी के हाथ से स्वीकार की। उस समय साध्वी मलूकांजी अग्रगामी नहीं थीं। वे साध्वी दीपांजी (90) के साथ थी। प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर नन्दूजी की दीक्षा साध्वी मलूकांजी ने कैसे दी? लगता है साध्वी मलूकांजी लाडनूं की थी इसलिए उनके हाथ से उनकी दीक्षा कराई हो।

यद्यपि साध्वी नन्दूजी की संसारपक्षीया पुत्री साध्वी मगनाजी (181) ने उनसे पहले सं. 1898 मिगसर वदि 1 को लाडनूं में आचार्यश्री रायचंदजी के हाथ से दीक्षा ग्रहण की थी।

5. साध्वी गेनांजी (लाडनूं) (124)

साध्वी गेनाजी का ससुराल लाडनूं के कोठारी परिवार में था। उन्होंने पतिवियोग के बाद सं. 1887 चैत्रशुक्ला 13 महावीर जयंति के शुभ अवसर पर तपस्वी मुनि भीमजी (जयाचार्यश्री के बड़े भाई) के हाथ से लाडनूं में संयम जीवन स्वीकार किया।

वे दीर्घतपस्विनी साध्वी थीं। उनकी तपः साधना का सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं है, फिर भी जितना है उसका यहां उल्लेख किया जा रहा है –

संवत 1909 से 1916 तक तपस्या का क्रम जो साध्वी दीपांजी की सन्निधि में किया –

118 दिन (चौमासी) की तपस्या पुर में की।

31 दिन का तप चित्तौड़ में किया।

177 दिन (छमासी) का तप पुनः पुर में किया।

15 दिन का तप गंगापुर में किया।

छमासी तपस्या आमेट में की।

छमासी तपस्या देवगढ़ में की।

5 दिन का तप नाथद्वारा में किया।

साध्वी गेनांजी को 177 दिन की तपस्या का पारणा जयाचार्य ने अनुग्रह अपने कर–कमलों से कराया। उनकी पहचान ज्ञानांजी के रूप में भी होती है।

6. साध्वी चंपाजी (नाथद्वारा) (140)

साध्वी चंपाजी नाथद्वारा के नन्दलालजी तलेसरा की पुत्री थी और तपस्वी मुनि अनोपचंदजी छोटी बहिन थी। तेरापंथ कुमारी कन्या के रूप में दीक्षित होने वाली यह दूसरी साध्वी थी। साध्वी चम्पाजी 9 वर्ष की अवस्था में सं. 1991 में दीक्षा ली। मात्र नौ वर्ष संयम पालन कर वे दिवंगत हो गई। वे विनम्र, संकोचशील और प्रतिभा सम्पन्न साध्वी थी। जयाचार्यश्री ने उनके विषय में दो गीत लिखे। उनमें उनकी विशेषताओं की जिस ऊंचाई के साथ प्रस्तुति दी है, उसे पढकर गर्व की अनुभूति होती है –

चम्पा अकन कुमारी कन्या, धर चित्त संजम धार्यो।
बुद्धि प्रबल बहुत सूत्र सिद्धान्त भणी जश–कलश चढायो।।
बाल ब्रह्मचारी गुण सुखकारी, गुण हद चंप–कली का।
मनुष मात्र की कवण चली, सुर दरसण कर जश टीका।।
समण थी सुख–संपत कीरत, ऋद्धि वृद्धि मंगल माला।
हरष विनोद आनन्द हुवै, अरु कटै कर्म नां ताला।।
गुणवर्णन ढाल 2 गा. 2,3,4

जयाचार्यश्री ने तृतीयाचार्यश्री रायचन्दजी की गुणोत्कीर्तना में लिखे गीत में प्रसंगोपात्त साध्वी चंपाजी के व्यक्तित्व का वर्णन इन शब्दों में किया है –

अनोपचंद जय–वार में, षट सप्तमासी च्यार।
भगिनी तास सुहामणी, आ तो चंपा अकनकुंवार।।
दीक्षा राय वरतार में, आ तो बुद्धिवंती बहु जांण।
स्याणी सुगणी शोभती, आ तो पुण्यवंती पहिछांण।।
चम्पक फूल नी ओपमा, आ तो मनोहर चंपक माल।
शील–सुगंध सुहामणी, वारु वच दृढ अधिक विशाल।।
ऋषिराय गुणवर्णन ढा. 6 गा. 11, 12, 13

7. साध्वीप्रमुखा सरदारांजी (फलौदी) (171) प्रथम साध्वीप्रमुखा

तेरापंथ धर्मसंघ की आधी दुनिया के भाग्योदय की कहानी का शुभारंभ महासती सरदारांजी के कर्तृत्व से होता है। इससे पहले संघीय व्यवस्था में विधिवत साध्वियों की भागीदारी नहीं थी। चतुर्थ आचार्यश्री जीतमलजी ने साध्वी सरदारांजी को विधिवत साध्वी समाज का दायित्व सौंपा और तेरापंथ धर्मसंघ में प्रथम साध्वीप्रमुखा के रूप में पहचान दी।

जन्म : विवाह

राजस्थान का चूरु जिला। स्थापत्य कला में प्रसिद्ध क्षेत्र। यहां की हवेलियां उत्कृष्ट यहां की कला के साथ–साथ जन जीवन की उन्नत मानसिकता, सौन्दर्यप्रियता एवं कलाप्रेम की जीवंत अभिव्यक्ति देती है। इस धरती के पुत्रों पर लक्ष्मी की अपार मेहरबानी रही है, यह कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। धनाधीशों की नगरी चूरू में धनाढ्य सेठ जेतरूपजी कोठारी के आंगन में संवत 1865 आसोज महीने में बालिका सरदार का जन्म हुआ। उनकी माता का नाम चन्दना देवी था। बालिका सरदारा के दो भाई थे, एक अवस्था में उनसे बड़ा था और एक छोटा था। मन इप्सित और योग्य संतान प्राप्तकर जेतरूपजी के मन में अत्यधिक प्रसन्नता थी। परिवार तथा गांव के संभ्रान्त जन उनके संतान सौभाग्य की जी भर प्रशंसा करते थे।

बालिका सरदार का बचपन लाड़प्यार, खेलकूद में बीत रहा था। तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था के अनुसार मात्र दस वर्ष की अवस्था में उनका विवाह फलौदी के श्रीसम्पन्न सेठ सुलतानमलजी ढड्ढा के सुपुत्र जोरावरमलजी के साथ हुआ। उस समय जोरावरमलजी की अवस्था कितनी थी, सगाई कब हुई, विवाह की तिथि क्या थी, यह सब अज्ञात है। मात्र इतना उल्लेख मिलता है कि संवत 1875 में उनका विवाह हुआ।

वैधव्य का वज्रपात

सरदारांजी के हाथों की मेहन्दी पूरी उतरी ही नहीं होगी, उनका मुकलावा हुआ या नहीं? वे ससुराल गई या नहीं? उन्होंने ससुराल का दरवाजा देखा तो कितनी बार देखा, सब कुछ शोध का विषय है। मात्र पांच महीने ही बीते थे कि उनके पति का देहांत हो गया। सधवा–विधवा की परिभाषा से अनजान बालिका सरदार वैधव्य के वज्राघात से कितनी प्रभावित हुई, कहा नहीं जा सकता, पर माता पिता, सास

ससुर के जीवन में गहरा कुहासा छा गया। सब विध सम्पन्न और सुखी परिवारों में एक अपूरणीय रिक्तता व्याप गई। वियोग के गहरे घाव को भरने का शाश्वत साधन है – समय और धर्म की शरण। चूरू का आभिजात्य श्रेष्ठी वर्ग परम्परा से जैन धर्म का अनुयायी रहा है। उस समय वहां आचार्य भिक्षु की परम्परा से बहिर्भूत मुनि तिलोकचंदजी, मुनि चन्द्रभाणजी विशेष सक्रिय बन प्रचार प्रसार कर रहे थे। उनके सहयोगी बने मुनि शिवजीरामजी और संतोकचंदजी। थली क्षेत्र के कई गांवों के लोगों को उन्होंने अपने बहकावे में लिया और कई परिवारों को चन्द्रभाणजी की श्रद्धा के रंग में रंगा। जेतरूपजी के परिवार में भी चन्द्रभाणजी की आस्था थी, इसलिए बालिका सरदार की धर्मयात्रा का शुभारंभ उन्हीं के निर्देशन में हुआ। उन दिनों चन्द्रभाणजी एवं शिवजीरामजी का विचरण उन क्षेत्रों में अधिक था। बालिका सरदार प्राथमिक ज्ञान के साथ सामायिक, पौषध, तप, जप आदि धार्मिक क्रियाओं में रस लेने लगी। संतो की प्रेरणा, परिवार का अनुकूल वातावरण तथा सरदार की अपनी वैराग्य वृत्ति से वे तीव्र गति से अध्यात्म पथ पर आगे बढ़ने लगी। जिस किशोर वय में तप त्याग का अर्थ समझना मुश्किल होता है, बालिका सरदार ने रात्रि में चौविहार करना प्रारंभ कर दिया। यावज्जीवन हरियाली खाने का त्याग कर दिया और चतुर्दशी का उपवास करने लगी। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण और आशुग्राही थी। कहते हैं कि तेरहद्वार का थोकड़ा उन्होंने एक दिन रात में याद कर लिया।

यों बढ़ा तेरापंथ से परिचय

संवत 1886 में तेरापंथ के तृतीयाचार्यश्री रायचन्दजी ने तेरापंथ की भागीरथी को थली में प्रवाहित करने का संकल्प किया। आचार्यश्री रायचन्दजी साधु–साध्वी परिवार के साथ लाडनूं, बीदासर, रतनगढ़ और चूरू पधारे। उस समय मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) भी साथ में थे। चूरू के लोगों को आचार्यवर के व्याख्यान सुनने का तथा उपासना का सहज मौका मिल गया। जेतरूपजी कोठारी के परिवार ने इस अवसर का पूरा–पूरा लाभ उठाया। वे व्याख्यान श्रवण, उपासना और धर्म चर्चा में सम्मिलित होते, पर गुरु मानकर तिक्खुतो के पाठ से वन्दना नहीं करते। यदि सामायिक में होते तो व्याख्यान से पूर्व नमस्कार महामंत्र के उच्चारण के समय खड़े नहीं होते। इसके अतिरिक्त उनके व्यवहार और बातचीत के प्रसंग से ऐसा लगता कि कोठारी परिवार भक्ति भावना में ठीक है। बालिका सरदार की धर्मनिष्ठा और अध्यात्मनिष्ठा सबको आकर्षित करने वाली थी। आचार्यश्री रायचंदजी का 22 दिवसीय प्रवास भूमि को उपजाऊ बनाने वाला साबित हुआ। आचार्यवर का उस वर्ष का चातुर्मास बीदासर में पहले से घोषित था। उन्होंने मुनि जीतमलजी (जयाचार्य)को

वह चातुर्मास चूरू करने का आदेश दिया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋषिराय महाराज को चूरू में तेरापंथ के विस्तार की संभावना नजर आई तथा विशेष उपलब्धि की आशा लगी। कुछ भी हो, जीतमुनि के इस चातुर्मास ने तेरापंथ के इतिहास में उजले पृष्ठ का सृजन किया।

सं. 1887 का जीतमुनि ने चूरु में चातुर्मास किया। इससे पहले आचार्यवर के साथ बावीस दिवसीय प्रवास कर वे चूरु के लोगों की मानसिकता का भूगोल अच्छी तरह समझ चुके थे। इस बार के प्रवास में उन्हें एक विशेष बात यह लगी कि सरदारांजी से लेकर वहां के अधिकांश लोग अपनी जिज्ञासाओं के पंख जीतमुनि के सामने खोलने लगे। जीतमुनि व्याख्यान के साथ–साथ लोगों को धर्मचर्चा करने का खुलकर मौका देने लगे। चूरू के लोग भी चन्द्रभाणजी शिवजीरामजी की मान्यता को आचार्य भिक्षु के विचारों की कसौटी पर समझने का प्रयत्न करने लगे। सोना शुद्ध होता है तो निकष कैसा भी हो फर्क नहीं पड़ता, उसकी शुद्धता में कमी नहीं आती। सरदारांजी ने दोनों की मान्यता में जो भेद दिखाई देता, उसे समझने का प्रयत्न किया। एक दो दिन नहीं, पूरे चातुर्मास काल में शंका–समाधान अथवा प्रश्नोत्तर का क्रम अनवरत चलता रहा। उसका शुभ परिणाम यह आया कि – कार्तिक शुक्ला चौथ को सरदारांजी सहित अनेक भाई बहिनों ने जयमुनि से तेरापंथ की गुरुधारणा की और धर्म के राजपथ पर अपने चरण आगे बढ़ाए। सरदार–सुजस में जयाचार्य ने इस घटना को प्रस्तुति देते हुए लिखा है –

इह विध विविध प्रश्न पूछी करी रे, शंका मेटी तेथ।

कार्तिक शुक्ल चौथ तिथि गुरु किया रे, बहु जन वृंद समेत।।

<u>जीवन में बदलाव</u>

जीतमुनि की सन्निधि ने एक ओर सरदारांजी को धर्म की सही समझ दी तो दूसरी ओर जीवन व्यवहार में वैराग्य भाव पैदा किया। उस चौमासे से उनका लक्ष्य सामायिक स्वाध्याय, तप, त्याग से अधिक से अधिक निर्जरा करने का बन गया। अपना जीवन सादगीमय एवं हल्का बनाने के लिए सबसे पहले अपनी वेशभूषा में परिवर्तन किया। माता पिता के अतिरिक्त मोह ने विधवा होने पर भी वेश में परिवर्तन नहीं करने दिया, पर विवेक चेतना जागृत होने पर वैराग्य भाव के साथ उन्होंने सीमित आभूषणों (कड़िया, बाजू, बोर, एक गले का गहना, चूड़ियां) के अतिरिक्त पहनने का त्याग कर दिया। लाल कपड़े पहनना छोड़ दिया। जीवन भर के लिए सचित्त जल

पीने का तथा खुले मुंह बातचीत करने का त्याग कर संयम पथ पर अनवरत आगे बढ़ने लगी।

जीतमुनि का आध्यात्मिक पथदर्शन पाकर सरदारांजी का वैराग्य भाव इतना विकसित हुआ कि वे स्वयं परीषह–सहन करने का अभ्यास करने लगीं। गर्मी की भयंकर मौसम में धूप में बैठकर प्रतिदिन चार सामायिक करतीं और भयंकर सर्दी में हमेशा रात्रि में एक ओढ़नी ओढ़कर तीन सामायिक अनावृत्त स्थान में बिना गर्म कपड़े पहने करती और खूब निर्जरा करतीं। इसके साथ तपस्या का क्रम उन्होंने जो अपनाया, सचमुच विस्मय कारक था।

तपःसाधनाः गृहस्थ अवस्था में

सरदारांजी ने गृहस्थ जीवन में विभिन्न प्रकार से तपस्या कर कर्म शरीर को प्रकम्पित किया। उनकी तपस्या का विवरण इस प्रकार है –

– धन्ना अणगार ने अपने जीवन की सन्ध्या में आठ महीने लगातार बेले–बेले तप किया। नौवें महीने आजीवन अनशन किया। उनके तप का अनुसरण करने वाले आठ महीने बेले करते हैं। सरदारांजी ने आठ महीने में होने वाले अस्सी बेले किए और सभी के पारणे में आयम्बिल किया।

– परदेशी राजा के बारह बेले और तेरहवां तेला किया। कहते हैं, परदेशी राजा ने अन्तिम समय में 12 बेले किए और तेरहवें बेले के पारणे के दिन उनका स्वर्गवास हो गया। इसलिए तप में बारह बेले और तेरहवां तेला किया जाता है।

– संवत 1891 में पूरे चातुर्मास में उन्होंने एकान्तर तपस्या की। बीच–बीच में बेला, तेला और चोला भी करती रहीं।

– संवत 1892 के चातुर्मास में दो महीने एकांतर, 7 तेले, 5 चोले, 1 बार छह दिन की तपस्या, एक बार सात दिन की, और एक बार आठ दिन की तपस्या की।

संवत 1891 के कार्तिक मास से 1892 के कार्तिक मास तक अर्थात पूरे वर्ष बेले–बेले तपस्या की। प्रत्येक महीने एक चौविहार चोला और पंचोला किया। इसी अवधि में कुछ महीने चौविहार बेले किए, तीन महीने चौविहार तेले किए और एक महीने चौविहार चौले की तपः साधना की। इनके अतिरिक्त एक बार दस दिन की तपस्या की।

– संवत 1893 के पौष महीने से 1894 के पौष महीने तक चौविहार बेले की निरन्तर तपस्या की। इस प्रकार संवत 1895 तक वे तपःसाधना के विविध प्रयोग कर अपने आपको तेजस्वी बनाती रहीं। इस अवधि में एक बार धर्मचक्र तप की आराधना की। इस सारी तपस्या में सरदारांजी ने अमल का आगार रखा, अर्थात अमल का उपयोग किया।

वैराग्य की अभिव्यक्ति

संवत 1894 में पौष महीने की ठंडक में विहरण करते–करते युवाचार्यश्री जय सलक्ष्य फलौदी पधारे। उस समय सरदारांजी अपने ससुराल में थी, उन्हें दर्शन दिए। अप्रत्याशित युवाचार्यश्री के दर्शन प्राप्त कर सरदारांजी को प्रसन्नता होनी स्वाभाविक थी। अतिरिक्त आह्लाद के क्षणों में तप त्याग का संकल्प लेकर आत्मतोष का अनुभव किया और अपने आन्तरिक वैराग्य की अभिव्यक्ति देते हुए – दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की। ससुराल वालों ने उस समय इस बात पर कितना ध्यान केन्द्रित किया, कहा नहीं जा सकता, पर उनके भाई चूरू से फलौदी आए और ससुराल वालों को दीक्षा की स्वीकृति न देने का आग्रह किया।

इस बात की अवगति को तीन महीने ही व्यतीत हुए थे कि उनके श्वसुर सुलतानमलजी का देहावसान हो गया। उस समय ढड्ढा परिवार जन और धन दोनों दृष्टियों से अत्यधिक सम्पन्न था। उनके दो जेठ और तीन देवर का भरापूरा परिवार था। वहां अभाव नाम की कोई चीज नहीं थी। पर सरदारांजी के मन पर विरक्ति का रंग चढ़ चुका था, अतः उनको उसमें किंचित भी रस नहीं था। दीक्षा की अनुमति देने की ससुराल वालों की मानसिकता नहीं थी। संवत 1896 का युवाचार्यश्री जय ने पुनः चूरू चातुर्मास करने का निश्चय किया। यह संवाद मिलते ही सरदारांजी फलौदी से चूरू आ गईं। वहां उन्हें लगा, मेरे भाई बन्धु सभी मेरे चारित्र स्वीकरण में बाधक बने हुए हैं। सर्वप्रथम इनको समझाने का उपाय करना चाहिए।

उन्हीं दिनों सरदारांजी के चाचा की पुत्रवधु रूपकंवर के मन में साध्वी बनने की भावना जागृत हुई। उनको सरदारांजी ने कहा – 'अब हम दोनों सफेद कपड़े पहनकर साध्वी बन जाएंगी।' यह बात जेतरूप जी के कानों तक चली गई। उन्हें लगा अब सरदारांजी हमारे पास दीक्षा लेने का आग्रह करेंगी। दीक्षा उनको देनी नहीं थी, इसलिए उन्होंने बड़ी चतुराई से काम लिया। वे तत्काल युवाचार्यश्री जीत के पास पहुंचे और बोले – दीक्षा की आज्ञा का जहां तक प्रश्न है, ससुराल वालों की लेनी होगी, हमारी तो आज्ञा चलेगी नहीं, ऐसी स्थिति में दीक्षा को लेकर हमारे से

खींचाताण करना कहां तक उचित है?

युवाचार्यश्री जय ने धीरता के साथ उनको समझाते हुए कहा – आपका कथन सही है। क्योंकि विवाह हो जाने के बाद लड़की की सम्पूर्ण जिम्मेदारी ससुराल वालों की होती है, इसलिए दीक्षा के लिए उनकी आज्ञा ही सर्वोपरि है। मैं सरदारांजी को समझा दूंगा, वे सफेद कपड़े नहीं पहनेंगी। युवाचार्यश्री का विवेक सम्पन्न निर्णय सुनकर जेतरूपजी अत्यधिक प्रसन्न हुए।

अफीम के त्याग

वह युग एकतंत्र का युग था, दूसरे शब्दों में कहें तो राजाओं, सामंतों का युग था। राजपूती आन बान और शान का प्रभाव सामाजिक जीवन तथा रहनसहन में आना स्वाभाविक था। राजपूत स्त्रीपुरुष अफीम का प्रयोग बहुत करते थे और उनके देखादेखी वैश्य समाज में भी उसका प्रचलन बढ़ा। समृद्ध घरानों की महिलाएं विशेष रूप से उसका उपयोग करतीं थी। सरदाराजी भी लगभग पांच मासा अफीम हमेशा लेती थी। यहां तक कि तपस्या में भी उसका उपयोग करती थी। दीक्षा–ग्रहण करने की भावना जागृत होने के बाद 1896 के चातुर्मास में युवाचार्यश्री जय के पास उन्होंने अफीम के यावज्जीवन के लिए त्याग कर दिए। जिससे उनको अत्यधिक शारीरिक कष्ट उठाना पड़ा, फिर भी उनका मनोबल दृढ़ रहा और शारीरिक व्यथा को दृढ़ता के साथ सहन किया।

कंचन चढा कसौटी ऊपर

सरदारांजी के मन में जब से दीक्षा की भावना जागी, वह ज्यों–ज्यों समय बीता, तीव्र से तीव्रतर होती गई। उनके मन में गृहस्थ जीवन से निकलने की ऐसी छटपटाहट पैदा हो गई कि वे अपने पर नियंत्रण रखने में कठिनाई महसूस करने लगी। एक प्रयत्न ससुराल में किया और दूसरा प्रयत्न पीहर में किया, दोनों जगह उन्हें सफलता नहीं मिली। चूरू में चातुर्मासकर युवाचार्यश्री जय रामगढ़ पधार गए। सरदारांजी ने मन ही मन गहराई से चिन्तन किया कि – दीक्षा के लिए उन्हें अनुमति सहजता से मिलने वाली नहीं है, उसके लिए अपने आपको कसौटी पर चढ़ाना पड़ेगा और वज्र संकल्प के साथ समरांगण में उतरना पड़ेगा। तीसरी महत्त्वपूर्ण बात, ससुराल वालों से आज्ञा प्राप्त करनी पड़ेगी। वे रामगढ़ युवाचार्यश्री के दर्शन करने पहुंची और संकल्प किया कि – जब तक दीक्षा की अनुमति नहीं मिलेगी,

– वे बेले–बेले तपस्या करेंगी।

– प्रत्येक महीने में एक थोकड़ा – चार–पांच की तपस्या करेंगी

– बारह थोकड़े करने के बाद 1 पंचोला करेंगी।

– उक्त सभी तपस्या के पारणे में पांच विगय का त्याग रखेंगी।

– चूरू से फलौदी ससुराल पहुंचने के बाद जब तक दीक्षा की आज्ञा न मिले तब तक घर की रोटी नहीं खाएंगी।

इस प्रकार कठोर संकल्प स्वीकार कर सरदारांजी कुछ समय चूरू में ठहरी और फिर वहां से ससुराल फलौदी चली गईं। उन्होंने सबके सामने अपनी प्रतिज्ञाएं रखीं। उनको घर की रोटी खाने का त्याग था, ससुराल वालों को दूसरों के घर से रोटी मांगकर खिलाना मान्य नहीं था। इसलिए वे लोग दूसरे घर से रोटी लाने नहीं देते थे और घर की रोटी सरदारांजी खाती नहीं थी। यों करते–करते छह दिन निकल गए और उनके छह दिन का तप हो गया। सातवें दिन उन लोगों ने अर्थात जेठ आदि ने कहा – आप दूसरों के घर की रोटी मंगाकर खा सकती हो, पर मांगने के लिए घर के बाहर नहीं जा सकती। यह निर्णय सुनकर सरदारांजी ने पुरोहित के घर से रोटी मंगवाकर पारणा किया। उसके बाद बेले की तपस्या की और पारणे के दिन दासी (दरोगा जाति की स्त्री) को साथ लेकर घर से बाहर निकली। दासी के हाथ में एक झोली दे दी, उसमें तीन कटोरे डाल दिए। एक कटोरा काष्ठ का था, एक मिट्टी का था और एक चान्दी का था। वे पुरोहितजी के घर जा रही थी, उनके पीछे बहुत सारे बच्चे हो गए और जोर–जोर से बोलने लगे – देखो–देखो! सेठानी रोटी मांगने के लिए दूसरों के घर जा रही है।

गलियों में यह हो हल्ला, हंसी मजाक देख सुनकर परिवार वालों को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने सरदारांजी को समझाते हुए कहा – आप दासी के द्वारा रोटी मंगवा लें, पर आप बाहर मांगने के लिए न जाएं, इससे घर परिवार की अच्छी नहीं लगती। सरदारांजी अपने संकल्प पर दृढ़ थी, उन्होंने परिवार जनों के समक्ष अपनी भावना रखते हुए कहा – जब तक आप मुझे दीक्षा की आज्ञा नहीं देंगे, तब तक मुझे महाजनों के घर का आहार/भोजन करने का त्याग है।

उस दिन उन्होंने बेले की तपस्या का प्रत्याख्यान किया और पारणे के दिन फिर वही समस्या सामने खड़ी हो गई। परिवार के सदस्यों ने पहले से ही घर का मुख्य दरवाजा बन्द कर दिया और पहरेदार को बैठा दिया, जिससे सरदारांजी घर

से बाहर न जा सके। ज्योहीं सरदारांजी के चरण बाहर जाने के लिए तत्पर हुए – घर का मुख्य दरवाजा बन्द देखकर द्वारपाल से खोलने के लिए कहा। द्वारपाल ने विनम्रता के साथ कहा – आपको घर से बाहर जाने का आदेश नहीं है। उनके पैर पुनः अपने कमरे की ओर मुड़ गए पर उनके मन में तीव्र आवेश उभर आया।

मध्याह्न के भोजन के समय जब उनके जेठ बादरमलजी आदि खाना खाने के लिए घर में आए और आंगन में खाना खाने के लिए बैठे तब सरदारांजी उनके सम्मुख आकर जोश भरे शब्दों में बोली – आप लोग तो भोजन कर रहे हैं और मैं बिल्कुल भूखी बैठी हूँ, मुझे मांगकर भोजन लाने नहीं देते। मैंने तो इस घर को महाजनों का घर समझा था, कसाई का तो नहीं। आपके मन में कुछ तो करुणा आनी चाहिए। यदि अब आप खाना खाएंगे तो.....। सरदारांजी के व्यथा और आक्रोश भरे शब्दों को सुनकर परिवार के सभी सदस्य बिना खाना खाए उठकर चले गए। पीछे से सरदारांजी ने जितनां खाना बना हुआ था सारा खाना आंगन में बिखेर दिया तथा घी के बर्तन फोड़ दिए, जिससे घी धरती पर बह गया। यह सारी तोड़फोड़ उन्होंने इसलिए मचाई कि इससे तंग होकर जेठजी उन्हें दीक्षा की आज्ञा दे देंगे। ऐसा उत्पात मचाकर वे रसोई को तथा घर को भीतर से बंद कर ताला लगा दिया, जिससे जो अन्दर थे, वे अन्दर रह गए और जो बाहर थे, वे बाहर बैठे रहे। इस प्रकार घर में सभी लोगों का आवागमन बन्द हो गया। घर के भीतर सास जेठानी आदि जो भी थे, सबको उन्होंने मना कर दिया कि कोई ताला किंवाड़ नहीं खोलेगा।

आखिर दरवाजा खुलने का इंतजार करते–करते पुरुष लोग थक गए, तब उन्होंने दरवाजे के किंवाड़ उतरवाए और भीतर प्रवेश किया। सरदारांजी से रसोई का ताला खोलने के लिए कहा। उन्होंने स्पष्ट इन्कार करते हुए कहा – मैं तो अपने हाथ से नहीं खोलूंगी। दो टूक उत्तर सुनकर उनके जेठजी का गुस्सा भी तेज हो गया। उन्होंने घर में खड़ी सभी दासियों से कहा – इन्हें उठाकर एक कमरे में ले जाओ और कमरा बन्द कर दो। कमरे में उनके पास ओढ़ने बिछाने के कपड़े तथा सामायिक के उपकरण घड़ी आदि सब रखवा दिए।

इस घटना के पीछे दोनों के मन में न द्वेष भाव था और न विरोधभाव। मात्र दोनों का अपना–अपना आग्रह था। वे दीक्षा लेना चाहती थीं और परिवार जन दीक्षा की स्वीकृति देना नहीं चाहते थे। सरदारांजी को लगा उनके द्वारा किए गए सारे उपाय व्यर्थ जा रहे हैं। रात्रि में चिन्तन किया – अब मुझे कौन–सा उपाय काम में लेना चाहिए जिससे मेरा काम बन जाए। कुछ समय पूर्व उन्होंने जैन साध्वियों के

उपयोग आने वाले कपड़ों की सिलाई कर उन्हें तकिए में डालकर रख दिया था। उन्होंने उन कपड़ों को निकाला और पहनकर साध्वी का वेश बना लिया। फिर अपना केश–लोच करने लगी। घर के बच्चों ने छिद्रों से देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि कमरे के भीतर तो एक साध्वी बैठी है। यह समाचार घर में हवा की तरह फैल गया।

जब उनके जेठ बादरमलजी को यह सूचना मिली कि सरदारांजी ने तो साध्वी का रूप धारण कर लिया और केशों का लुंचन कर रही है, तब वे शीघ्रता से घर में आए और ताला खोलकर देखा तो अवाक् रह गए। उन्होंने साध्वी वेश उतारने के लिए कहा। वे नहीं मानीं तो जबरन दूसरों से उतरवाने की धमकी दी, परन्तु सरदारांजी अपने प्रण से टसमस नहीं हुई और दृढ़ संकल्प पर डटी रही। अन्त में उस स्थिति को बदलने में अक्षमता महसूस करते हुए बादरमलजी बोले – आप धवल वस्त्र पहनकर हमारे घर में बैठी रहो, हम समझेंगे कि लोगों को साधु–साध्वियों के दर्शन करने सौ कोस जाना पड़ता है, हमारे तो घर में ही साध्वी विराजित है। हम प्रतिदिन सूर्योदय होते ही आपके दर्शन कर लेंगे, लेकिन दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा तो नहीं देंगे।

तीन तरह के पात्र रखने का राज

श्वेत वस्त्र धारण कर, द्रव्य साध्वी बनकर सरदारांजी, पुनः अपनी तपः साधना के साथ आत्माराधना में लीन बन गई। बेले–बेले की निरन्तर तपस्या करती हुई पहले की तरह दासी से पारणा मंगाने लगी। एक बार उनके काका ससुर के लड़के सालमचंदजी ने उनसे पूछा – आप अपनी झोली में तीन तरह के पात्र क्यों रखतीं हैं?

उन्होंने यौक्तिक उत्तर देते हुए कहा – मुझे साध्वी बनकर काष्ठ–पात्र में भोजन करना है, इसलिए एक पात्र में काष्ठ का रखती हूँ। आपके परिवार की लघुता दिखाने के लिए मिट्टी का पात्र रखती हूँ। आपका घर सम्पन्न है अतः समृद्धि का सूचक चान्दी/रजत पात्र है। तीन प्रकार के पात्र सलक्ष्य और सप्रयोजन रख रही हूँ।

ढड्ढा परिवार के सब सदस्यों की एक ही भावना थी कि सरदारांजी को दीक्षा न दी जाए। वे हर कीमत पर उनको दीक्षा से रोकना चाहते थे। इसलिए मोहवश उन्हें तकलीफें देने में भी कमी नहीं रखी। फिर भी सरदारांजी की मानसिकता पहाड़ की तरह अचल और अडोल दिखाई दी। ऐसी स्थिति में एक बार परिवार वालों ने

सोचा, कोई मांत्रिक तांत्रिक प्रयोग करके देखा जाए। वहां एक जोशिन रहती थी, वह इन कामों के लिए कुख्यात थी। उन्होंने उस महिला से कहा – क्या तुम ऐसा कोई उपाय कर सकती हो, जिससे हमारे भाई की वधु सरदारांजी दीक्षा न लें? हम तुमको दो सौ रूपए पुरस्कार के दे देंगे। उस समय दो सौ रूपए बहुत बड़ी रकम थी। दो सौ रूपए का नाम सुनते ही लोभ जाग गया और उसने उपाय करना स्वीकार कर लिया। एक बार बेले के पारणे के दिन दासी बाहर से दूसरे घर से खाना ला रही थी, जोशिन ने मौका देखकर उसके हाथ लगाकर कुछ टोटका–सा कर दिया। चूंकि वह इस काम के लिए कुख्यात थी ही इसलिए दासी के मन में भय व्याप गया। घर पहुँचते ही दासी ने सारी बात सरदारांजी को बता दी। उन्होंने तत्काल सारा खाना रोटी आदि बाहर डलवा दिया और जोशिन को अपने पास बुलाया।

सरदारांजी ने जोशिन से पूछताछ की तो उसने सारा रहस्य उगल दिया। उस दिन उन्होंने पारणा न कर तेला पचख लिया। बेला चौविहार किया था इसलिए प्यास बहुत अधिक सताने लगी। गर्म पानी पीने के लिए मंगाया, पर अत्यधिक गर्म होने से वे उसे ठंडा करने लगी। एक घूंट पानी मुंह में लिया था, वह गर्म लगा, अतः उसके ठंडा होने का इंतजार कर रही थी। तभी उनकी जेठानी उनके तेले की साता पूछने के लिए कमरे में आई। सरदारांजी के मन में परिवार के सभी सदस्यों के प्रति आक्रोश होना स्वाभाविक था, क्योंकि वे लम्बे समय से शारीरिक और मानसिक दृष्टि से संघर्ष कर रही थी। उन्होंने जेठानी को सम्बोधित कर कहा – मेरे साता हो या न हो आपको क्या फर्क पड़ता है। मैं आपके घर की रोटी खाती नहीं, आपके घर का इतना खर्चा तो कम हुआ ही.....। जेठानी का मन वैसे ही उनकी स्थिति से उदास था ये वचन सुन वे द्रवित–सी हो गईं। उन्होंने कहा – देखो इस घर में हम प्रतिदिन सौ व्यक्ति भोजन करते हैं, और आप अकेली भूखी बैठी रहती हैं, इससे मुझे तो बड़ा दुःख होता है। मेरा कोई वश नहीं चलता, नहीं तो.....। मैंने तो बीती रात में आपके जेठजी को आधी रात तक समझाने का प्रयत्न किया लेकिन उन्होंने मेरी कोई बात नहीं मानी। उनका एक ही कहना है कि हमारे परिवार की सात पीढ़ियों में अब तक किसी ने दीक्षा नहीं ली, किसी ने मांगकर रोटी नहीं खाई। मैं इसे सहन नहीं कर सकता, इसलिए दीक्षा की आज्ञा तो नहीं दूंगा। यदि वे मर भी जाएगी तो रोकर रह जाऊंगा, पर आज्ञा तो हरगिज नहीं दूंगा। मैं अपने बेटे को उनको गोद देकर धन की पांती देने को तैयार हूँ, फिर वे घर में क्यों नहीं रहती?

सरदारांजी जेठानी का एक–एक वाक्य बड़ी तन्मयता से सुनती रही। जब वे मौन हुईं तो उन्होंने कहा – आपने व्याख्यान में सुना होगा? पुराने जमाने में

महाराजा कृष्णा तथा श्रेणिक की महारानियां दीक्षित होकर साध्वियां बनीं और उन्होंने मांग मांगकर खाया। फिर आपके घर की क्या बड़ी बात है। उन राजघरानों के सामने हमारी सम्पन्नता तो कितनी है? हम जानते हैं। खैर, कोई बात नहीं यदि जेठजी मेरे मरने में ही श्रेय देखते हैं, उन्हें इसी में प्रसन्नता है। मैं आपको आज भी स्पष्ट शब्दों में कहती हूँ कि – मैं अपने निश्चय पर दृढ़ हूँ और जब तक मुझे आप लोग दीक्षा के लिए आज्ञा नहीं देंगे, मैं आज से चारों आहार का त्याग/प्रत्याख्यान करती हूँ। समझाने के लिए आई जेठानी ने देवरानी का शेरनी का – सा रूप देखा। उन्हें लगा हम दर्दी या सहानुभूति की उन्हें अपेक्षा ही नहीं है, इन्हें अपने लक्ष्य की चिन्ता है, एक मात्र आकांक्षा दीक्षा की है। तभी सामने पड़े ठंडे पानी को देखकर वे आत्म ग्लानि से भर गई। मैंने यह क्या किया? दो दिन से चौविहार तप, भयंकर प्यास में पानी पीने के लिए उठाया और मेरी वजह से उसे पिया ही नहीं और चारों आहार का त्याग कर दिया।

वे हताश, निराश और उदास–सी बनी परिवार के सदस्यों के बीच गई, जो घटना–क्रम था सुना दिया। भारी दिल से जब उन्होंने चारों आहार के त्याग की बात कही, पूरे परिवार में तूफान–सा आ गया। थोड़ी देर में तो यह बात पूरे शहर में फैल गई। कोई ढड्ढा परिवार का अपवाद करने लगा, तो कोई सरदारांजी हठी है, यह कहने से भी नहीं हिचका।

किसी ने कहा – घर की बहू कितने दिनों से भूखी बैठी है, किसी को दया तक नहीं आई। जितने मुंह उतनी ही बातें। चारों ओर अफवाहों का बाजार गर्म हो गया। तभी घर में आए एक अनजान व्यक्ति ने साध्वी के रूप में सरदारांजी को देखकर कहा – आपके घर में श्वेत वस्त्र पहने यह सती साध्वी कौन है? तभी दुःखित हो निश्वास छोड़ते हुए उनकी वृद्ध दादीसास ने कहा – देखो! हमारा कितना दुर्भाग्य है कि घर की पुत्रवधु इस रूप में आज घर में बैठी है। सब निरूपाय बन एक दूसरे को देखते रहे। समाधान किसी के पास नहीं था। सरदारांजी के चौविहार तपस्या के आठ दिन व्यतीत हो गए। जेठ बादरमलजी ने पुनः समझाने का एक प्रयत्न किया। वह भी व्यर्थ गया। नौवें दिन सरदारांजी ने परिवार जनों के बीच धमकी देते हुए कहा – मैं अपने हिस्से की सारी सम्पत्ति मंदिर में चढ़ाना चाहती हूँ। तभी बादरमलजी ने सुझाव दिया – आपकी हिस्से की सम्पत्ति में से भले आप प्रतिवर्ष हजार–हजार रूपए बांटो, हमको कोई दिक्कत नहीं है। आप घर में सुख शान्तिपूर्वक रहो, हम यह चाहते हैं। यद्यपि उनको न धन लेने में रस था, न देने में रूचि थी, मात्र वे संभवतः यह सोचती थी कि संभव है धन के नाम पर भी परिजन सहमत हो जाए। अपनी प्रतिज्ञा

की धूरी पर परिक्रमा करते हुए तपःसाधना को आगे बढ़ाने लगी, तिलभर भी अपन प्रण से इधर–उधर नहीं हुई।

सरदारांजी की चौविहार लम्बी तपस्या ने स्वास्थ्य पर असर दिखाना शुरु कर दिया। ज्यों ज्यों दिन बीत रहे थे, शरीर में गर्मी बढ़ रही थी, मुंह से खून बहने लगा। शरीर की यह स्थिति देख उनकी देवरानियां जेठानियां मन से अत्यन्त दुःखी रहने लगी। एक दिन उन्हीं को अत्यन्त भावुक बनकर कहने लगी – एक दिन वह था, जब हम सब एक साथ मिलकर हंसते खिलते भोजन करते थे। और आज का भी एक दिन है, जब आप चौविहार तपस्या का भयंकर कष्ट झेलती हुई मृत्यु को निमंत्रण दे रही है। धिक्कार है, हम रोजाना खा रहे हैं, इस प्रकार बोलते बोलते द्रवित हो गई। दूसरी ओर दादी सासू का मन व्यथा से इतना भर गया कि वे जब भी सरदारांजी को देखती अत्यन्त संवेदनशील हो जाती। एक दिन ऐसा ही प्रसंग उपस्थित हो गया। दादी सासूजी सरदारांजी के मुंह से खून गिरता देख घबरा गई और बोली – "मैं तुम्हे दीक्षा की आज्ञा देती हूँ, तुम भोजन कर लो और पानी पी लो।"सरदारांजी की बिगड़ती शारीरिक स्थिति ने घर की महिलाओं को ही विचलित नहीं किया, पुरुष वर्ग को भी प्रभावित किया। उनके सबसे बड़े जेठ बादरमलजी ने घर के आंगन में आना जाना ही छोड़ दिया। वे भोजन भी बाहर मंगाकर करने लगे।

घर की सभी महिलाओं की मानसिकता यह बन गई कि इनको कष्ट क्यों दिया जा रहा है? क्योंकि ये अपने संकल्प में दृढ़ है। इसलिए हर क्षण यह सोचने लगी कि इनको आज्ञा कैसे मिल सकती है। एक दिन जेठानी ने कहा – आपको सहजता से तो क्या कठोरता अपनाने पर भी आज्ञा नहीं मिल रही है। अब एक काम करो – हमारे घर के बाहर पुरुषों के बैठने का जो स्थान है, उसे कचहरी कहते हैं। आप वहां जाओं और सब लोगों के बीच में जाकर अपनी बात कहो, संभव है काम बन जाए।

ऐसा कहकर तुरंत जेठानी सरदारांजी का हाथ पकड़कर कचहरी के सामने ले गई। उन्होंने अपने देवर पन्नालालजी को बुलाया और कहा – अपने भाई को सूचित करो कि सरदारांजी कचहरी में आ रही हैं, अभी तो मैं उनको रोककर रख रही हूँ। सूचना मिलते ही बादरमलजी घर के आंगन में सरदारांजी को साथ लेकर अपनी दादी मां के पास आए। उस समय उनकी आंखें भर आई उन्होंने बड़ी मधुरता के साथ कहा – आप जहां चाहो वहीं रहो, भले पाली रहो चूरू रहो। जब चाहो, जहां चाहो, वहां जाकर साधु साध्वियों की जीभर सेवा करो, पर दीक्षा की स्वीकृति मैं नहीं

दूंगा। इतना कहकर घर के बाहरी कक्ष में चले गए।

सरदारांजी के चौविहार तपस्या का दसवां दिन था। फलौदी शहर में तपस्या के सन्दर्भ में जन–जन के मुख पर एक ही चर्चा हो रही थी। लोग गली कूंचों चौक चौहट्टों पर एकत्रित होकर हो हल्ला मचाते और कहते – देखो! ढड्ढों की हवेली में बिना भोजन पानी एक औरत मर रही है।

जेठानी का मन इस चौविहार तपस्या के लिए अपने आपको जिम्मेदार मानने लगा। उनका चिन्तन इसी धूरी पर केन्द्रित हो गया कि यह सब मेरे कारण हुआ है। उस दिन से ही उन्होंने अन्न पाणी का त्याग किया है, जिस दिन मैंने इनको समझाने का प्रयास किया। यह सारा अपयश मेरे सिर पर आएगा। वे पश्चात्ताप के ताप से व्यथित हो गई और उसी समय संकल्प कर लिया कि – "जब तक सरदारांजी अन्न पाणी नहीं लेंगी, मुझे भी चारों आहार का त्याग है।" ग्यारहवें दिन 80 वर्षीया दादी सासू का मन भी खाने की स्वीकृति नहीं दे रहा था उन्होंने भी अफीम और पानी का अपवाद रखकर खाने का त्याग कर दिया। उस दिन घर की जो स्थिति बनी, उसने बादरमलजी को अपने निर्णय बदलने के लिए विवश कर दिया। सांझ होते–होते उन्होंने सोचा – शहर का वातावरण, घर का माहौल और सरदारांजी की स्थिति को देखते हुए मुझे अब दीक्षा की आज्ञा लिख देनी चाहिए। एक मात्र इसी उपाय से सारा क्लेश समाप्त होगा।

चिन्तन मनन पूर्वक लिए गए मानसिक निर्णय को कागज पर उतारने के लिए बादरमलजी ने कलम कागज़ हाथ में लिया कि उसी समय चूरू से एक काशीद पत्र लेकर उनके सामने पहुंचा। उसमें लिखा था कि "आप दीक्षा की आज्ञा मत देना। यदि आपने सरदारांजी को दीक्षा की आज्ञा दे दी तो हम आपसे तकरार करेंगे, झगड़ा करेंगे। हठाग्रह करके वे मरे तो मरने देना, पैरों में बेड़ी डाल देना.....।

बादरमलजी पत्र लेकर अपनी दादी मां के पास पहुंचे और सरदारांजी को बुलाकर कहा – तुम्हारे पिताजी ने काशीद के साथ ये समाचार कहलाएं है। फिर वे अपनी दादी मां के पास बैठकर सलाह मशविरा करने लगे कि आखिर हमें क्या करना चाहिए। चिन्तन मंथन कर परिवार के सदस्यों ने निर्णय लिया कि हमें दीक्षा की अनुमति कागज़ पर लिख देनी चाहिए और फिर यहां से चूरू भेज देना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है।

आखिर आज्ञा पत्र लिख दिया

संवत 1896 माघ शुक्ला अष्टमी को सरदारांजी की दीक्षा का आज्ञा–पत्र लिख दिया। उस दिन अष्टमी होने से उन्होंने पारणा नहीं किया, पर पानी पीकर उस दिन तिविहार तपस्या की। ग्यारह दिन की तपस्या का पारणा पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार वे अपने घर में कर सकती थी, पर जब तक आज्ञा पत्र हाथ में न आ जाए, तब घर का अन्न खाने से उन्होंने इन्कार कर दिया तथा श्वेत वस्त्र के सिवाय दूसरे वस्त्र पहनने का त्याग कर दिया। पूर्ववत तपस्या और पारणे का क्रम चल रहा था। एक दिन सरदारांजी ने साहस कर बादरमलजी से आज्ञा पत्र मांगा। उन्होंने कहा – आज्ञा पत्र लिखकर मैंने शिवराज सिपाही को सौंप दिया है। वह आपके साथ चूरू जाकर आपके पिताजी के सम्मुख आपको आज्ञा पत्र दे देगा। यहां मैं आपको आज्ञा पत्र हाथ में नहीं दूंगा।

सरदारांजी ने अपनी इच्छा व्यक्त करते हुए कहा – अब आप मुझे चूरू जल्दी भेज दीजिए। बादरमलजी ने न तो पत्र दिया और न चूरू भेजने का निर्णय लिया। दिन पर दिन व्यतीत होने लगे। सरदारांजी ने देखा समय यों ही व्यतीत किया जा रहा है तब पुनः सबके सामने संकल्प किया – जब तक चूरू की दिशा में विदा नहीं करेंगे, तब तक चारों आहार का त्याग है। चौविहार तपस्या का सातवां दिन था। उन्होंने बादरमलजी से कहा – पुराने डिब्बे में मेरे गहने हैं, उन्हें आप संभाल लें। उन्होंने उदारता के साथ कहा – हमें गहने क्या संभालना है, आप जिसको जो चाहो दे दो, हमें कोई आपत्ति नहीं है।

सरदारांजी ने कहा – मैं चाहती हूँ, एक बार सारे गहने संभाल लिए जाएं। उनका आग्रह देखकर बादरमलजी स्वयं कुछ दूरी पर बैठ गए और अपने अनुज दीपचंदजी के हाथ में बही थमा दी। सुमरखां नामक सिपाही, जो उस परिवार का विश्वास पात्र सदस्य था, उसके हाथ में सारे गहने थे। एक–एक कर सब गहनों का मिलान कर लिया पर दो गहने नहीं मिले – एक हत्थकला और दूसरा कीमती मोतियों का हार। सरदारांजी से पूछने पर उन्होंने बताया – एक बार सासूजी ने मुझे बड़े हत्थकले बनवाकर दिए थे तब मैंने छोटे हत्थकले तत्काल उन्हें सौंप दिए थे और वे उनके पास से गुम हो गए थे। मोतियों वाला हार एक बार टूट गया था उसे ठीक कराने के लिए जयपुर भेजा था। जब वापिस आया तब सासूजी के गहनों के डिब्बे में रख दिया था। उनके बीजक में वह हार संभवतः आज भी मेरे नाम से लिखा हुआ है।

वहीं बैठे बादरमलजी ने कहा – आप जो कह रहीं है, दोनों बातें सही हैं। मैंने माताजी से सुना था कि छोटे वाले हत्थकले गुम हो गए। बीजक में देखने से हार वाली बात भी सही प्रमाणित हो रही है। हार सुरक्षित रखा हुआ है। अब मैं आपसे कहना चाहता हूँ – ये आभूषण, कपड़े, अन्य पदार्थ तथा नगद चालीस हजार रूपए हैं, आप जिनको चाहो, उन्हें दे दो। सरदारांजी ने भी बादरमलजी के कथन का सम्मान करते हुए जिन–जिन व्यक्तियों को जो–जो गहने रूपए आदि देने थे, दे दिए। तभी बादरमलजी ने पन्द्रह सौ रूपए की हुंडी बनाकर सरदारांजी को सौंप दी और कहा – दीक्षा पर सूत्रादिक खरीदने के काम आएंगे। इससे संयम की स्पष्ट स्वीकृति हो गई और इससे सरदारांजी को सर्वाधिक प्रसन्नता की अनुभूति हुई। पर वे सजग थी, अपने प्रण को क्रियान्वित करने के लिए और सावधान थी कि कहीं ये अपनी बात से इन्कार न हो जाए, इसलिए निर्भीकता के साथ अपनी बात रखी – चूरू पहुंचने के बाद यदि मुझे कागज़ नहीं मिलेगा तो मैं वापिस फलौदी लौट आऊंगी। आपकी हवेली में आने का त्याग करती हूँ। मुझे वापिस मजबूरी में आना पड़ा, तो शहर की कोतवाली के चबूतरे पर बैठूंगी।

बादरमलजी ने आश्वस्त करते हुए कहा – यह शिवराज सिपाही आपके पिताश्री के सामने आपको कागज़ दे देगा। आप वापिस यहां मत आना। हम बहुत तंग आ चुके हैं। तभी सरदारांजी ने एक स्पष्टीकरण और चाहा – आपने चूरू के नाम से पत्र लिखा है किन्तु मैं चूरू में रहूं, यह आवश्यक नहीं है। जहां मेरी इच्छा होगी वहीं जाकर मैं संयम ग्रहण करूंगी। बादरमलजी ने उनके इस कथन पर अपनी मुहरछाप लगाते हुए कहा – आप यहां से एक बार चूरू चली जाइए, फिर जयपुर, उदयपुर कहीं जाकर दीक्षा लेना चाहे ले लें, हमें कोई आपत्ति नहीं है। सरदारांजी ने वहीं उपस्थित तीन चार व्यक्तियों को साक्षी बनाया और सारी बात अपने हाथ से कागज़ में लिख ली। इस प्रकार सर्वांगीण रूप से ससुराल पक्ष की सहमति लेकर आत्मतुष्टि के साथ फलौदी से चूरू के लिए रवाना हुई। रथ में बैठकर अठाई तप का पारणा किया।

परीक्षा : पितृगृह में

ससुराल में कठिन, कठिनतर और कठिनतम परीक्षा में उत्तीर्ण हो मातृगृह में प्रवेश किया, पर संकल्प ससुराल से साथ लेकर आई थीं। तेले–तेले तपस्या कर पारणे में आयंबिल तप करने लगी। आयंबिल में जो कुछ लेती वह बाहर से मंगवाकर खाती। इसके साथ–साथ जब तक दीक्षा का आज्ञा पत्र न दें तब तक भाई के सम्मुख

देखने तथा बोलने का परित्याग कर दिया। उनके पिताजी द्वारा शिवराज सिपाही को पत्र सरदारांजी को देने का निर्देश दिए बिना, वह भी कागज़ उनको सौंप नहीं रहा था। कुल मिलाकर स्थिति जटिल बन रही है, ऐसा उन्हें एहसास होने लगा। दिन पर दिन व्यतीत होने लगे, पर समस्या समाहित नहीं हुई। इसी मध्य सरदारांजी की भतीजी का विवाह निश्चित हो गया और घर के सदस्यों का ध्यान उस ओर केन्द्रित हो गया। भतीजी की शादी बीकानेर जाकर करनी तय की गई। सरदारांजी के ऊर्वर मस्तिष्क में एक नई योजना ने जन्म लिया। उन्होंने योजना बना ली कि बीकानेर रवाना होने से पहले आज्ञा पत्र प्राप्त करना है।

उनकी भतीजी जिसकी शादी होने वाली थी, छत के ऊपर बने मालिया में बैठी विश्राम कर रही थी, उस दिन बीकानेर के लिए प्रस्थान करना था। सरदारांजी ने उस मालिया में भतीजी को बंद कर ताला लगा दिया और चाबी अपने पास रख ली। ज्यों–ज्यों विदाई का समय निकट आ रहा था, सब बनड़ी शादी वाली कन्या को खोजने लगे पर वह कहीं दिखाई नहीं दे रही थी। तभी सरदारांजी ने अपने पिताजी को स्पष्ट कह दिया – वह मालिया में बन्द है। आप मुझे मेरा जब आज्ञा पत्र देंगे, तभी मैं बनड़ी को बाहर निकालूंगी। जेतरूपजी ने उस समय वचन दिया कि बीकानेर से वापिस आकर आज्ञा पत्र तुम्हारे हाथ में दे देंगे। पिता के कथन का विश्वास कर सरदारांजी ने भतीजी को उनको सौंप दी। परिवार के सभी सदस्य उनकी भतीजी का विवाह कर सानन्द चूरू लौट आए, पर उनके पिताजी जेतरूपजी बीकानेर में ही रह गए।

सरदारांजी की मानसिकता संयम लेने के लिए जितनी उतावली हो रही थी, उतना ही अधिक परिजनों द्वारा विलम्ब किया जा रहा था। यह स्थिति उनके लिए असहनीय बन रही थी। बोलने की अपेक्षा तपःसाधना से वे अपनी भावना अधिक व्यक्त करती थी। वे पिताश्री के न आने का रहस्य अच्छी तरह से जान रही थी। पर करें क्या? उसी दिन से उन्होंने चोले–चोले तपस्या और पारणे में आयंबिल प्रारंभ कर दिया और सबको बता दिया कि जब तक आज्ञा पत्र नहीं मिलेगा, तब तक यही क्रम चलता रहेगा। वह भयंकर गर्मी का मौसम था। भाई ने तत्काल काशीद भेजकर जेतरूपजी को बीकानेर से बुलाया। उनके (जेतरूपजी) के चूरू पहुंचते ही सरदारांजी ने पत्र न मिलने तक चारों आहार का प्रत्याख्यान कर दिया। ग्रीष्मकाल की भयंकर झूलसाने वाली गर्मी में पांच दिन व्यतीत होने पर पिता और भाई ने समझाया, पांच साल घर में रहो, फिर संयम ले लेना। यही शब्द एक पत्र में लिखकर उनके हाथों में थमा दिया। साथ में यह भी विश्वास दिला दिया कि हम प्रतिवर्ष आचार्यश्री

ऋषिराय एवं युवाचार्यश्री जय के दर्शन करवा देंगे। सरदारांजी मन ही मन अच्छी तरह से समझ रही थी कि इनकी आज्ञा कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, इसलिए जो कहा गया उसे ससम्मान स्वीकार कर लिया। इसका सुपरिणाम यह आया कि जेतरूपजी ने सोचा अब पांच वर्ष हमारे कहने से रूक ही जाएगी, ऐसा चिन्तन कर ससुराल वाला आज्ञा पत्र सरदारांजी को सौंप दिया। सरदारांजी ने भी श्वेतवस्त्र उतार दिए और घर का भोजन करने लगी।

संयम के लिए प्रस्थान

उपरोक्त घटना से पिता भ्राता आदि परिजनों ने संतोष की अनुभूति की, वहीं सरदारांजी ने मन ही मन चारित्र स्वीकरण की प्रसन्नता अनुभव की। तीन दिन के बाद बातचीत के प्रसंग में उनके भाई ने कहा – बहिन! पांच वर्ष तो आपको घर में रहना ही होगा। सरदारांजी ने जोशपूर्ण किन्तु विवेक की भाषा में कहा – देखो! तुम्हारे द्वारा लिखे गए पत्र के अनुसार मेरा पांच वर्ष तो क्या पांच घड़ी भी घर में रहने का करार मत समझना। क्योंकि आप लोगों को ज्ञात है कि दीक्षा के लिए आप लोगों की आज्ञा नहीं चलेगी और ससुराल वालों द्वारा लिखा गया आज्ञा पत्र मेरे पास में है, मेरे हाथ में है। अब मेरी जब जहां इच्छा होगी, वहीं जाकर संयम ग्रहण करूंगी। उस दिन भावाभिव्यक्ति के साथ उन्होंने एक संकल्प भी किया कि जब तक युवाचार्यश्री जय के दर्शन नहीं होंगे, बेले–बेले तप करूंगी। युवाचार्यश्री के दर्शन जब तक नहीं हुए उस अन्तराल में उन्होंने तेरह, सात, पांच और चार दिन की तपस्या भी की।

एक बार उन्होंने अपने पिताश्री से अनुरोध किया कि आप मुझे एक बार युवाचार्यश्री जीतमलजी के दर्शन करा दें। जेरूपजी ने प्रत्युत्तर में कहा – सुना है कि युवाचार्यश्री का इस वर्ष का चातुर्मास उदयपुर है, इसलिए उनके दर्शन चातुर्मास के बाद कर लेना और अभी तुम्हारा मन है, तो आचार्यश्री ऋषिराय और मुनिश्री हेमराजजी के दर्शन कर आओ। ऐसा कहकर उन्होंने बहली में बैठाकर ऊँट आदि साथ में देकर समुचित व्यवस्था देकर उन्हें रवाना कर दिया। यह प्रस्थान संयम के लिए प्रस्थान है – यह सोचकर सरदारांजी चूरू से विदा हो गई।

यात्रा पथ में दर्शन सेवा का लाभ

वह युग बैलगाड़ी और ऊँटगाड़ी का युग था। द्रुतगामी वाहन उस समय नहीं थे। इसलिए यात्रा में पर्याप्त समय लगता था तथा बीच–बीच में आने वाले गांवों, नगरों और शहरों में विश्राम भी लेना आवश्यक होता था। सरदारांजी ने अपने यात्रा

पथ की योजना बनाते समय यह लक्ष्य रखा होगा कि जहां–जहां साधु साध्वियों का प्रवास है, वहीं विश्राम करना है और उपासना का लाभ उठाना है, ऐसा प्रतीत होता है। वे सबसे पहले बीदासर पहुंची और वहां साध्वी चत्रूजी बड़ा, सुजानगढ़ में साध्वी मघूजी तथा लाडनूं में साध्वी दीपांजी के दर्शन किए। वहां बोरावड़ पहुंचकर मुनिश्री स्वरूपचंदजी स्वामी की पन्द्रह दिन सेवा की। वहां से रथ ऊंट आदि सारी व्यवस्था को वापिस चूरू भेज दिया। बोरावड़ के पास कुचामण में उनके पिता का ननिहाल था। वहां से पन्नेराजजी लूणिया को बुलाया और मुनिश्री हेमराजजी के दर्शनार्थ सिरियारी के लिए रवाना हो गईं। इसी बीच बाजोली गांव में भीमजी स्वामी के दर्शन किए। एक बार भीमजी स्वामी ने सरदारांजी को प्रसंगोपात्त कहा था कि – यदि तुम दीक्षा लो तो मैं तुम्हें पांच सौ हस्तलिखित पत्र लिखकर दूंगा। सरदारांजी ने इसकी स्मृति कराते हुए कहा – मैं दीक्षा लेने के लिए जा रही हूँ। अतः आपसे निवेदन है कि आप भी मेरे लिए पत्र लिखकर तैयार रखना। भीमजी स्वामी की दो दिन सेवाकर पीपाड़ में साध्वी जोतांजी के दर्शन किए। वहां से पाली में साध्वी सुखांजी के दर्शन कर वे सिरियारी पहुंची। मुनिश्री हेमराजी स्वामी के सान्निध्य में वहां वे तीन दिन रहीं।

अब उनका गंतव्य था – उदयपुर और युवाचार्यश्री जीतमलजी के दर्शन। वहां से उन्होंने पन्नैराजजी लूणिया को वापिस भेज दिया। यद्यपि उनकी इच्छा थी कि वे उनको छोड़कर न जाएं। सरदारांजी ने उनको अपना गंतव्य समझाते हुए कहा – मैं वापिस घर जाने वाली नहीं हूँ। आप यहां रहेंगे तो परिवार के लोगों का उपालंभ आपको सहना पड़ेगा। भलाई इसी में है कि आप अपने घर लौट जाओ। पन्नैराजजी वहां से विदा हो गए।

सरदारांजी का साहस अद्‌भुत था। उनके मन में किंचित भी विचलन के भाव नहीं थे कि मैं अकेली औरत, यह पहाड़ी प्रदेश और अनजाने लोग। यह भी सच है कि पुण्यवान के पग–पग पर निधान होते हैं। सरदारांजी ने जैसे ही लूणियांजी का विदा किया, उस समय मुनिश्री की सेवा में ाली के श्रावक रामकृष्णजी आए हुए थे। उन्होंने सरदारांजी के सामने इच्छा व्यक्त की कि मुझे युवाचार्यश्री जय के दर्शन करने हैं। वे सरदारांजी का आभार मानते हुए उनके साथ हो गए। दूसरे दिन नाथद्वारा के श्रावक भागचंदजी टुकल्या सिरियारी आए और उदयपुर जा रहे थे, सरदारांजी आदि सभी एक साथ हो। उदयपुर की ओर प्रस्थान कर दिया।

वे देवगढ़, आमेट होते हुए नाथद्वारा पहुंचीं। देवगढ़ में मुनिश्री भगजी एवं आमेट में मुनिश्री जवानचंदजी और कर्मचंदजी के दर्शनकर अपने आपमें धन्यता का

अनुभव किया। नाथद्वारा के सुप्रसिद्ध श्रावक फौजमलजी तलेसरा भावपूर्ण आतिथ्य के साथ उन्हें पहुंचाने उदयपुर गए। चूरू से प्रारंभ हुई यह तीर्थयात्रा कार्तिक कृष्णा चौथ के दिन श्रद्धास्पद युवाचार्यश्री जीतमलजी के साक्षात दर्शन करने के साथ सम्पन्न हुई। एक चिर पालित स्वप्न साकार हुआ। सरदारांजी के सकल मनोरथ एक साथ सिद्ध हो गए।

युवाचार्यश्री के चूरू चातुर्मास के पश्चात सरदारांजी ने आप बीती संघर्ष की कहानी श्रीचरणों में प्रस्तुत की और ससुराल वालों द्वारा लिखा दीक्षा का आज्ञा–पत्र समर्पित कर धन्य बन गई। छह महीने तक रोमांचित करने वाले कष्ट सहन करने की बात सुन युवाचार्यश्री ने उनकी दृढ़ संयम निष्ठा और कष्ट सहिष्णुता पर आश्चर्य व्यक्त किया। अन्त में युवाचार्यश्री ने कहा – अब सानन्द दीक्षा स्वीकार कर आत्म कल्याण करो।

दीक्षा महोत्सव के उपलक्ष्य में विविध कार्यक्रम

युवाचार्यश्री के मुखारविन्द से दीक्षा का आशीर्वाद मिलते ही सरदारांजी का मानस हर्ष से झूम उठा, कण–कण में अलौकिक आनन्द की अनुभूति होने लगी। पवित्रता और प्रसन्नता से मन–मयूर नाच उठा। उदयपुर पहुंचने के पश्चात सरदारांजी को युवाचार्यश्री ने एक महीने तक दीक्षा प्रदान नहीं की। वह एक महीने का समय श्रावक–समाज के लिए विशेष उल्लास और उत्सव का बन गया। दीक्षा महोत्सव के उपलक्ष्य में समाज के वरिष्ठ श्रावक बड़ी धूमधाम से जुलूस निकालने लगे। सभी श्रावकों में वैरागिन को अपने घर बुलाने की प्रतिस्पर्धा पैदा हो गई। अपने घर बड़े सम्मान के साथ आमंत्रित करते और बरनोली निकालते। नए रथ पर अथवा पालकी में वैरागिन को बैठाते। आगे–आगे कोतल घोड़े दो विशाल हाथी पलटन और बैण्ड बाजा चलता। पीछे स्वमति अन्यमति भाई बहिनें सुरीले गीत गाते। इस प्रकार सुसज्जित जुलूस होने पर धर्मसंघ की बड़ी प्रभावना होती। समाज के बड़े वरिष्ठ श्रावक वैरागिन के दोनों तरफ खड़े होकर चंवर बींजने में गर्व का अनुभव करते। शहर के प्रबुद्ध लोग जब उत्साह और उमंग के साथ निकलने वाली शोभायात्रा देखते, उसका तामझाम देखते, आश्चर्यचकित रह जाते। इस अवसर पर जुलूस में शामिल होने वाले लोगों को लड्डू बताशे और नारियल बांटने की भी उस समय परम्परा थी।

उदयपुर में युवाचार्यश्री का चातुर्मास था पर तेरापंथ धर्मसंघ की साध्वियां वहां नहीं थी। साध्वी दीक्षा के समय साध्वियों की उपस्थिति अनिवार्य थी। उस वर्ष

गोगुन्दा में साध्वी चन्दनांजी का चातुर्मास था। सरदारांजी ने दीक्षा से पूर्व गोगुन्दा जाकर निवेदन किया – चातुर्मास सम्पन्न होते ही दो साध्वियों को उदयपुर भेजे। साध्वी चन्दनांजी ने निश्चित समय पर दो साध्वियों को उदयपुर की ओर विहार करवा दिया।

उज्ज्वल भविष्य का आभास

युवाचार्यश्री जय विलक्षण व्यक्तित्व और दूरदर्शी चिन्तन के धनी थे। उन्हें सरदारांजी के व्यक्तित्व में असाधारणता दिखाई दी। संभवतः इसी आधार पर उन्हें तैयार करने में उन्होंने अपने श्रम का नियोजन किया। दृढ़ संकल्प शक्ति, कष्टसहिष्णुता, अद्‌भुत साहस, अजेय पराक्रम और प्रतिभा के साथ आत्मनिष्ठा, अध्यात्मनिष्ठा, वैराग्य तथा पापभीरूता सरदारांजी के व्यक्तित्व के विरल गुण थे। यही विशेषताएं होनहार भविष्य का संकेत कर रही थी। इसलिए दीक्षा से पूर्व युवाचार्यश्री ने निर्णय लिया कि सरदारांजी दीक्षित होते ही प्रथम केश लुंचन अपने हाथ से करें तो अच्छा रहेगा। युवाचार्य ने इस बात का स्पष्ट संकेत कर उनको विधि समझा दी।

दीक्षा संस्कार : आम्रवृक्ष की छाया में

सरदारांजी की वर्षों संजोई भावना साकार होने का पावन दिन संवत 1897 मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थी, आनबान और शान की प्रतीक मेवाड़ की धरती तेरापंथ की जन्मभूमि, आचार्य भिक्षु की बोधि भूमि, झीलों की नगरी उदयपुर से कुछ दूर आम्रवृक्ष की सघन छाया में विशाल जन मेदिनी के बीच युवाचार्यश्री जीतमलजी ने आर्षवाणी से सरदारांजी को सामायिक चारित्र पचखाया। अब सरदारांजी साध्वी सरदारांजी बन गईं। युवाचार्यश्री के मंगल सान्निध्य में निर्देशानुसार अपना केशलुंचन स्वयं साध्वी सरदारांजी ने किया। साध्वी कुशालांजी का इतिहास जीवंत हो गया। दीक्षा प्रदान कर युवाचार्यश्री ने तीनों साध्वियों को गोगुन्दा की ओर विहार करवा दिया।

साध्वी सरदारांजी की दीक्षा संघर्ष की एक कहानी है। स्वयं उन्होंने अपने आपको कसौटी पर चढ़ाया। एक से एक बढ़कर परीक्षा दी और ससुराल एवं पीहर पक्ष को अनुकूल बनाने और आज्ञापत्र प्राप्त करने के लिए अपने आपको तपः साधना में झोंक दिया। जिस समय दीक्षा ग्रहण की, न ससुराल का एक सदस्य था, न पीहर का। मात्र हाथ में थी – अभिभावकों द्वारा लिखित आज्ञा। तेरापंथ के विधि विधानानुसार विवाह के पश्चात जो भी बहिन दीक्षित होना चाहती हैं, उनके ससुराल की आज्ञा मिलने पर दीक्षा देने में कोई आपत्ति नहीं है। इस सिद्धान्त को पुष्ट बनाने के लिए तथा जन–जन के गले उतारने के लिए युवाचार्यश्री जय ने एक विशेष गीत की

रचना की – जिसका विषय रखा – सिरदारांजी की दीक्षा । गीत की रचना संवत् 1897 चेत्र सुदि 8 को चूरू में की। जिसमें आगम एवं परम्परा के आधार पर प्रस्तुति दी है।

वृद्धि एवं शुभ की प्रतीक

युवाचार्यश्री जीत ने सरदारसती की दीक्षा को संघ में विशेष शुभ एवं मांगलिक रूप में मान्यता दी। इसे स्पष्ट करते हुए जयाचार्य ने कहा – सरदारसती की दीक्षा के दो दिन बाद मिंगसर कृष्णा 6 को चन्देरा गांव में उसी गांव में मुनिलालजी की दीक्षा युवाचार्यश्री के कर–कमलों से हुई। मुनिश्री हेमराजजी के चार साल से आंख की ज्योति नहीं थी, उनकी दीक्षा होते ही ऑपरेशन हुआ और आंखों में पूर्ववत ज्योति आ गई, जो संघ के लिए सुखद बात थी।

युवाचार्यश्री जीतमलजी उदयपुर से विहार कर साध्वी सरदारांजी की दीक्षा के आठवें दिन उन्हें छेदोपस्थापनीय चारित्र प्रदान करने के लिए गोगुन्दा पधार गए। उस समय आचार्यश्री ऋषिरायजी मारवाड़ में नागौर की ओर विहार कर रहे थे। आचार्यश्री ने उस समय नागौर में बहिन रूपकंवर को दीक्षा दी। साध्वी रूपकंवरजी साध्वी सरदारांजी के संसारपक्षीय चाचा की पुत्रवधु थी। गोगुन्दा से विहारकर युवाचार्यश्री जय ने नागौर में आचार्यवर के दर्शन किए। सर्वप्रथम आचार्यवर ने युवाचार्य से पूछा – साध्वी सरदारांजी कहां है? युवाचार्यश्री ने विनम्र निवेदन किया – वे एक मंजिल पीछे है। फिर दूसरे दिन साध्वी सरदारांजी ने साध्वियों के साथ आचार्यवर के दर्शन कर अत्यन्त आह्लाद एवं परम प्रसन्नता का अनुभव किया।

गुरु दर्शन करते ही मिला अग्रगण्या का दायित्व

नागौर से प्रस्थान कर कदम–कदम चलते आचार्यश्री, युवाचार्यश्री ससंघ डीडवाना पधारे। वहां आचार्यश्री ऋषिराय ने तेरापंथ के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ी। उन्होंने साध्वी सरदारांजी को अग्रगण्य बनाकर नया इतिहास बनाया। आगम विधि के अनुसार अग्रगामी बनने से पहले निशीथ और आचारांग सूत्र की वाचना आवश्यक है। जब कि दीक्षा के तीसरे वर्ष से पहले आचारांग एवं निशीथ के वाचन का कल्प नहीं आता। ऐसी स्थिति में आचार्यश्री ऋषिराय ने साध्वी ऋद्धूजी की निश्राय में साध्वी सरदारांजी को अग्रगण्या बनाया। उन्हें साध्वी ऋद्धूजी और जेतांजी नामक दो साध्वियों को वन्दना करा दी और उस वर्ष का चातुर्मास डीडवाना के लिए घोषित किया। संवत 1898 का चातुर्मास उन्होंने तीन ठाणों से डीडवाना में किया। संवत 1999 का चातुर्मास आचार्यश्री ऋषिराय की पावन सन्निधि में बीदासर में

किया। चातुर्मास की सम्पन्नता के बाद संयम पर्याय के तीसरे वर्ष में सरदारसती ने एक दिन में निशीथ सूत्र का वाचन किया। आचारांग सूत्र के वाचन के पश्चात उन्हें सिंघाडे का कल्प आ गया। उस समय सुजानगढ़ की साध्वी सिणगारांजी और हरखूजी आचार्यवर के कर–कमलों से दीक्षित हुई उन दोनों को सरदारसती को सौंप दिया। इससे पूर्व फलौदी की साध्वी नवलांजी को जयपुर में ऋषिराय ने दीक्षा प्रदान की, वह भी उन्हीं के साथ थी। इस प्रकार चार साध्वियां हो जाने से साध्वी ऋद्धूजी और जेतांजी को क्रमशः साध्वी सुखांजी एवं दीपांजी के सिंघाडे में भेज दिया।

गुरुकुलवास में स्थायी प्रवास

संवत 1910 सरदार सती ने नाथद्वारा में जयाचार्यश्री के सान्निध्य में चातुर्मास किया, उस समय उनके साथ 26 साध्वियां थी। ग्यारह साध्वियों को अन्यत्र भेज दिया गया और पन्द्रह साध्वियां को गुरु–सन्निधि का लाभ मिला। यहीं से सरदारसती को सतत गुरुकुलवास में रहने का अवसर मिला। इससे पूर्व आचार्यों के साथ साध्वियों के चौमासे कभी कभार ही होते थे।

तेरापंथ धर्मसंघ की प्रथम साध्वीप्रमुखा

आचार्य भिक्षु के द्वारा तेरापंथ धर्मसंघ की स्थापना हुई तब तेरापंथ चतुर्विध धर्मसंघ नहीं था। इसलिए विरोधी लोग आचार्य भिक्षु से व्यंग्य में कहा करते – भीखणजी, लड्डू खण्डित है। खण्डित लड्डू को सम्पूर्णता दी महासती कुशालांजी, सा. अजबूजी, सा. मट्टूजी ने। साध्वी समाज की भाग्यलिपि स्वयं विधाता के हाथों से लिखी गई थी। क्योंकि इससे पहले न परम्परा थी, न इतिहास था। आचार्य भिक्षु ने पगडंडी से राजपथ पर चलना सिखाया। ज्यों ज्यों साध्वियों की संख्या का विस्तार हुआ, संघीय एवं प्रशासन व्यवस्था का संचालन किसी न किसी साध्वी के माध्यम से होता रहा। इस क्रम में साध्वी श्री वरजूजी, साध्वीश्री हीरांजी एवं साध्वी दीपांजी का नाम जुड़ा पर उनकी विधिवत नियुक्ति नहीं की गई। अथवा यह कहा जा सकता है उनको विधिवत दायित्व नहीं सौंपा गया। इस इतिहास का श्रीगणेश चतुर्थ आचार्यश्री जय ने किया। संवत 1908 माघ शुक्ला पूनम को श्रीमज्जयाचार्यश्री पदासीन हुए। संघ क्षितिज पर समुदित इस महासूर्य की तेजस्विता ने संघ शक्ति को नित नए आयाम दिए। उन अनगिन अवदानों में एक महत्त्वपूर्ण अवदान है – साध्वीप्रमुखा पद का सृजन।

सं. 1910 में जयाचार्यश्री ने सरदारसती को साध्वीप्रमुखा पद पर नियुक्त कर साध्वियों की सारसंभाल का सम्पूर्ण दायित्व सौंपा। वह महीना कौन–सा था, दिन

कौन सा था? वार या तिथि क्या थी? समय क्या था? सब कुछ अज्ञात है। यहां तक कि गांव, स्थान का भी कहीं उल्लेख नहीं है। जयाचार्यश्री के इस अवदान से एक अनुपम निश्चिंतता का अनुभव किया और साध्वीप्रमुखा सरदारांजी की धर्मसंघ में एक अतुलनीय आब बढ़ी। साधु–साध्वियों के मध्य उनको अत्यधिक गौरव मिला।

जयाचार्यश्री ने सरदार–सुजस ग्रन्थ में इसे पद्यात्मक प्रस्तुति देते हुए लिखा है –

शासण–कार्य भलावियो, सती भणी गणि जीत।
देश–देश में विस्तरी, कीरति अधिक पुनीत।।
गणपति रै मुख आगलै, अधिक सती नो तोल।
संत सती पिण कार्य बहु, पूछी करै अमोल।।

यद्यपि उस समय साध्वीप्रमुखा शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता था। संभवतः महासतीजी शब्द प्रयुक्त किया जाता था। साध्वीप्रमुखा शब्द नवमाचार्यश्री तुलसी के युग में प्रचलित हुआ। यह विशेषण सुव्यवस्थित रूप में वर्तमान साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी के साथ जुड़ा। इससे पूर्व महासती लाडांजी के लिए कभी कभार किसी ने उपयोग किया होगा। प्रस्तुत निबन्ध में वर्तमान शैली के अनुसार साध्वीप्रमुखा शब्द का प्रयोग किया जा रहा है।

परिवर्तनः परम्परा और व्यवस्था में

तेरापंथ धर्मसंघ का सौभाग्य रहा है कि इस संघ के आचार्यों ने इसे उत्तरोत्तर संवारा है, निखारा है। उपयोगी और कार्यकारी व्यवस्थाओं तथा परम्पराओं का सृजन कर इसे अद्‌भुत ऊँचाई दी है और संघ की एकता, अखण्डता, आचार्यनिष्ठा, अनुशासन निष्ठा एवं मर्यादा निष्ठा को मजीठी रंग दिया। जयाचार्यश्री ने शासन संभालते ही सं. 1909 में एक महत्वपूर्ण कार्य प्रारंभ किया – प्रतिवर्ष गुरु दर्शन की प्रेरणा का। इससे पहले आवश्यक नहीं था कि चातुर्मास सम्पन्न होते ही गुरुदर्शन करने साधु–साध्वियां आए ही। जयाचार्यश्री ने इस कार्य को बल दिया और दर्शन करने आने वाली साध्वियों के लिए 'आर्यादर्शन' नामक कृति की रचना। संवत 1909 से 1916 के वर्ष तक रचित गीतों में चातुर्मास के बाद गुरुदर्शन करने वाली साध्वियों का उल्लेख है, तथा किसने कितने दिन सेवा की, चौमासा में किसने कितनी तपस्या की। उस वर्ष में कौन--कौन दीक्षित हुए? कौन कब दिवंगत हुई – सारा लेखा जोखा उसमें उपलब्ध है। इससे स्पष्ट है कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह कृति महत्त्वपूर्ण है। यदि यह क्रम और आगे चलता तो संभव है इतिहास की और अधिक सुरक्षा होती।

आर्यादर्शन कृति के अनुसार महासती सरदारांजी की संवत 1898 से 1909 की तपस्या और चातुर्मास का विवरण आर्यादर्शन में इस प्रकार उपलब्ध है।

संवत	कितने ठाणा	कहां चातुर्मास	तपतालिका
1898	3	डीडवाना	31 उपवास, 2 बेला, 1 तेला, 4 चोला
1899	8	बीदासर – ऋषिराय के सान्निध्य में	
1900	4	चाड़वास	15 उपवास, 21 बेला, 1 चोला, 1 पंचोला, 1 सात
1901	6	बोरावड़	35 उपवास, 3 बेला, 1 चोला
1902	8	अजमेर	34 उपवास, 2 बेला, 1 तेला, 1 चोला
1903	10	गोगुंदा	35 उपवास, 2 बेला, 1 तेला, 1 चोला
1904	10	किसनगढ़	31 उपवास, 2 बेला, 1 तेला
1905	10	नाथद्वारा	31 उपवास, 3 बेला, 1 तेला, 1 चोला
1906	10	देशनोक	31 उपवास, 2 बेला, 1 तेला, 1 चोला
1907	10	सरदारशहर	31 उपवास, 4 बेला, 1 तेला, 1 चोला
1908	10	रतनगढ़	31 उपवास, 4 बेला, 1 तेला, 1 चोला
1909	12	जोबनेर	32 उपवास, 5 बेला, 1 तेला, 1 पंचोला

सं. 1909 के बाद महासती सरदारांजी ने लगभग सभी चातुर्मास जयाचार्यश्री के पावन सन्निधि में किए।

पुस्तकों के केन्द्रीयकरण में महासती सरदारांजी का योगदान

श्रीमज्जयाचार्य के युग तक साधु साध्वियां हस्तलिखित प्रतियां लिखते अथवा गृहस्थों द्वारा लिखित प्रतियां जांचते, वे सब अपने–अपने अधिकार में रखते थे। इससे प्रभावशाली अथवा लिपिकार सिंघाड़ों के पास पर्याप्त प्रतियां होती और कुछ ऐसे वर्ग रहते, जिनके पास आवश्यक प्रतियों का भी अभाव रहता। इससे संघीय एकत्व में कमी आने का खतरा था। दूसरी बात सभी प्रतियों का सम्यक उपयोग नहीं हो पाता था।

जयाचार्य ने एक दिन साधु साध्वियों को आमंत्रित कर एक प्रश्न उपस्थित किया – आपके साथ जो साधु साध्वियां हैं, वे किसके हैं? सभी ने एक स्वर से कहा – ये सभी और हम सभी आपके शिष्य शिष्याएं हैं। जयाचार्यश्री ने दूसरा प्रश्न किया – आपके पास पुस्तक पन्ने हैं, वे किसके हैं? सभी अग्रगण्य बोले पुस्तकें पन्ने ये सब हमारे अधिकार में हैं। जयाचार्य ने शान्त संतुलित होकर आदेश देते हुए कहा – आप अपने पुस्तक–पन्ने हमारे शिष्य शिष्याओं से क्यों उठवाओगे? आज से हमारे शिष्य शिष्याएं आपका वजन नहीं उठा सकते।

जयाचार्यवर का आदेश सुनते ही सभी अग्रगण्य अवाक् रह गए। क्योंकि पुस्तकों का वजन इतना अधिक था कि वे अकेले उठाने में सक्षम नहीं थे। थोड़ी देर चिन्तनकर वे बोले – हम इतना वजन कैसे उठाएंगे? जयाचार्यश्री समर्थ उपायज्ञ थे। तत्काल उपाय प्रस्तुत करते हुए कहा – "यदि आप वजन उठाने में अपने को अक्षम महसूस करते हैं तो पुस्तकें संघ को समर्पित कर दो"। जयाचार्यश्री के निर्देशानुसार कुछ सिंघाड़ों ने उसी समय और कुछ सिंघाड़ों ने कुछ समय बाद अपनी–अपनी पुस्तकें जयाचार्य को भेंट कर दी। अग्रगामी साध्वियों ने अपनी–अपनी पुस्तकें सरदारसती को समर्पित कर दी और सरदारसती ने स्वयं की तथा साध्वियों द्वारा समर्पित की गई सारी पुस्तकें जयाचार्यश्री को भेंट कर दी। आज भी उस समय भेंट की गई प्रतियों पर इस प्रकार लिखा हुआ मिलता है – "अै पानां सरदारांजी री नेश्राय में हुंतां, तिका जयाचार्य नै भेंट किया"

महासती सरदारांजी ने जयाचार्यश्री के इस चिन्तन की क्रियान्विति में साध्वी–समाज में एक वातावरण निर्मित किया और इस कार्य के लिए साध्वियों की मानसिकता तैयार की। इसके पीछे आचार्यवर का व्यापक चिन्तन था, संघहित का दृष्टिकोण था और संघ के प्रत्येक सदस्य की आवश्यकता पूर्ति करनी थी। समर्पित पुस्तकों का आवश्यकतानुसार वितरण करने से पूर्व अग्रगामिनी साध्वियों से एक मर्यादा पत्र पर हस्ताक्षर कराए गए। उसकी भाषा का भावार्थ यह था कि – जो पुस्तकें और साध्वियां, उनको सौंपी जाती है वे पाडिहारिय है। मूलतः आचार्य की नेश्राय में है या यह कहें कि आचार्य की सम्पदा है। बहिर्विहार में चातुर्मास करने जाते हैं तो आचार्य उनको प्रदान करते हैं। चातुर्मास सम्पन्न होने पर जब गुरु दर्शन करें तब उन्हें पुस्तकें और साध्वियां दोनों को पुनः सौंपना होगा। उन पर व्यक्तिगत रूप से किसी का अधिकार नहीं रहेगा।

समर्पण और नए सिंघाड़ो का निर्माण

संवत 1908 में जयाचार्यश्री ने संघीय पुस्तकों का केन्द्रीयकरण किया और 1910 में सरदारसती को साध्वीप्रमुखा का पद दिया और साध्वियों की संभाल का दायित्व सौंपा। थोड़े ही समय में महासती सरदारांजी के कर्त्तृत्व का प्रभाव तेरापंथ समाज एवं साध्वीसमाज में स्पष्ट दिखाई देने लगा तब आचार्यश्री जय ने एक नई क्रान्ति का स्वर मुखरित किया। साध्वी समाज के सिंघाड़ों को सुव्यवस्थित करना और साध्वियों की संख्या का समीकरण बैठाना। उस समय प्रत्येक सिंघाड़ों में साध्वियों की संख्या सम नहीं थी। जयाचार्य श्री ने साध्वी समाज में सिंघाड़ों का नवीनीकरण करने से पहले सबको समर्पित करवाना उचित समझा। इसके लिए एक–एक अग्रगामी में भावनात्मक रूपांतरण आवश्यक था। समर्पण की हवा ऐसी चली कि अच्छी प्रभावशाली साध्वियों ने जयाचार्यश्री के मंतव्य को समझा और अपनी साध्वियों सहित वर्ग का महासती सरदारांजी के चरणों में समर्पण कर दिया। जयाचार्यश्री ने बैशाख शुक्ला तृतीया अर्थात अक्षय तृतीया के दिन एक लेखपत्र लिखा और उसके तहत समर्पित होने वाली सभी साध्वियों को सरदारसती की नेश्राय में मान्य किया। बैशाख से पौष मास तक चौदह सिंघाड़ों ने समर्पण की शृंखला में अपने नाम अंकित किए। जिनके नाम दर्ज नहीं हो सके, उसके पीछे भी कई कारण हो सकते हैं। संभव है – वृद्धावस्था अथवा अस्वस्थता के कारण उस समय तक उनके दर्शन भी नहीं हुए हों। कुछ सिंघाडे अपने आपको सुव्यवस्थित मान रहे होंगे। ऐसा भी संभव है कि कुछ साध्वियों को इस सोच में ढ़लने में कठिनाई महसूस हुई होगी। इसके पीछे अनेक–अनेक कारण रहे होंगे, पर जब–जब जिनकी भावना बनी, अपने आपको समर्पित कर दिया। सं. 1916 में महासती दीपांजी ने अपनी सहगामी साध्वी मगनांजी को जयाचार्यश्री के दर्शनार्थ भेजा और अपने सिंघाड़े का समर्पण कराया। इसी प्रकार साध्वी रंगूजी ने मुनिश्री हरखचंदजी के साथ अपनी भावना प्रेषित की और सरदारसती की नेश्राय स्वीकार की।

इस बदलाव की प्रक्रिया में साध्वियों को जोड़ने का क्रम संवत 1926 तक चला। संवत 1926 की फाल्गुन शुक्ला 11 को जयाचार्यश्री ने साध्वीप्रमुखा सरदारांजी को व्यवस्थित रूप से साध्वियों के सिंघाड़े बनाने का निर्देश दिया। उस समय संघ में 174 साध्वियां थी, जिसमें दस सिंघाड़े अपने आप में सुव्यवस्थित थे, उनमें कुल 53 साध्वियां थी। शेष 121 साध्वियों के सिंघाड़े व्यवस्थित नहीं थे। दस सुव्यवस्थित सिंघाड़ों की श्रेणी में आते थे, उन सिंघाड़ों की अग्रगामी साध्वियों के नाम इस प्रकार हैं –

1. साध्वी श्री नन्दूजी बड़ा (लावा)
2. " अमृताजी (गोगुन्दा)
3. " कंकूजी (आहेड़)
4. " नन्दूजी छोटा (देवगढ़)
5. " जीवूजी (डीडवाना)
6. " पन्नाजी (चूरू)
7. " मोतांजी (गोगुन्दा)
8. " महताबकंवरजी (किशनगढ़)
9. " रंगूजी (गोगुन्दा)
10. " सेरांजी (मोमासर)

श्रीमज्जयाचार्यश्री ने तेरापंथ धर्मसंघ को और विशेष रूप से साध्वी–समाज को जो सुव्यवस्था के सांचे में ढालने का प्रयत्न किया, उसमें साध्वीप्रमुखा सरदारांजी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। लगभग सब साध्वियों के सब सिंघाड़ों को आत्म प्रेरणा से समर्पण की भावभूमि पर लाना और समर्पण करना एक बहुत कठिन कार्य था। जयाचार्यश्री का चिन्तन, सरदारसती की संघनिष्ठा और साध्वी समाज के प्रति जो वात्सल्य भाव था, आत्मीयता थी और विकास की कामना थी, उसी के परिणाम स्वरूप साध्वीसमाज में एक नई विकास यात्रा का उद्घाटन हुआ।

सं. 1926 फाल्गुन शुक्ला एकादशी को सायंकालीन समय में श्रीमज्जयाचार्य ने महासती सरदारांजी को विशेष निर्देश देते हुए कहा – हमारे संघ में इस समय साध्वी समाज की व्यवस्था में एक नवीकरण की अपेक्षा है,

क्योंकि –

- जिन–जिन साध्वियों ने अपने सिंघाड़े का समर्पण किया है/अथवा स्वयं सरदारांजी की नेश्राय में रहना स्वीकार किया है, उनमें कुछ साध्वियां जैसे – साध्वी नवलांजी अग्रगामी रूप में रहना नहीं चाहती। उनकी साध्वियों की व्यवस्था हो, यह जरूरी है।

- कुछ अग्रगामी साध्वियां दिवंगत हो गई, उनकी कुछ साध्वियों में विशेष योग्यता है और कुछ में बहिर्विहार में काम कर सके वैसी योग्यता नहीं है।
- कुछ नई दीक्षाएं भी हुई हैं।
- कई साध्वियां स्वयं की दुर्बलता से अपना स्थान नहीं जमा पा रही हैं।

ऐसे कई महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं, जिनको समाहित करने के लिए साध्वियों के नए सिंघाड़ों की व्यवस्था की जाए। मैं चाहता हूँ, ये सिंघाड़े तुम्हारे हाथ से हो क्योंकि साध्वियों के स्वभाव, आदत, भावना से तुम अधिक परिचित हो। दूसरी बात, मेरी अपनी यह धारणा है कि – सरदारांजी हमारे धर्मसंघ में एक पुण्यवान साध्वी है, उनके हाथ से जो काम होगा, पवित्र होगा, पुनीत होगा। तीसरी बात, मुझे यह भी विश्वास है – भविष्य में हमारा श्रम अधिक नहीं लगेगा अर्थात जो काम होगा, उत्तम होगा।

महासती सरदारांजी ने अत्यन्त विनम्र भाव से निवेदन किया – आपकी कृपादृष्टि किन–किन पर है, मैं आपके शुभ चिन्तन के अनुसार काम करूं, यह मेरी इच्छा है।

आचार्यप्रवर ने तत्काल अपना चिन्तन प्रस्तुत किया, और अपना मंतव्य स्पष्ट बता दिया। आचार्यवर की दृष्टि की समग्रता से आराधना करने वाली, चित्त के अनुरूप वर्तन करने वाली, विनयशील साध्वीप्रमुखा सरदारांजी ने गुरु द्वारा प्राप्त संकेत को एक रात में क्रियान्वित कर ऐतिहासिक कार्य किया। एक रात्रि में 23 नए सिंघाड़ों का निर्माण कर श्रीचरणों में प्रस्तुत कर दिया। बहुत समय से जिस कार्य को करने की तमन्ना जयाचार्यश्री के मन में थी, जिस कार्य को क्रियान्वित करना दुष्कर ही नहीं, अति दुष्कर माना जा रहा था, उस महान चुनौति को महासती सरदारांजी ने कर दिखाया। यह उनकी कार्यकुशलता, प्रशासन कौशल और प्रतिभाकौशल का अद्भुत करिश्मा था। इस कार्य में भी उन्होंने अपनी शक्ति सम्पन्नता का उपयोग किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। लगता है, मानसिकता का अध्ययन कर उनकी भावना का आदर कर, समुचित व्यवस्था की। साध्वी गुलाबांजी को सम्बोधित करते हुए कहा – तुम अपने पास सात साध्वियों को रख लो और किन–किन को तुम अपने पास रखना चाहती हो, यह मुझे बता दो।

इन संदर्भ में मीमांसा की जाए तो अनुभव होता है – साध्वीप्रमुखा सरदारांजी ने गुलाब सती के प्रति उदार व्यवहार कर भविष्य को सम्मानित परम्परा दी। शेष 23

सिंघाडों में चार–पांच के अनुपात से साध्वियां देकर सबको संतुष्ट बनाया। जो साध्वियां स्वभाव, शरीर से अक्षम थी, उनकी चार–पांच की संख्या में गणना न कर अतिरिक्त साध्वी के रूप में वर्ग/सिंघाडे में दी गई। इस प्रकार सूझबूझ और हिम्मत के साथ जो कार्य महासती सरदारांजी ने किया, उसे देखकर और सुनकर सभी ने आश्चर्य की अनुभूति की। जो 23 सिंघाडे बनाएं, उनके नाम इस प्रकार हैं –

1.	साध्वी	श्री	बरजूजी	(139)	रतनगढ़
2.	"	"	हस्तूजी	(152)	चूरू
3.	"	"	ऋद्धूजी	(155)	रतनगढ़
4.	"	"	गोमांजी	(160)	देवगढ़
5.	"	"	चन्दनांजी	(165)	बगड़ी
6.	"	"	सिणगारांजी	(179)	पीसांगण
7.	"	"	नवलांजी	(182)	फलौदी
8.	"	"	सुजानकंवरजी	(200)	सुजानगढ़
9.	"	"	किस्तुरांजी	(227)	मांडा
10.	"	"	नवलांजी	(240)	पाली
11.	"	"	चांदकंवरजी	(274)	बीकानेर
12.	"	"	हरखूजी	(275)	बीकानेर
13.	"	"	सिणगारांजी	(280)	लाडनूं
14.	"	"	खेमाजी	(284)	बेमाली
15.	"	"	लालांजी	(296)	बागोर
16.	"	"	केसरजी	(314)	मांडा
17.	"	"	रायकंवरजी	(325)	चितामा
18.	"	"	किस्तुरांजी	(332)	पोटला
19.	"	"	चान्दाजी	(343)	देवगढ़

20.	"	"	जड़ावांजी	(347)	आमेट
21.	"	"	गोरखांजी	(359)	फलौदी
22.	"	"	जेठांजी	(360)	फलौदी
23.	"	"	चंपाजी	(161)	सिरियारी

लेखपत्र बनी इस्पाती परम्परा

सं. 1926 फाल्गुन शुक्ला 12 मंगलवार, पुण्य नक्षत्र, लाडनूं की पवित्र धरती पर जयाचार्य ने एक लेख पत्र लिखा – चातुर्मास सम्पन्न होने के पश्चात साधु साध्वियां आचार्य के दर्शन करें तब पुस्तक पन्ने तथा सहगामी साधु साध्वियों को सौंपे बिना चारों आहार पानी ग्रहण न करें। इस लेख पत्र में फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी के दिन 20 अग्रणी साध्वियों ने हस्ताक्षर किए, जो आज भी सुरक्षित है। आज तेरापंथ में यह इस्पाती परम्परा ज्यों की त्यों कायम है।

प्रभावशाली व्यक्तित्व और प्रवर्तिनी–सा सम्मान

साध्वीप्रमुखा सरदारांजी के व्यक्तित्व की सर्वांगीणता उनके संबंध में जयाचार्य द्वारा लिखित पद्यों से स्पष्ट परिलक्षित होती है। स्वयं जयाचार्यवर ने उनको प्रवर्तिनी–सम साध्वी चन्दनबाला की उपमा से उपमित किया है। सरदार–सुजस में लिखा है –

प्रवर्तिनी सम प्रत्यक्ष पेखो, पंचम काल मझारो।

संत तिके पिण मोल सती नो राखै अधिक उदारो।।

प्रवर्तिनी ना जिन कह्या, गुण आगम अधिकाय।

ते गुण प्रत्यक्ष पेखियै, साम्प्रत काल रै मांय।।

शासन–भार धुरन्धरू, जननी जिम कहै जन्न।

मुनि पिण चन्दनबाल नी, दै ओपम कहै धन्न।।

जयाचार्यश्री की दृष्टि में आगम वर्णित प्रवर्तिनी के सभी गुण महासती सरदारांजी में प्रत्यक्ष थे। साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, सभी को उनसे माता–सी

वत्सलता मिलती थी। इसलिए चार तीर्थ के दिलों में उनके प्रति सम्मान जनक स्थान था। वे जब भी आचार्यवर के स्थान पर जाती, उन्हें देखते ही संत खड़े हो जाते, कंबल बिछाते और पधारो–पधारो, ऊंचे शब्दों का प्रयोग कर बहुमान देते। साध्वीप्रमुखा सरदारांजी इतनी गहरी गंभीर थी कि आचार्यों की अमाप्य कृपा, साधुओं का सम्मान, साध्वियों का अत्यधिक विश्वास प्राप्तकर के भी कभी उनके चेहरे पर गर्व की झलक दिखाई नहीं दी।

सहनशीलता, सरलता निर्लोभता, निरहंकारता, समता आदि ऐसे विरल गुणों का समवाय उस पवित्र आत्मा में निवास करता था, जो सम्पर्क आने वाले हर व्यक्ति को आकर्षित करता था। परोपकार की भावना उनके कण–कण में व्याप्त थी। जब कभी कोई साधु–साध्वी अपनी बात आचार्यश्री के पास नहीं रख पाता, साध्वीप्रमुखाजी को निवेदन करता, तो समुचित ध्यान देतीं। यहां तक कि एक बार जयाचार्यश्री के बड़बन्धव मुनिश्री स्वरूपचन्दजी स्वामी ने एक बार अपनी भावना सरदार सती के माध्यम से जयाचार्य तक पहुंचाई, उसे पद्यमय प्रस्तुति देते हुए आचार्य तुलसी ने लिखा है –

श्रमण–संघ पर भी प्रत्यक्ष असर हो महासती रो,

चाही अन्तिम समय सिफारिश श्री स्वरूप बड़वीरो।

संभवतः बात यह थी कि मुनिश्री स्वरूपचन्दजी स्वामी लाडनूं में स्थिरवास कर रहे थे। जयाचार्यश्री की मानसिकता वहां से विहार करने की थी और स्वरूपचन्दजी स्वामी चाहते थे कि अभी यहीं विराजे। तब उन्होंने महासती सरदारांजी को जयाचार्यश्री से अर्ज करने के लिए प्रेरित किया था।

प्रेरणा और पौरूष की प्रतिमा

उनका जीवन श्रम और पुरुषार्थ का प्रतीक था। वे हिम्मत धर महिला थीं। बाधाओं से हारना कभी नहीं सीखा। अच्छा चिन्तन और अच्छा विवेक देकर निराश व्यक्तियों को भी आशावान बनाया। सं. 1924 से महासती सरदारांजी का स्वास्थ्य अस्वस्थ रहने लगा। उन्हें कमजोरी का अनुभव होने लगा। उन्हीं दिनों जोधपुर के प्रमुख श्रावक बादरमलजी भंडारी के पुत्र किशनमलजी तथा लिछमणदासजी भंडारी आदि ने बीदासर में जयाचार्यश्री के दर्शन किए और जोधपुर पधारने की प्रार्थना की। जयाचार्यश्री ने भंडारीजी की भावना को सम्मान देते हुए जोधपुर पधारने की स्वीकृति प्रदान की। जब विहार की बात महासती सरदारांजी के सामने रखी, उन्होंने तत्काल

विहार की मानसिकता प्रकट की। एक क्षण के लिए मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, कैसे चलूंगी, उनके मन में विकल्प भी नहीं आया। गुरु के मनोनुकूल वर्तन करने में महासती सरदारांजी एक नजीर थी। उस चातुर्मास में भंडारीजी साध्वीप्रमुखा के गुणात्मक व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व से बहुत प्रभावित हुए।

साध्वियों के पहनावे में यों आया एक परिवर्तन

जयाचार्यश्री जोधपुर में पावस प्रवास कर रहे थे। उस समय तक तेरापंथ समाज की साध्वियों की वेशभूषा वैसी ही थी, जैसी स्थानकवासी साध्वियों की है। एक दिन दो साध्वियां पानी के पात्र लेकर बाजार से निकल रही थी। दुपट्टीनुमा पछेवड़ी का एक पल्ला कब धरती को छूने लगा, उन्हें पता नहीं चला। पीछे से एक भाई जल्दी–जल्दी चलता हुआ आ रहा था। पछेवड़ी की एक कोर उसके पैर से दब गई। ज्योहीं पछेवड़ी दबी साध्वीजी के सिर से पूरी पछेवड़ी फिसल गई। भरे बाजार में साध्वीजी की स्थिति हास्यास्पद हो गई। वहां पर खड़े तेरापंथ समाज के व्यक्तियों, इतर जैन समाज के लोगों तथा वहां उपस्थित सभी वर्गों के व्यक्तियों में यह घटना चर्चा का विषय बन गई। उस जमाने में और जोधपुर जैसे सामंती माहौल में एक औरत का भरे बाज़ार में सिर से पछेवड़ी उतर जाना बहुत बड़ी बात थी। दूसरे शब्दों में कहे तो इज्जत जाने जैसी बात थी। वहीं स्थानकवासी या मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के जिम्मेदार व्यक्ति खड़े थे। उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगी। भंडारीजी के साथ उनकी अच्छी दोस्ती थी। वे वहां से तत्काल भंडारीजी के घर गए।

उन्होंने बाजार में घटी घटना की सम्पूर्ण जानकारी देते हुए कहा – भंडारीजी! हमारी बहिन बेटियों के सिर से भरे बाजार से कपड़ा उतर जाना। सुनते ही भंडारीजी गंभीर हो गए। वे तत्काल जय महाराज की सन्निधि में पहुंचे और जोधपुर बाजार में हो रही गर्मागर्म चर्चा की अवगति दी। भंडारीजी ने इस सन्दर्भ में अपना चिन्तन रखते हुए कहा – गुरुदेव! हमारे घर की बहु बेटियां ओढ़नी में सलवटें डालकर टांग लेती है, वैसे ही साध्वियां करें तो क्या एतराज है?

कहते हैं, इसी चिन्तन की धुरी पर परिक्रमा करते–करते गणवेश के संदर्भ में नया आविष्कार हो गया। महासती सरदारांजी की इसमें मुख्य भूमिका रही हो, यही अधिक संगत लगता है क्योंकि साध्वी समाज की दृष्टि से दोहरे पट के साथ सलवटे डालकर पछेवड़ी पहनना, जहां आब की सुरक्षा करती है वहीं उससे पहनावा का कौशल भी प्रकट होता है। तीसरी महत्त्वपूर्ण इस गणवेश के निर्धारण से तेरापंथ साध्वी समाज की अपनी स्वतंत्र पहचान बन गई। सर्वाधिक मूल्यवान बात यह है कि

जिसने वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक सोच के समन्वय का उपयोग किया, वास्तव में ही उत्कृष्ट प्रतिभा सम्पन्नता का प्रतीक है।

सेवाभावना और उदारता

चतुर्विध संघ की सेवा का महान संकल्प लेकर उन्होंने अपने शक्ति का समुचित उपयोग कर कृतार्थता का अनुभव किया। आचार्यों की सेवा, उनकी दृष्टि की समुचित आराधना और उनके निर्देश का अनुपालन, साध्वीप्रमुखा सरदारांजी का सर्वोच्च लक्ष्य रहा। उसके साथ साधु संघ की सेवा भी वे बड़ी उदार और आत्मीय भाव से करतीं। कब किसको क्या आवश्यकता है, जानकारी मिलते ही वे स्वयं उपलब्ध कराने में जुट जाती। जयाचार्य की अनुज्ञा से साधु साध्वियों की आवश्यकता की सम्पूर्ति जिस उत्साह से करती, उसका वर्णन करते हुए जयाचार्यश्री ने लिखा है –

आज्ञा जय गणपति तणी सती भणी सुखदाय।

सन्त अनै सतियां भणी, दीजै तुज चित्त चाय।।

दान धर्म नवमो कह्यो, जती धर्म रै मांय।

ते गुण अधिक सती मझे, देख्यां आश्चर्य पाय।।

असनादिक वस्त्रादि फुन, अणमांग्या ही देह।

बलि मांगै तो पिण तसु, उलट धरी आपेह।।

लघु वृद्ध प्रमुख मुनि अज्जा सगलानै आधारो जी।

दान धर्म नो लाभ इसी विधि लेवै सती उदारो जी।।

इसी प्रकार साधु साध्वियों की अपेक्षा की पूर्ति कर महासती सरदारांजी स्वयं आत्मतोष का अनुभव करतीं और साधु साध्वियां उनकी कृपा से इप्सित वस्तु पाकर संयम में समाधिस्थ रहते। अध्ययन, व्याख्यान अथवा जनसम्पर्क में काम आने वाले चित्रों को देना होता तो वही समत्व की दृष्टि रहती।

डालिम मुनि (डालगणि) ने बाल्यावस्था में एक दिन जयाचार्य के श्रीचरणों में निवेदन किया – प्रत्येक बुद्ध नामक व्याख्यान कण्ठस्थ करने की इच्छा है, इसलिए प्रति चाहिए। जयाचार्य ने कहा – सरदारसती से मांग लो। डालमुनि ने विनयपूर्वक प्रत्येक बुद्ध आख्यान की प्रति मांगी। महासती ने पूछा – आप इस व्याख्यान को

कितने दिनों में याद कर सुनाएंगे। मुनिश्री ने कहा – आप जितने दिन में कहेंगी, उतने दिन में ही याद करके आपको सुनाने का विचार रखता हूँ। मुनिश्री की विनम्रता से प्रभावित होकर महासतीजी ने तत्काल प्रति पकड़ा दी और उन्होंने भी प्रतिदिन एक–एक पत्र कण्ठस्थ कर तेरह दिनों में तेरह पन्नों में लिखित आख्यान साध्वीप्रमुखा को सुना दिया।

साधु साध्वियों के लिए कुत्रिकापण

साध्वीप्रमुखा सरदारांजी का दरबार सबके लिए सदा सर्वदा खुला रहता था और सब साधु साध्वियां मां की तरह उनके सामने अपनी मांग/अपनी इच्छा/अपेक्षा की पूर्ति करने पहुंच जाते थे। जयाचार्य ने जिस सहज और सरल शैली में इसे प्रस्तुति दी है, उसे पढ़कर मन प्रसन्नता से भर जाता है। सरदार सुजस आख्यान की तेरहवीं गीतिका का अध्ययन करने वालों को महसूस होगा कि वे सबके लिए कुत्रिकापण थी। कुत्रिकापण आगम का शब्द है, जिसका अर्थ है – वह दुकान/बाज़ार, जहां तीन लोक की वस्तुएं उपलब्ध होती हैं। महासती सरदारांजी के पास तेरापंथ धर्मसंघ में निर्मित होने वाली सब वस्तुएं बड़े उदार भाव से मिलती। जयाचार्य श्री के शब्दों में पढ़ें –

कोई कहै मुझ रजोहरण दो, मांगै पूंजणी कोई जी।
नसीतिया नै बली नांगला, दीयै सती अवलोई जी।।
कांटो काढण सूलां देवो, बली चींपियो ताजो जी।
कोई कहै मुझ पूठो देवो, देवै सती समाजो जी।।
कोई कहै मुझ पटड़ी देवो, कोई कहै द्यो पाटी जी।
कोई कहै लेखण कामी दो, कोई कहै द्यो काटी जी।।
लेखणां रो घर मांगै कोई, मांग टोपसी कोई जी
हरियाल हींगलू स्याही पींछी देवै सती सुजोई जी
.....
कोई कहै मुझ पात्रो पात्री, रंगावो गुण खांनो जी।
कोई कहै पोतै रंग लेइस, द्यो, मुझ रंग रोगानो जी।।
कोई कहै मुझे चोलपट्टो द्यो, पछेवड़ी बलि आपोजी।
कोई कहै एक सीवावी द्यो, बलि लूंकार समापोजी।।
कोई कहै मुझ बासठियों द्यो, बलि द्यो तेरादुवारो जी
कोई मांग चरचा का पाना, देवै सती उदारो जी
कोई कहै मुझ लघुदण्डक द्यो, मांगै कोई चित्रामो जी।

कोई कहै कोरा पाना दो, देवै सती तमामो जी।।

.....

ढाल तेरमी मांहि सती नो दान धर्म दीपायो जी।
साधु साध्वी श्रावक श्राविका सगलां नै सुखदायो जी।।

जो साधु साध्वियां वृद्ध, ग्लान अथवा किसी कारण वश गुरुकुलवास की सन्निधि प्राप्त नहीं कर पाते, उनकी सलक्ष्य स्मृतिकर सरदारसती उनके लिए उपकरण भेजकर आंश्वस्त करती। इसी भावना को पढ़े –

कोस अनेक आंतरै अज्जा, कारण वाली भावैजी।

संत सत्यां हाथै देइनै, प्रवर वस्त्र पोहचावैजी।।

मुनि पिण बहु कोस आंतरै, कारण वाला ताह्यो जी।

पिछेवड़ी चोलपटा सीवाड़ी, पोहचावै चित ल्यायो जी।।

इससे स्पष्ट है कि तेरापंथ में समाजवाद की विकास–यात्रा का प्रारंभ स्वस्थ और पवित्र उद्देश्य के साथ हुआ और उसको प्रतिष्ठित करने में साध्वी प्रमुखा सरदारांजी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

साध्वी समाज में कला की सिद्धश्री

महासती सरदारांजी की पावन सन्निधि में साध्वी समाज ने कला के क्षेत्र में प्रवेश किया, यह निर्विवाद सत्य है। साध्वियों द्वारा कृत पहला चित्र साध्वी मगदूजी पींपलीवाला का मिलता है। उसमें लिखा है – "हाथ री कला चतुराई, सरदार सती सिखाई"। सिलाई रंगाई, चित्रकला, लिपिकला के साथ–साथ परिष्कृत जीवन शैली की ऊँचाई भी साध्वीप्रमुखा की महान देन है – आचार्य तुलसी ने सरदारसती गुण वर्णन गीत में लिखा है –

लेखन चित्र सिलाई लेपकला सुन्दर सुघड़ाई।

विनय नम्रता वर अनुशासन उचित चाल चतुराई।

एक–एक श्रमणी नै प्रेरित करी विमल व्यवहारा।।

महासती सरदारा।।

उस पुण्यात्मा द्वारा तेरापंथ साध्वी समाज को कला का ऐसा वरदान मिला कि तब से लेकर अब तक नित नई प्रगति के पदचिन्ह् कायम करता रहा है। तेरापंथ साध्वी समाज का कला कौशल अनुपम और अद्वितीय है।

साध्वीप्रमुखा सरदारांजी ने श्रावक श्राविकाओं के निर्माण में भी अथक श्रम किया। सायं प्रतिक्रमण के पश्चात श्राविकाओं को संघीय संस्कार देती, उन्हें तत्त्वज्ञान सीखातीं और आत्म कल्याण की प्रेरणा देती। उनकी शिक्षात्मक प्रेरणा श्रावक समाज के लिए गंगाहल के समान हितकारिणी थी। उन्होंने विशेष रूप से बीदासर, लाडनूं, सुजानगढ़ आदि क्षेत्रों की महिलाओं में धार्मिक संस्कार संघनिष्ठा, दान भावना, तपःसाधना आदि विविध आयामी भाव भरे। जयाचार्यश्री ने लिखा है –

वर वैराग्य नी वारता, दानादिक गुण देख।

अधिक शासन री आसथा, एहवी सीख संपेख।।

हाण हुवै राग द्वेष नी, मिटै क्लेश–कषाय।

एहवी सीख समापती, बली कला विविध ओलखाय।।

जीवन की संध्या में जागरूकता और अप्रमतता

सं. 1927 का चातुर्मास जयाचार्यश्री ने लाडनूं में किया। साध्वीप्रमुखा सरदारांजी आदि पचास साध्वियां गुरु सेवा का लाभ उठा रही थी। उस चातुर्मास की अवधि में सरदारसती के शरीर में व्याधि के कारण अत्यधिक कृशता आ गई। खान पान के प्रति उनकी रूचि कम हो गई, जिससे चातुर्मास सम्पन्न होते होते वे अत्यधिक कमजोरी अनुभव करने लगी। फिर भी वहां से धीरे–धीरे विहार कर खानपुर होते हुए सुजानगढ़ पहुंची। वहां पन्द्रह दिन का विश्राम हो गया, पर स्वास्थ्य उत्तरोत्तर क्षीण होता जा रहा था। उनमें साहस सिंहणी जैसा था, इसलिए अत्यधिक दुर्बल तन की स्थिति में करणीय कार्य व्यवस्थित करती रही।

मृगसर शुक्ला छठ को जयाचार्यश्री बीदासर पधारे। पौष कृष्णा चतुर्दशी तक महासती सरदारांजी आचार्यश्री के दर्शन करने तथा आहार के समय आचार्यश्री के स्थान पर जाती थी। वे साधु साध्वियों के आहार वितरण कार्य भी चतुर्दशी तक करती रही। अमावस्या के दिन अचानक वे उठने में एकदम अक्षमता महसूस करने लगीं। दोनों पैरों में चलने की शक्ति नहीं रही, ऐसी स्थिति में साध्वियों ने बड़े साहस के साथ हाथों में उठाकर आचार्यवर के स्थान पर दर्शन कराने लेकर गई। महासती

सरदारांजी के तन में क्या बीमारी थी, यह कहीं वर्णन नहीं मिलता। केवल उनके तन में अत्यधिक व्याधि होने से कमजोरी बढ गई, अन्न अरूचि हो गई, यही उल्लेख मिलता है। इससे पूर्व सं. 1899 शेषकाल में वे एक बार अत्यधिक अस्वस्थ हो गई, तब उन्हें लगभग 6 महीनें लाडनूं में रहना पड़ा। उस समय वे विहार करने में समर्थ नहीं थी, इसलिए 1900 का चौमासा उन्होंने चाड़वास में किया।

पौष शुक्ला एकम को उन्होंने वहां उपस्थित सभी साध्वियों को एकत्रित कर शिक्षा देते हुए कहा – तुम लोग किसी बात की चिन्ता मत करना, दत्तचित्त होकर आचार्यवर की सेवा करना। उस दिन के पश्चात सभी को ऐसा महसूस होने लगा कि शरीर कब साथ छोड़ दे, कहा नहीं जा सकता। जयाचार्यश्री ने पूरे विस्तार के साथ पांच महाव्रतों का पुनरावर्तन करवाकर आत्मालोचना करवाई तथा वीर रस भरे विविध उदाहरणों को सुनाकर उनकी भावना को ऊर्ध्वमुखी बनाने का प्रयत्न किया। साध्वीप्रमुखा भी पूर्ण सजगता के साथ जयाचार्यश्री के एक–एक शब्द का रसपान करती हुई अपने आपको हल्का बनाने के लिए क्षमायाचना की। पौष शुक्ला द्वितीया के दिन उन्होंने औषध और पानी के अतिरिक्त सभी पदार्थों के त्याग कर दिए। औषधि के रूप में मात्र सौंठ का पानी लिया, और दवा का उपयोग नहीं किया। अष्टमी तक उनकी शक्ति इतनी कम हो गई कि वे कभी संकेत से तथा बहुत धीमे स्वर में अपनी भावना व्यक्त करतीं। पौष शुक्ला अष्टमी को जब लगभग सवा प्रहर दिन शेष रहा, आजीवन अनशन कर लिया। साध्वियों ने खूब वैराग्यवर्धक और आत्मचिन्तन परक गीतों का संगान कर स्वाध्याय कराया और जप से वातावरण को अध्यात्ममय बना दिया। जब दो मुहुर्त्त रात्रि शेष रही, सतियों के सहारे बैठे–बैठे साध्वीप्रमुखा ने परम समाधि के साथ अन्तिम सांस ली। उन्हें लगभग पौने पांच प्रहर का संथारा आया।

साध्वीप्रमुखा के दिवंगत होने पर पूरे धर्मसंघ ने रिक्तता का अनुभव किया और दूसरे दिन बड़े धूमधाम से 33 खंडी मंडी बनाकर दाह संस्कार किया। आसपास के गांवों के लोग बहुत अच्छी संख्या में वहां पहुंचे। उस समय बीदासर में 24 संत 95 साध्वियां थीं। साध्वीप्रमुखा ने लगभग कुछ अधिक तीस वर्ष संयम–साधना की और भिक्षु शासन के विकास में अपना महान योगदान दिया।

देव घटना वृत्त बताते

एक अनुश्रुति के अनुसार कहते हैं कि महाविदेह में अतीत में हुए दो महान आचार्यों – जयजसकरण और दीपजस के जीवन के विषय देव आकर जानकारी देता था और वे सारा घटना क्रम जयाचार्यश्री को बताती थीं, उसी के आधार पर

जयाचार्यश्री ने जयजसकरण और दीपजस रसायण, दो विशाल आख्यानों की रचना की। प्रश्न उपस्थित होता है कि वह देव कौन था? एक अवधारणा के अनुसार उनके संसारपक्षीय पति देव थे। संभवतः वे आकर बताते थे। दूसरी अवधारणा यह है कि सरदारसती पिछले भव में मुनिश्री अमीचंदजी की पुत्री थी, पिता द्वारा उनको सारी घटनाएं ज्ञात होती थी और वे जयाचार्य को निवेदन कर देतीं।

एक नए इतिहास का सृजन

तेरापंथ धर्मसंघ में महासती सरदारांजी का जीवन इतिहास का दुर्लभ दस्तावेज है। स्वयं श्रीमज्जयाचार्य ने उनको जीवन का बोध दिया, सम्यक्त्व प्रदान की, ज्ञान का अमृत दिया और जीवन समरांगण में वीरता के साथ जूझने का साहस सिखाया। अपने कर–कमलों से दीक्षा दी एवं साध्वीप्रमुखा के आसन पर प्रतिष्ठित कर गौरव प्रदान किया। उससे भी आगे सरदार सती के जीवन वृत्त को आख्यान में आबद्ध कर उनको सुनाया और उसका नाम रखा – 'सरदार सुजस'। उसकी कुल 15 गीतिकाएं हैं। 14 गीत जयाचार्य ने सरदार सती को सुना दिए तथा 15वां गीत उनके स्वर्गवासी होने पर बना दिया। यह एक नए इतिहास का सृजन है। अन्तिम गीत में जिन शब्दों में जयाचार्यवर ने उनकी प्रशस्ति में पद्य लिखे हैं, वस्तुतः गौरव करने जैसे हैं –

जिण परिणामां चारित्र लीधो तिमहिज पाल्यो सार।
तिम हिज लाभ लियो अधिकेरो तिमहिज पाम्या पार।।

प्रवर्तिनी सम पंचम आरे महासती सिरदार।
हिवड़ा तो दीसै नहीं एहवी याद करै नर नार।।

चिमत्कार कीधो इण आरे वारू धर्म उद्योत।
बाह्य अभ्यन्तर द्रव्य भाव करि घटघट घाली जोत।।

गुणवंती नै महिमावंती जसवंती फुन जोय।
पुण्यवंती नै विनयवंती अति लजवंती अवलोय।।

सर्व भणी अति साताकारी भारी बुद्धि भंडार।
गण हितकारी सील सुधारी शासण री सिणगार।।

महासती देखी है तिण नै याद घणी आवंत।
संत सत्यां नै दान धर्म नो लीधो लाभ अत्यंत।।

संत सत्यां नै अन्न पान वस्त्रादिक नो दे दान।
अधिक खेद मेटी गणगति नी सरवर रीत सुविधान।।

शासण रा बहु कार्य कीधा शासन में जिम स्थंभ।
आज्ञाकारी अतिहि भारी गणपति प्रीत अदंभ।।

महासती सरदारां।
प्रथम प्रथम साध्वीप्रमुखा श्रमणी–गण सरदारा,
महासती सरदारां।।

1. तेरापंथ – साध्वी समाज में नव–जीवन संचार्यो,
भाषा–भूषा रहन–सहन में नवीकरण कर डार्यो।
बार बार आभार सती रो गावां हृदयोद्गारां।।

2. जयाचार्य स्यूं दीक्षित, शिक्षित और परीक्षित भारी,
प्रवर्तिनी सम गुरुतर पद री जयाचार्य – रिझवारी।
जयाचार्य – कर अंतिम अनशन पण्डित मरण प्रकारां।।

3. लेखन चित्र सिलाई लेप–कला सुन्दर सुघड़ाई,
विनय नम्रता वर अनुशासन उचित चाल चतुराई।
एक एक श्रमणी नै प्रेरित करी विमल व्यवहारां।।

4. सतत दियो सहयोग तपस्या सेवा श्रम में श्रमणी,
अति उदार धर्मोपकरण – वितरण में नमणी खमणी।
शालिभद्र री पड़त उदारण 'डालिम चरित' निहारां।।

5. आचार्यां रो इस्यो अनुग्रह विरला ही कोई पावै,
महासती नै देख पगां तल कांबल संत बिछावै।
किसै जनम रा संचित पुण्य सचिक्कण स्वयं विचारां।।

6. एक रात में किता सिंघाडा सतियां रा करवाया,
तन रा मन रा रोगी सतियां नै किण भांत निभाया।
नारी न्हारी तुझ नै साधुवाद है सौ – सौ वारां।।

7. श्रमण–संघ पर भी प्रत्यक्ष असर हो महासती रो,
चाही अन्तिम समय सिफारिश श्री स्वरूप बडवीरो।
'तुलसी' श्री 'सरदार–सुजस' पढ लेवां क्यूं न दुबारा।।

8. साध्वी सिणगारांजी (सुजनागढ़) (190)

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जय गणी ने विघ्नहरण की गीतिका का निर्माण किया जो मंत्र जैसी प्रभावशाली है। उसकी चौबसवीं, पच्चीसवीं गाथा में साध्वी सिणगारांजी का जिन वजनदार शब्दों में स्मरण किया है, पढ़कर मन गौरव से भर जाता है -

सिणगांराजी मोटी सती, हरखूजी हितकारी हो।
माता तास सुहावणी अणसण चरण उदारी हो।
आराध्यो हितकारी हो।।
हिम्मतवान सती हुंती, व्यावच करण विचारी हो।
विघ्नहरण वच्छल करी, दिल संपति दातारी हो।
जय जश हर्ष अपारी हो।।

इस मांत्रिक गीत का स्मरण जब भी कोई करता है, मन में यह जिज्ञासा अवश्य होती है साध्वी सिणगारांजी एवं साध्वी हरखूजी के विषय में जानने की। साध्वी सिणगारांजी सुजानगढ निवासिनी थी। उनकी ससुराल की जाति बोथरा और पीहर पक्ष का सम्बन्ध भंसाली परिवार से था। उनकी एक हरखू नाम की पुत्री थी। साधु-साध्वियों के सम्पर्क से मां बेटी दोनों पर वैराग्य का मजीठी रंग चढ़ा। नौ वर्ष की अवस्था में बालिका हरखूजी को महासती सरदारांजी ने तत्त्वज्ञान सिखाया। संवत् 1899 आसोज शुक्ला सातम को आचार्य ऋषिराय के कर-कमलों से बालिका हरखू ने बीदासर मे संयमरत्न प्राप्त किया। दीक्षा के पश्चात उनकी पहचान साध्वी हरखूजी के रूप में होने लगी। उनकी मां - सिणगारांजी की दीक्षा की उत्कट भावना होने पर भी एक साथ नहीं हो सकी। कारण क्या बना, अज्ञात है पर सिणगारांजी की दीक्षा दो महीने बाद लाडनूँ में मृगसर सुदि द्वितीया को हुई। आचार्य ऋषिरायजी बीदासर चातुर्मास कर लाडनूँ पधारे तब उन्हें आपने दीक्षित किया।

साध्वी हरखूजी और साध्वी सिणगारांजी के मध्य तीन साध्वियों की दीक्षा हुई, पर साध्वी हरखूजी की बड़ी दीक्षा न होने से वे तीनों उनसे ज्येष्ठ हो गईं। साध्वी हरखूजी की बड़ी दीक्षा चार महीने पश्चात हुई और साध्वी सिणगारांजी की सातवें दिन होने से वे भी उनसे बड़ी हो गई।

दीक्षित होने के पश्चात दोनों मां और बेटी को महासती सरदारांजी की पावन सन्निधि में साध्वाचार के प्रशिक्षण का अवसर मिला। वे विनम्र, सेवाभावी और विवेकसम्पन्न

साध्वी थी। सेवा का जब भी मौका मिलता, प्रसन्नता से अपने आपको उसमें नियोजित करती। परीषहों को सहने में वे शूरवीर थी। साधु साध्वियों को वे साता देने वाली थी। गुरु आज्ञा के प्रति जागरूक थी और गण-गणी के प्रति उनके मन में उत्कृष्ट प्रीति थी।

साध्वी सिणगारांजी की संयम साधना का मात्र चार वर्ष का समय रहा। चारों चातुर्मास उन्होंने महासती सरदारांजी के सान्निध्य में किए। पहला चातुर्मास चाड़वास में किया। दूसरा बोरावड़ में किया। वहां उन्होंने आछ के आगार से मासखमण किया। तीसरा चौमासा अजमेर में था वहां केवल गर्म पानी के आधार पर मासखमण तप किया और चौथा चातुर्मास गोगुन्दा में किया जहां आछ के आगार से चालीस दिन का तप किया। इससे स्पष्ट है कि तपस्या में उनकी गहरी रुचि थी।

संवत 1903 का गोगुन्दा चातुर्मास सम्पन्न कर साध्वी सरदारांजी विहार करती हुई धोइन्दा ग्राम पहुंची। वहां साध्वी सिणगारांजी अस्वस्थ हो गईं। वहां साध्वी नवलांजी आदि साध्वियां ने उनकी बहुत सेवा की। उनकी अस्वस्थता बढ रही थी। एक दिन नाथद्वारा के श्रावक फौजमलजी तलेसरा ने दर्शन किए। उन्होंने व्याधिग्रस्त साध्वीजी को देखा और सारी स्थिति कोठारिया गांव में विराजित मुनिश्री हेमराजजी को निवेदित की। मुनिश्री हेमराजजी तत्काल धोइन्दा पधारे और सिणगारांजी को दर्शन दिए। आध्यात्मिक भाव धारा बढ़ाने वाले गीत आदि सुनाए और उनकी भावना को ऊर्ध्वमुखी बनाने का प्रयत्न किया

उन्होंने मुनिश्री हेमराजजी से निवेदन किया -मुझे अनशन करा दीजिए। शारीरिक स्थिति को देखकर हेमराजजी स्वामी ने अनशन पचखा दिया। लगभग दस प्रहर बाद उनका स्वर्गवास हो गया। मात्र चार साल की अवधि में साध्वी सिणगारांजी ने अपना कल्याण कर लिया। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आचार्यों के दिल में आदर सम्मान के साथ आस्था भाव पा लिया। जयाचार्यश्री ने उनके सम्बन्ध में चार गीतों की रचना की।

जयाचार्यश्री द्वारा रचित गीतों में साध्वी सिणगारांजी के लिए जिस ऊंचाई के साथ शब्द प्रयोग किए है, वे एक और जयाचार्यश्री उदार प्रमोद भावना की प्रस्तुति है तो दूसरी ओर साध्वी सिणगारांजी के संघ-वत्सल, संघहितैषी शक्तिसम्पन्न आत्मा के प्रति आस्थाभाव की अभिव्यक्ति है। जयाचार्यश्री जगह जगह अपनी लेखनी से लिखते हैं –

सती शिरोमणी शोभती सिणागारां सुखदाय :

नित भजन करो भवियण प्राणी।
धन धन सति सिणगारां स्याणी।।

इससे भी आगे लिखते हैं

समरण सुख सम्पत सही, हरख प्रमोद सु होय।
आनन्द अति घन ऊपजै, जयजश वृद्धि सुजोय।।

सुखदायिनी सिणगार सती जो साध्वियों में शिरोमणी है, उसका नित्य/प्रतिदिन स्मरण करो। उनके सुमिरण से सुख सम्पति मिलेगी, खुशी मिलेगी। मन में प्रमोद भाव जागृत होगा, आनन्द रहेगा। यश वृद्धि होगी। एक गीत में उन्हें चिन्तामणी की तरह इच्छापूरण शक्ति के साथ अपने प्रत्यक्षीकरण की बात कही है –

याद आयां मन हुलसै, वारूं तुझ विश्वास।
भजन चिन्तामणि सारिखो, आ तो देखी रे, प्रत्यक्ष पूरण आश।।

इससे स्पष्ट है जयाचार्यश्री जैसे आगमपुरुष ने जो लिखा है वह अनुभव की कसौटी पर खरा उतरा हुआ है। तभी तो विघ्नहरण की ढाल में आपने लिखा है

श्री जिन शासन शोभतो अधिष्ठायक अधिकारी हो।
अहोनिशि अवधि प्रजुंझती वांछित पूरण हारी हो।
सुख सम्पति सहचारी हो।

यह पद्य महासती सिणगारांजी के सन्दर्भ में ही है। जयाचार्यश्री कहते हैं – वह (महासती) श्री शोभा युत जैन शासन की अधिकार प्राप्त अधिष्ठायिका देवी है, जो दिन रात अवधिज्ञान लगाए रहती है और इच्छापूर्ति करने वाली है।

"जय जय जय महाराज" पुस्तक में इतिहासविद मुनिश्री सागरमलजी श्रमण लिखते हैं – साध्वी सिणगारांजी की आत्मा इन्द्राणी–महादेवी जयवंती तथा देवी दवदंती की अधिष्ठायक प्रतिष्ठित शक्ति है। वह शक्ति यदाकदा आवश्यकतानुसार जयाचार्यश्री के प्रत्यक्ष होती थी। इसी प्रत्यक्षीकरण की एक पुष्ट प्रामाणिक झलक है विघ्नहरण की स्थापना। स्वयं जयाचार्यश्री गीत के अंत में लिखते हैं –

विघ्नहरण री स्थापना।
तास सीख वच धारी।।

9. साध्वी हरखूजी (सुजानगढ़) (194)

साध्वी हरखूजी सुजानगढ निवासी हरिसिंहजी बोथरा की पुत्री थी। उनकी माता का नाम सिणगारांजी था। बालिका हरखू नौ वर्ष की हुई तभी से उनमें सहज संस्कार उद्‌भुत हुए और अध्यात्म के प्रति झुकाव हो गया। पिता के निधन से माता सिणगारांजी का वैराग्य भाव अधिक पुष्ट बना और उसमें निमित्त बना साधु साध्वियों का पावन सान्निध्य। मां के साथ बेटी हरखू भी दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गई। बालिका हरखू सौभाग्यशाली थी, जिन्हें प्राथमिक ज्ञान महासती सरदारांजी और स्वयं जयाचार्यश्री ने कराया। पत्थर को तराशने वाला कलाकार मिल जाए तो वह मूल्यवान प्रतिमा का रूप ले सकती है। पर ऐसा विरल अवसर किसी किसी पुण्यात्मा को मिलता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उस युग में अल्पायु में दीक्षा बहुत कम होती थी, इसलिए भी उनकी गणना विरल साध्वियों में हुई।

दीक्षा पहले बेटी ने ली, फिर मां ने

सं. 1899 में तृतीयाचार्यश्री रायचंदजी का चातुर्मास बीदासर था। आश्विन शुक्ला सातम को आचार्यश्री रायचंदजी के कर–कमलों से दीक्षित हो बालिका हरखूं साध्वी हरखूजी बन गई। उनकी दीक्षा के लगभग दो महीने बाद उनकी माता सिणगारांजी ने लाडनूं में दीक्षा ली। साध्वी हरखूजी की बड़ी दीक्षा चार महीने के बाद हुई। इसके पीछे उद्देश्य संभवतः एक मात्र यही रहा होगा कि मां बड़ी रहे। दीक्षित होने पर ऋषिराय महाराज ने दोनों – मां बेटी को अर्थात साध्वी सिणगारांजी एवं साध्वी हरखूजी को महासती सरदारांजी के सिंघाड़े में दे दिया।

साध्वी हरखूजी की दीक्षा संघ में उल्लासवर्धक रही, इसका उल्लेख जयाचार्यश्री ने अपने गीत में किया है। जयाचार्यश्री ने उनकी विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है –

हरख करण हरखू सती, वर बाला ब्रह्मचार।
जन्म सुधारी जस लियो, हरखू हरख दातार।।
हरखू बालक वेश में रे, इण रै विनय नो कोड़।
कार्य भलाया उचरंग स्यूं, करती बेकर जोड़।।
परमप्रीत सरदारांजी थकी रे, रहे मुरजी प्रमाण।
सेव करै साचै मने, अति उज्जम आण।।

बालवय में ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाली साध्वी हरखूजी संघ में हर्ष बढाने

वाली थीं। उन्होंने अपने गुणों से शासन में अच्छा यश अर्जित किया। वे विनयभाव में अग्रणी थीं। जब भी उन्हें किसी काम में नियोजित किया जाता, वे अहोभाव मानकर, बड़े उत्साह के साथ उस कार्य को सम्पादित करतीं। महासती सरदारांजी की उन पर विशेष कृपा दृष्टि थी। साध्वी हरखूजी का भी महासतीजी के प्रति आंतरिक समर्पण भाव था। वे महासती सरदारांजी की दृष्टि को प्रमाण मानती हुई उसी दिशा में अपने पुरुषार्थ को नियोजित करने वाली समझदार और विनीत साध्वी थीं। गण और गणपति के प्रति उनकी गहरी आस्था थी तथा उनकी सोच भी गंभीर थी।

यद्यपि उपवास आदि तपस्या वे कम करती थीं पर अंतरंग तप उनका बहुत पुष्ट था। उनकी प्रकृति शांत थी, उपशम भाव प्रबल था। स्वभाव सरल था। उनके क्रोध, मान, माया और लोभ कृश/पतले थे। प्रकृति भद्रता, शान्त कषाय और समताभाव होने से साधुता शतगुणित सुशोभित होती है। संभवतः इसीलिए जयाचार्यश्री का उन पर कृपाभाव सदा वृद्धिंगत होता रहा।

सेवा की पोथी का पहला पृष्ठ

साध्वी हरखूजी स्वभाव से ही कलाप्रिय साध्वी थी। उनके कार्यों में चतुराई और दक्षता दोनों एक साथ परिलक्षित होते थे। कहते हैं कि एक दिन जयाचार्यश्री पट्ट पर विराज रहे थे; उस समय उनका ध्यान पट्ट पर बिछे बिछौने की ओर गया। बिछौने में सल बहुत थे और करीने से बिछाया भी नहीं गया था। उसे देखकर जयाचार्यश्री ने पास खड़े सन्तों से कहा – देखो बिछौना कैसा लग रहा है? ठीक से नहीं बिछाया और यह भी पूछा कि किसने बिछाया?

बाल साध्वी हरखूजी भी वहीं खड़ी थी, उन्होंने बाल सुलभ चपलता के साथ कह दिया – बिछौना में तो सल है ही आपकी पछेवड़ी में कितने सल है, मुझे बक्साओ, मै अच्छी तरह से समेट देती हूँ। जयाचार्यवर ने बात को गंभीरता से लेते हुए पछेवड़ी उनके हाथों में थमा दी। साध्वी हरखूजी कलाकार होने के साथ कर्मशील और उत्साही साध्वी थी। अतः बड़े मनोयोग पूर्वक पछेवड़ी चतुराई से समेटकर लाई जिसे देखकर वहाँ उपस्थित सभी साधु और स्वयं जयाचार्यवर भी आश्चर्यचकित हो गए। उसी दिन से आचार्यश्री की प्रतिलेखना साध्वियां करने लगी और वह प्रथम अवसर मिला साध्वी हरखूजी को।

उनकी कार्यकुशलता का दूसरा प्रमाण है कि हस्तलिखित समुच्चय की

पुस्तकों के संभाल का दायित्व भी जयाचार्यश्री ने उनको सौंपा। उन्होंने जागरूकता और कुशलता के साथ इस जिम्मेदारी का निर्वहन किया। इस सन्दर्भ को स्पष्ट करते हुए जयाचार्यश्री ने लिखा है –

आठे जयगणि पद लह्यो, पडिलेहण पेख।
हरख धरी हरखू करै, वारू दृष्टि विसेख।।
सर्व पुस्तक इणरै तालखै त्यांरी सार संभाल।
चौकस अधिकी चातुरी उपयोग विशाल।।

साध्वीप्रमुखा का सान्निध्य

महासती सरदारांजी ने सं. 1910 में साध्वीप्रमुखा का दायित्व संभाला तब से निरंतर जयाचार्यश्री की पावन सन्निधि में चातुर्मास काल में रहने का क्रम प्रारंभ हुआ। इससे पहले आचार्यों के सान्निध्य में साध्वियों को चातुर्मास करने का मौका कभी कभार ही मिलता था। साध्वी हरखूजी को दीक्षा लेने के पश्चात साध्वीप्रमुखा सरदारांजी के पास रहने का अवसर मिला। इसलिए उन्हें भी गुरु–सेवा का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ।

अन्तिम यात्रा

संवत 1920 में जयाचार्यश्री का चूरू चातुर्मास था। साध्वी हरखूजी अधिक अस्वस्थ हो गईं। वे दमारोग से ग्रस्त हो गई। भाद्रवशुक्ला चौथ को संवत्सरी थीं।

उन्होंने उपवास किया। उसके बाद वे शरीर से अधिक कमजोर होती गईं। उन्होंने सलक्ष्य तपस्या प्रारंभ कर दी। सात दिनों की तपस्या के दिन प्रातः अढाई मुहूर्त दिन चढ़ने पर सागारी अनशन स्वीकार कर लिया। उस समय वे अपनी आत्म साधना के प्रति बड़ी सावधान थीं। वे विविध प्रकार से आध्यात्मिक चर्चा वार्ता कर अपनी आत्मा शुद्ध करती रहीं। सांयकाल के समय उन्होंने आजीवन अनशन करने की भावना व्यक्त की और जल्दी से जल्दी अनशन कराने का आग्रह किया। उस समय मात्र एक मुहूर्त दिन शेष था, फिर भी स्वयं जयाचार्यश्री साध्वियों के स्थान पर पधारें और उत्कट इच्छा देखकर उन्हें आजीवन अनशन करा दिया। तब तक सूर्यास्त नहीं हुआ था। जयाचार्य ने वहाँ विराजकर उन्हें वीर रस भरे गीत सुनाएं, आगम के पद्यों की स्वाध्याय कराई। भावों की श्रेणी के सन्दर्भ में जब जयाचार्य ने जानना चाहा तो उन्होंने वीरता–भरी आवाज में कहा– मेरे परिणाम दृढ़ हैं। आपने मेरे पर बड़ा अनुग्रह किया। अब आप स्थान पर पधारें.....

इस प्रकार सम्पूर्ण जागरूकता से आत्म-रमण करती हुई आराधना करती रहीं। महासती सरदारांजी ने उनको विशेष धर्म श्रवण का सहयोग दिया और पल-पल सार संभाल करती हुई भाव धारा को पवित्र बनाती रहीं। इस प्रकार पौने दो प्रहर रात बीतने पर उनकी सांस की गति कभी मंद, कभी तेज होती देख महासतीजी और साध्वी नवलांजी ने कहा -"आचार्यश्री के वचनों को याद रखना।" उन्होंने उत्तर की भाषा में कहा- मेरे दिल में हैं। ज्योंही वाक्य पूरा हुआ - कफ बोलने लगा और वे सदा सदा के लिए इस संसार से विदा हो गईं। 21 वर्ष की संयम पर्याय सानन्द सम्पन्न कर (संवत् 1920 आश्विन कृष्णा 3 को चूरू में) साध्वी हरखूजी तेरापंथ संघ में अमर हो गईं।

10. साध्वी सेरांजी (मोमासर) (199)

साध्वी सेरांजी का मोमासर के संचेती परिवार में ससुराल था। पति वियोग के बाद उन्होंने 1899 की साल चाड़वास में दीक्षा ली। मोमासर की तेरापंथ धर्मसंघ में यह पहली दीक्षा थी। इनका पीहर-स्थान, पीहर गोत्र, दीक्षा तिथि तथा दीक्षा किसके हाथ से ली, जानकारी प्राप्त नहीं है। चाड़वास में दीक्षा लेने से अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवत: उनका पीहर चाड़वास में रहा हो।

साध्वी सेरांजी संयम साधना के पथ पर बढ़ती हुईं ज्ञानाराधना का विकास करने लगीं। गुरु आज्ञा और अनुशासन को प्राण से अधिक महत्त्व देने वाली साध्वी सेरांजी आत्मसाधना के साथ-साथ संघ प्रभावना में अपनी शक्ति का उपयोग करने लगीं। अग्रगामी बनी पर कब बनी? यह जानकारी उपलब्ध नहीं है। सं. 1926 फाल्गुन शुक्ला 11 को साध्वीप्रमुखा सरदारांजी ने साध्वियों के व्यवस्थित रूप से सिंघाड़े बनाए। उस समय साध्वियों के दस सिंघाड़े पहले थे अौर 23 सिंघाड़े नए बनाए। पहले के दस सिंघाड़ों में एक सिंघाड़ा साध्वी सेरांजी का था।

जयाचार्य द्वारा रचित आर्या-दर्शन गीतों में साध्वी सेरांजी के सन्दर्भ में उनके आठ चातुर्मासों का वर्णन है। चातुर्मास कहां किया, उनके साथ कितनी साध्वियां थी और चातुर्मास में उन साध्वियों में से किसने कितनी तपस्या की तथा चातुर्मास की सम्पन्नता के पश्चात वे गुरु सान्निध्य में कितने दिन रही? इन बिन्दुओं पर विस्तार से चर्चा की गई है।

उपरोक्त आर्यादर्शन गीत की पंक्तियों से स्पष्ट है कि साध्वी सेरांजी की सहगामी साध्वियों ने तप: साधना कर संघ की विशेष प्रभावना की। एक महत्त्वपूर्ण बात पद्यों से उभरकर सामने आती है कि साध्वी सेरांजी का सौभाग्य था कि गुरु - सान्निध्य का शुभ संयोग प्रतिवर्ष मिला। कभी महीना, दो महीना, तीन महीना, छह महीने तक उन्होंने आचार्यों की सेवा की तथा ज्ञान के क्षेत्र में विकास किया। गुरु दृष्टि की आराधना कर समर्पण का परिचय दिया। मर्यादा निष्ठा के साथ-साथ उनकी निर्णायक शक्ति भी बेजोड़ थी। वे साहसिक थी और चुनौतियों को झेलने वाली दाठीक साध्वी मानी जाती थी।

हरियाणा चातुर्मास करने वाली प्रथम साध्वी

सं. 1915 का भिवानी चातुर्मास कर तपस्वी मुनि गुलहजारीजी ने जयाचार्य के चाड़वास में दर्शन किए। उस समय उनके साथ भिवानी आदि क्षेत्रों से कई भाई भी आए

थे। वे तेरापंथ संघ से कम परिचित थे, नए-नए तेरापंथी बने थे, इसलिए जयाचार्य का व्यक्तित्व और कर्तृत्व देख वे बहुत प्रभावित हुए। कुछ समय के लिए वहाँ वे उपासना के लिए ठहरे। उन्होंने जयाचार्य से हरियाणा प्रान्त में हांसी, भिवानी की तरफ साधु साध्वियों को भेजकर चातुर्मास कराने की प्रार्थना की। तब जयाचार्य ने परिषद के बीच सभी मुनि एवं श्रमणी समूह को सम्बोधित कर कहा - बोलो हरियाणा चातुर्मासा करने के लिए किसकी तैयारी हैं? सुनते ही सभा में सन्नाटा-सा छा गया। एक भी साधु साध्वी ने प्रसन्नता से यह नहीं कहा कि प्रभो! मैं तैयार हूँ। इसके पीछे कारण पथ में आने वाली कठिनाइयां रही हो अथवा कुछ और। पर यह सत्य है कि उस समय हरियाणा जाते समय रास्ते की बीहड़ता, विषम गांव, खारा पानी, कांटे, कंकर और रेतीले टीबे बहुत आते थे। वहाँ की बोली टेढीमेढी तथा खान-पान राजस्थान से भिन्न था। यह देखकर हरियाणा के भाई कभी आचार्यश्री की ओर, कभी साधु-साध्वियों की ओर विस्मित से देखने लगे। उस समय का वर्णन सेरा सती गुण वर्णन ढ़ाल में स्वंय जयाचार्यश्री ने किया है -

अब भरी सभा के बीच पूजजी भाखै,
कोई संत सती हां पर उत्तर नहीं दाखै।
विषम गांव बहु बीच क पाणी खारो,
कांटा कीकर हैं, रेत को रस्तो न्यारो॥
तेरे मेरे कैसे, तेसै ऊत उतोड़ बोल न जाणै,
बांके टेढ़े वे लोग धरम स्यूं अजाणै।
जून री सांठी, सुनाज चिणा को जाणो,
वादी ग्रह मंडा जल नहर, सीत्र को खाणो।
वाणी सुण के सब शांत रहे चित्त धरकै।
विखमी भौम भयावन संत बस चरकै।
सब हरियाणा के लोग टुलग टुल देखै,
हम करी आज लग खेबी लगी न लेखै॥

भरी सभा में सन्नाटा-सा छा गया। हरियाणा के लोगों के चेहरे पर निराशा उतर आई। उस समय साध्वी सेरांजी उठी और साहस पूर्वक जयाचार्यश्री को निवेदन किया- गुरुदेव! हरियाणा में चातुर्मास करने के लिए हम तैयार हैं आप हमें आदेश दें। मुझे दृढ़ विश्वास है कि आपके पुण्य प्रताप से हम सानन्द सफलता प्राप्त कर श्रीचरणों में लौट

आएंगी। मार्गगत कठिनाइयों से हमें कोई भय नहीं है।

यह सुनते ही हरियाणा के लोग खुशी से उछल पड़े। साध्वी सेरांजी ने गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर विहार कर दिया। ग्रामानुग्राम विहार करती हुई हिसार पहुंचीं। वहां कुछ दिन ठहर कर लोगों को तेरापंथ की मान्यता से परिचित कराया। वहां से ऊमरा होते हुए हांसी पहुंची। वहां एक स्थानकवासी भाई आकर बोला - साधु का आहार-विहार - दोनों पाप में हैं। साध्वी सेरांजी ने हिम्मत के साथ उसके कथन का प्रतिकार किया और आगमिक उद्धरणों से यह प्रमाणित कर दिया कि साधु का आहार-विहार भगवान की आज्ञा में हैं। वह निरवद्य हैं। आगम के आधार पर समुचित उत्तर पा वह भाई निरुत्तर हो गया और साध्वीजी के साहस की चारों ओर धाक- सी जम गई। उस वर्ष उनका चातुर्मास भिवानी में था। उस चातुर्मास में उन्होंने अनेक लोगों को समझाकर सुलभबोधि बनाया तथा अनेक व्यक्तियों को तेरापंथ की गुरु धारणा कराई। सबमें अच्छे संघीय संस्कार भरे। दीपचन्दजी नाम के एक भाई को दीक्षा के लिए तैयार किया।

इस प्रकार हर दृष्टि से सफल चातुर्मास सम्पन्न कर साध्वी सेरांजी ने भिवानी से विहार किया। जब वे हिसार पहुंची। वहाँ के प्रमुख तीन भाइयों को तेरापंथ-दर्शन समझाकर गुरु धारणा कराई। उन तीन भाइयों के नाम थे- रामलालजी, गणेशदासजी तथा संतरामजी। उसी समय मुनि गुलहजारीजी भी वहां पधार गए। वैरागी भाई दीपचन्दजी साध्वी सेरांजी के साथ थे। उन्होंने मुनि गुलहजारीजी के पास सं. 1916 की मृगसर वदि 12 को बड़े ठाटबाट से दीक्षा ग्रहण की।

जब साध्वी सेरांजी ने हरियाणा यात्रा सम्पन्न कर जयाचार्यश्री के दर्शन किए तो जयाचार्यश्री ने वात्सल्य भरे शब्दों से साध्वीजी को प्रोत्साहित किया। अपनी आर्यादर्शन कृति में भी हरियाणा चातुर्मास का उल्लेख किया है। उल्लेखनीय है कि तेरापंथ साध्वी समाज के इतिहास में हरियाणा प्रदेश में जाने वाली साध्वी सेरांजी पहली साध्वी थी। यह साध्वी-समाज के लिए गौरव की बात है।

साध्वी सेरांजी ने प्रचार-प्रसार के साथ संघीय सम्पदा की श्रीवृद्धि में भी अपने पुरुषार्थ को नियोजित किया। उन्होंने आठ बहिनों को अपने हाथ से दीक्षित किया -

1. साध्वी सरदारांजी सुजानगढ़ को सुजानगढ़ में।
2. साध्वी कुनणांजी माधोपुर को माधोपुर में।

3. साध्वी मन्नांजी माधोपुर को माधोपुर में।
4. साध्वी भानांजी बाघावास को बाघावास में।
5. साध्वी पन्नांजी को रतलाम में।
6. साध्वी चान्दाजी देवगढ़ को देवगढ़ में।
7. साध्वी नवलांजी राजनगर को राजनगर में।
8. साध्वी सुरतांजी पहुना को पहुना में।

साध्वी सेरांजी ने लगभग 49 वर्ष संयम का पालन किया। संवत 1948 में वे स्वर्गवासी हो गईं। इससे स्पष्ट है कि आचार्य ऋषिरायजी के शासनकाल में वे दीक्षित हुईं। जयाचार्यश्री के तेजस्वी कार्यकाल में उन्होंने अपने कर्तृत्व को संघ विकास में लगाया और आचार्यश्री मघवागणी के शासन काल में अपनी जीवन यात्रा सम्पन्न की।

वे पढ़ी लिखी नहीं थी पर अनुभव समृद्ध थी और उनका उपयोग बहुत निर्मल था, इसलिए उन्हें सहज सफलता उपलब्ध होती थी। वे लिपि करना भी नहीं जानती थी पर पुरुषार्थ और संकल्प बल के आधार पर सम्पूर्ण भगवती सूत्र की प्रतिलिपि की, जो अपने आप में एक उदाहरण है। ज्ञातव्य है कि भगवती सूत्र आकार में सब आगम ग्रंथों में बड़ा है। उसका ग्रन्थ (पद) परिमाण - 60 हजार पद है।

श्रावक श्राविकाओं की उनके प्रति श्रद्धा अच्छी थी। श्रावक लिछमणजी मत्थेरण ने उनके विषय में चार गीतों की रचना की हैं। उन्होंने गुणोत्कीर्तन के साथ अपनी हार्दिक आस्था को अभिव्यक्ति दी है। उसे पढ़कर लगता है कि वे साध्वी सेरांजी के नाम स्मरण को चमत्कार से कम नहीं मानते थे -

दरसण करता दुरगति न्हासै, स्मरया स्यूं सेवत आवै ठावो।
वाटे घाटे सती समरण करता, कुशल खेम स्यूं पुनः घर आवो॥
अरि कर केहरी राज तणो भय, सती-शरण स्यूं हुवै सभी बचावो।
अंतस अरज से सती जस गावो, जा हुवै सुध गत केरो उम्हावो॥
आज ही संकट सतियां मिटायो, कहै लिछमण मेरो कर पकर निभावो।

उपरोक्त पद्य अथाह-विश्वास की स्याही से लिखे हुए प्रतीत होते हैं। इनके एक एक शब्द प्रभावशाली हैं और उनके संकट मोचक व्यक्तित्व को सटीक प्रस्तुति देते हैं। सचमुच! निर्मलता, निसंगता और निर्मोहिता के परमाणुओं से निर्मित व्यक्तित्व चमत्कारी हो तो आश्चर्य क्या?

11. साध्वी जेतांजी (सूरवाल) (201)

साध्वी जेतांजी सूरवाल (ढूंढाड़) के प्रसिद्ध पोरवाल परिवार की पुत्रवधु थीं, जिस परिवार से 16 दीक्षाएं हुई। उन्होंने अपने पति मुनि हीरालालजी के साथ सं. 1900 आसोज सुदि 9 को आचार्यश्री रायचंदजी के हाथ से जयपुर में दीक्षा ली। मुनि हीरालालजी के एक भाई चिमनजी थे, उन्होंने भी सपत्नीक सं. 1903 में जयपुर शहर में ऋषिराय के कर–कमलों से संयम स्वीकार किया।

साध्वी जेतांजी साधुचर्या में सजग, आचार में दृढ, निर्मल विचारधारा वाली साध्वी थीं। वे प्रकृति से सरल थी। सेवा और विनय का उनमें अद्‌भुत संगम था। वे संघ एवं संघपति की आज्ञा पर विशेष ध्यान रखने वाली थी।

सं. 1911 में जयाचार्यश्री की पावन सन्निधि में साध्वीप्रमुखा सरदारांजी के संरक्षण में रतलाम चातुर्मास किया। चातुर्मास की सम्पन्नता पर सतीप्रमुखा सरदारांजी के साथ विहार करती हुई वे नराणगढ पहुंची। वहां उन्होंने सरदारसती के पास ऋजुता के साथ आत्मालोचना की, और विहार कर पारसोली गांव चल गई। मध्याह्न का भोजनकर स्वस्थ अवस्था में वामनिया गांव पहुंची। वहां से आधा मील मुश्किल से चली होगी, अकस्मात अनुभव हुआ शरीर में जैसे शक्ति है ही नहीं। वे वहीं बैठ गईं। चलते समय वे अपने कन्धों पर पूरा वजन लेकर चल रही थी। साथ में चलने वाली साध्वी खेमांजी ने वजन उतारने की कोशिश की पर उन्होंने नहीं दिया। एक बार जमीन पर बैठने के बाद वे उठ नहीं सकीं। वहीं आत्मशांति के साथ आत्मचिंतन करती हुई एक मुहूर्त बाद वहीं दिवंगत हो गई।

उस समय कुछ भाई सेवा में थे। वामनिया के श्रावक सीतारामजी आदि अपने गांव गए और दाहसंस्कार के लिए काष्ठ आदि लेकर पुनः आ रहे थे कि गाड़ी की रास्ते में ही धुरी टूट गई। अब क्या करें? आखिर उसे वहीं छोड़कर साध्वीजी के मृत शरीर के पास आए और लोकाचार के सारे उपक्रम सम्पन्नकर एक डोली में उसे बिठाया और कन्धों पर उठाकर जहां वह गाड़ी रूक गई थी वहां लेकर आए। और विधिवत सारा कार्य सम्पन्न किया। वह सं. 1911 ज्येष्ठ शुक्ला नवमी का दिन था।

12. साध्वी हस्तुजी (चीवरा) (209)

साध्वी हस्तुजी का ससुराल चीवरा (मेवाड) के श्रीमाल परिवार में था। उनका पीहर ताल (लसाणी) के माण्डोत परिवार में था। पति के वियोग से उनके मन में वैराग्य पैदा हुआ और सं. 1900 फाल्गुन शुक्ला आठम को तृतीयाचार्यश्री रायचंदजी के पावन चरणों में चारित्र स्वीकार किया। साध्वी हस्तुजी साध्वी दीपांजी (90) की कौटुम्बिक पक्ष से भतीजी थी।

साध्वी हस्तुजी उग्रतपस्विनी साध्वी थी। उन्होंने सं. 1909 में साध्वी दीपांजी के पास आछ आगार से 130 दिन की तपस्या की। वह उस समय लम्बी तपस्या करने वाली पहली साध्वी थी। जयाचार्यश्री ने लिखा –

नवकां तांई न हुई रे, आर्य्या मांहै सार।
पवर एक सौ तीस नो रे, तप हस्तु अधिकार।।

संवत 1912 में उनका चातुर्मास पुर था। वहां उन्होंने आछ के आगार से 193 दिन की तपस्या की। उस तपस्या का जयाचार्यप्रवर ने अपने हाथ से पारणा कराया। यह तपस्या भी उस समय में एक कीर्तिमान थी। यह कीर्तिमान 66 वर्ष तक रहा।

अष्टमाचार्यश्री कालूगणी के युग में साध्वी मुखांजी सुजानगढ ने आछ आगार से 267 दिन का तप कर उसे तोड़ा और नया कीर्तिमान बनाया।

तेरापंथ द्विशताब्दी के ऐतिहासिक अवसर पर आचार्यश्री तुलसी के शासनकाल में साध्वी भूरांजी मंदारिया ने सं. 2016–17 में आछ आगार से 336 दिन (बारह मासी–यदि अठाइस दिन का एक महीना मानें तो) का तप करके आश्चर्यजनक कीर्तिमान बना लिया, जो आज तक बना हुआ है।

साध्वी हस्तुजी की तप तालिका –

मासखमण – बहुत बार (संख्या उपलब्ध नहीं है।)

37 दिन	1
45 दिन	1
60 दिन	1
130 दिन	1
193 दिन	1

सं. 1912 में 193 दिन की तपस्या के पारणे के पश्चात वे अस्वस्थ हो गईं। पारणा माघ महीने में किया और बैशाख महीने में दिवंगत हो गई।

13. साध्वी उमेदांजी (फलौदी) (216)

साध्वी उमेदांजी फलौदी के सुप्रसिद्ध ढड्ढा परिवार की पुत्रवधू और वहीं के बैद परिवार की पुत्री थी। उनके पति का नाम पीरदानजी था। सं.1890 में उन्होंने सरदारसती के चरणों में बैठकर श्रावक के बारह व्रत समझे और स्वीकार किए।

सं. 1894 में उनके पति का देहान्त हो गया, फिर भी उन्होंने आर्त्तध्यान न करके धार्मिक मनोवृत्ति का परिचय दिया। वे दु:ख के समय को निरन्तर सामायिक, स्वाध्याय, जप आदि में व्यतीत करने का प्रयास करती और समय-समय पर उपवास आदि तपस्या के द्वारा अपनी आत्मा को भावित करती। आध्यात्मिक उपक्रमों से अपनी वैराग्य भावना को पोषण देते देते चारित्र ग्रहण करने की उनकी भावना ने बल पकड़ लिया। वे दीक्षा लेने के लिए समुद्यत हो गईं।

उमेदांजी का सौभाग्य था कि उनके सपनों को आकार देने के लिए विधाता के रूप में स्वयं महासती सरदारांजी का फलौदी में आगमन हुआ। महासतीजी की पावन प्रेरणा और साध्वियों के सम्पर्क से उमेदांजी की भावना अत्यधिक प्रबल हो गई। उन्होंने अपने परिजनों से अनुमति ली और महासती सरदारांजी के सामने अपने अन्त:करण की भावना को अभिव्यक्ति दी। महासतीजी ने वैराग्य को कसौटी पर कसा और समुचित परीक्षण के बाद उसी प्रवास में सं. 1901 पोष शुक्ला 3 को फलौदी में उन्हें भागवती दीक्षा प्रदान की। संभवत: महासती सरदारांजी के कर-कमलों से दीक्षित होने वाली साध्वियों में साध्वी उमेदांजी प्रथम साध्वी थी, वे साध्वी प्रमुखा के गांव की और उन्हीं के गोत्र ढड्ढा परिवार की थी। साध्वी प्रमुखा ने भी पहली दीक्षा अपने ससुराल में दी, यह भी उल्लेखनीय है।

साध्वी उमेदांजी को दीक्षित होते ही महासती सरदारांजी की शुभ सन्निधि मिली। उन्होंने साधु चर्या के प्रशिक्षण के साथ-साथ साध्वोचित गुणों का विकास किया। वे सेवाभावी, विनम्र और सरल साध्वी थी। वे महासती सरदारांजी की सेवा वैयावृत्य में बहुत जागरूक थी और उत्साह के साथ वे हर काम करती थी। इंगित की आराधना में सदैव तत्पर रहती थी, इसलिए संघ में उनका अच्छा सम्मान था। जब जयाचार्यश्री ने साध्वी सरदारांजी को 1910 में प्रमुख साध्वी के रूप में नियुक्त किया तब से महासती सरदारांजी के चातुर्मास जयाचार्य के साथ होने लगे। साध्वी उमेदांजी को भी उनकी कृपा से गुरु सान्निध्य का अवसर मिलने लगा। वे साधु-साध्वियों के लिए औषधि की व्यवस्था करने में बहुत कुशल थी और जिनको जिस औषधि की अपेक्षा होती, प्रयत्न पूर्वक उनको

उत्साह पूर्वक लाकर देती। एक ओर सेवा कर कर्म निर्जरा का महान लक्ष्य उनके सामने था तो दूसरी ओर साधु-साध्वियों को मानसिक तथा शारीरिक साता पहुंचाने में वे बड़ी योगभूत बनती। ऐसी महान सेवा कोई आत्मार्थी पुरुषार्थी व्यक्ति ही कर सकता है।

उस समय आचार्यश्री का राजस्थान में ही अधिक विचरण होता था। वहां पानी की वैसे ही सदा कमी रहती है फिर अचित्त पानी की उपलब्धि उस समय बहुत कम होती थी। साध्वी उमेदांजी सदा यह ध्यान रखती थी कि कोई साधु-साध्वी प्यासा न रह जाए। जब भी पानी कम मिलता, आसपास के गावों में जाकर यदि वहां पानी उपलब्ध होता तो वे लेकर आती और पूर्ति करती। समय पर स्वयं नहीं जा सकती तो सतियों से मंगाती। इस प्रकार सेवा का यह कार्य उन्होंने एक दो बार नहीं, वर्षों तक किया। स्वयं जयाचार्यश्री ने उसे अभिव्यक्ति देते हुए लिखा है -

संत अनै सतियां तणी सखर साचवै सेव।
औषध भैसज आण दै अलगो तज अहमेव
उदक तणी तो आकरी सारै सेव सवाय।
रखै कोई तसियो रहै चटक अधिक चित मांय॥

गाम अनै परगांव थी, उदक समापै आण।
वली अन्य पास मंगाय लै, एह हवालो जाण॥
इम बहु वरसां लग लियो दान धर्म नो लाभ।
शील शिरोमणी झूलती, अधिकी गण में आब॥

गुण.व.ढा.1.गा.8,13,14,15

वे जीवनभर महासती सरदारांजी की सेवा का लाभ उठाती रहीं और कठोर परिश्रम कर संघ सेवा करती रहीं। साधु साध्वियों में भी उनके गुणों की मधुर सुवास थी। वे साथ वाली साध्वियों के लिए साताकारी थी, इसलिए सब उन्हें हार्दिक भाव से चाहते थे। उसी का उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है-

वि.सं. 1925 में जयाचार्यश्री का चातुर्मास जोधपुर में था। यह साध्वी उमेदांजी का अन्तिम चातुर्मास था। वहां उनके एक पैर में भंयकर पीड़ा हुई जिससे वे विहार करने में अक्षम हो गई। चातुर्मास की सम्पन्नता के बाद साध्वियां उन्हें अपने कंधों पर उठाकर जोधपुर से पीपाड़, लोटोती, आणंदपुर, पादू, इंड़वा, बाजोली, चांदारूण, छोटी खाटू होते हुए लाडनूँ पहुंची। वहां जयाचार्यश्री के बड़बन्धव मुनि श्री स्वरूपचंदजी स्वामी स्थिरवासी

थे। उनके दर्शनकर वे बहुत आनन्दित हुई।

लाडनूँ से जयाचार्यश्री सुजानगढ़ होते हुए बीदासर पधारे, साध्वियां उन्हें सुजानगढ़ से बीदासर ले गईं। पुनः लाडनूँ, सुजानगढ़ पधारे तब तक उन्हें उठाकर गुरु सेवा का अवसर देती रहीं। सचमुच! एक व्यक्ति का वजन उठाकर उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पहुंचाना कठिन कार्य है। ऐसा वे ही कर सकते हैं जिनकी संघनिष्ठा मजबूत हो अथवा यह कहा जा सकता है कि जिस समाज में सेवा भाव उत्कृष्ट होता है, वहीं ऐसा संभव है।

सुजानगढ़ में जयाचार्यश्री की पावन उपस्थिति में साध्वी उमेदांजी ने कृतज्ञता के स्वरों में कहा- गुरुदेव! आपके तथा महासती सरदारांजी के महान अनुग्रह से साध्वियां मुझे 105 कोश लगभग उठाकर लाई हैं। यहां आने के बाद मुझे ऐसा लग रहा है जैसे मैं नन्दन-वन में आ गई हूँ पर मैं यह कहूंगी कि सतियों ने मुझे नन्दन वन में लाकर रख दिया है।

महासती सरदारांजी ने पहले दिन से लेकर अन्त समय तक आध्यात्मिक सहयोग दिया और मानसिक समाधि दी। अन्तिम समय में उनको दस्त की बीमारी हो गई। फिर भी सजग सावधान रहती हुई वे जप में तल्लीन रहती थी। चैत्र शुक्ला 10 के दिन जयाचार्यश्री ने उन्हें दर्शन देकर महाव्रतों का पुनरावर्तन कराया और भावधारा को दृढ़ किया। साध्वी उमेदांजी ने आत्मलोचन कर सब प्राणियों से क्षमा याचना की और सागारी अनशन के लिए महासती सरदारांजी को निवेदन किया। अवसर देखकर महासतीजी ने उन्हें सागारी अनशन करा दिया।

साध्वी उमेदांजी ने महासती सरदारांजी की ओर देखकर पूछा- अब मेरे पंडित मरण प्राप्त करने में कितना समय है? नाड़ी ने अपना स्थान छोड़ा या नहीं?

महासती सरदारांजी ने नाड़ी देखी। उन्हें लगा कि अब अधिक समय नहीं है। नाड़ी घर छोड़ रही है। लगभग एक प्रहर सागारी अनशन में उनका स्वर्गवास हो गया। 24 वर्ष तक संयम साधना कर साध्वी उमेदांजी अपनी विशिष्ट सेवा भावना से संघ में विख्यात हो गईं।

14. साध्वी रंभाजी (पदराड़ा) (220)

साध्वी रंभाजी की ससुराल पदराड़ा (मेवाड़) के खोखावत और पीहर सायरा के सोलंकी परिवार में था। उन्होंने पति वियोग के बाद सं. 1901 में ज्येष्ठ शुक्ला 12 को मुनि जीवराजजी के द्वारा पदराड़ा में दीक्षा स्वीकार की।

साध्वी रंभाजी ने साध्वाचार की अनुपालना के साथ तपाचार में विशिष्ट पहचान बनाई। उन्होंने संयम साधना के साथ घोर तपस्या कर कीर्तिमान स्थापित किया। उनकी तपस्या के आश्चर्यजनक लम्बे–चौड़े आंकडे इस प्रकार है –

दो	15	पन्द्रह	1
तीन	10	सौलह	1
चार	20	इक्कीस	1
छह	16	अट्ठाइस	1
आठ	5	इकतीस	1
नौ	7		
दस	2		

यह सारी तपस्या पानी के आधार पर की है।

सात	1	बाइस	1	
दस	2	उनतीस	1	
ग्यारह	1	तीस	2	
तेरह	1	इकतीस	1	
चौदह	1	छयालीस	1	
पन्द्रह	2	तिरेपन	1	
अठारह	1	तिरेसठ	1	
उन्नीस	1	एक सौ बंयालीस	1	
बीस	1	छह मासी	180 दिन	1
		साधिक सवा छमासी	191 दिन	1
		साढे छमासी	195 दिन	1

उपरोक्त सारा तप आछ और पानी दोनों के आधार पर किया गया।

विशेष उल्लेखनीय बात यह रही कि सं. 1912 में छमासी तप उन्होंने पहुना

में किया तब जयाचार्यश्री ने वहां पधारकर पारणा कराया। उन्होंने साढे छहमासी तपस्या दौलतगढ में की सं. 1943 में। उस समय पंचमाचार्य मघवागणी वहां पधारे और माघसुदी 2 को अपने हाथ से पारणा कराया।

15. साध्वी किस्तूरांजी (मांडा) (227)

मारवाड़ का एक छोटा-सा गांव मांडा। उस गांव की अनेक होनहार साध्वियां तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षित हुईं - जिनमें एक नाम है साध्वी किस्तूरांजी। उनका जन्म सं. 1886 की कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को अर्द्धरात्रि में हुआ। उन्होंने सोलह वर्ष की अविवाहित अवस्था में सगाई छोड़कर 1902 में फाल्गुन कृष्णा तीज को तृतीयाचार्य रायचंदजी के कर-कमलों से संयम स्वीकार किया। वे आचार्य श्री ऋषिरायजी के युग में दीक्षित होने वाली दसवीं कुमारी कन्या थीं। उनकी दीक्षा फूल्यां गांव में हुई। उसी तथ्य की पुष्टि आचार्य तुलसी द्वारा लिखित डालिम चरित्र के निम्न पद्य से होती है -

मांढा री बसणार, दीक्षित श्री ऋषिराय-कर।
कस्तूरा सुकुमार, उगणीसै दो कै समे॥

दीक्षित होते ही साधुचर्या का जागरूकता से पालन करती हुई वे ज्ञानार्जन करने लगीं। उन्होंने सूत्रों की अच्छी धारणा की और व्याख्यानादिक कला में अच्छी प्रगति की। उनका बाह्य व्यक्तित्व प्रभावशाली था या नहीं, अज्ञात है पर उनका कर्तृत्व प्रभावशाली था, यह निर्विवाद है। डालिम चरित्र में आचार्य तुलसी ने प्रभावक प्रस्तुति देते हुए लिखा है -

गुरु भक्ता सुविनीत, तपसण व्याख्यानी प्रवर।
दृढतर निर्मल नीत, धाड़फाड़ श्रमणी सुघड़॥

इससे स्पष्ट है कि श्रेष्ठ व्याख्यानी होने के साथ उनमें विनम्रता अद्‌भुत थी, गुरु के प्रति अनन्य भक्ति थी, वे तपस्या में रुचि रखने वाली साध्वी थी। वे नीतिमान थीं, उनके व्यवहार में निर्मलता का बिम्ब था। साहसी और चतुर थीं।

सं. 1926वें फाल्गुन शुक्ला 11 को लाडनूँ में जयाचार्यश्री के निर्देशानुसार सरदारसती ने एक रात्रि में 23 सिंघाड़ें बनाए, उनमें एक साध्वी किस्तूरांजी का है। उससे सम्बन्धित लेखपत्र में उनके हस्ताक्षर भी है। डालिम चरित्र में खण्ड 2 ढाल 2 के चौथे सोरठे में आचार्य तुलसी ने उनके सन्दर्भ में लिखा है -

'सिंघाड़ो सुखकार, अठाईसै जय करयो'

उक्त प्रमाणों से पुष्ट है कि उनका सिंघाड़ा संवत् 1926 में हुआ। अतः उक्त पद्य में

'छाई सै जयगणि करयो'..... होना चाहिए। अग्रगामी बनने के पश्चात् अनेक क्षेत्रों में विचर कर उन्होंने लोगों को धार्मिक जीवन जीने की प्रेरणा दी। अनेक व्यक्तियों को गुरु धारणा करवा कर तेरापंथ को विस्तार दिया। अनेक व्यक्तियों को सुलभ बोधि बनाया। ख्यात में लिखा है कि उनका सिंघाड़ा बड़ा प्रभावशाली था।

सं. 1942 में वे लाडनूँ सेवाकेन्द्र में नियुक्त थीं। एक दिन सन्ध्या के समय वे रावतमलजी गोलेछा को दर्शन देने गई। गोलेछाजी ने दर्शन कर संथारा कराने का निवेदन किया। पहले तो साध्वीजी ने संथारे की कठिनता प्रस्तुत की पर अति आग्रह करने पर तथा गोलेछाजी का दृढ़ मनोबल, उत्कट भावना देख संथारा करवा दिया और कहा- रावतमलजी दर्शन करना। उन्होंने स्वीकृति देते हुए कहा- तहत (ठीक)। साध्वीजी स्थान पर वापिस पहुंची ही नहीं थी कि उनका स्वर्गवास हो गया। सुबह प्रतिक्रमण के समय से पांच सात मिनिट पहले वे जैसी वेशभूषा रखते (पगड़ी, अंगरखी, धोती और चादर आदि) में आए और मत्थएण वन्दामि कहकर पूरा तिक्खुत्तो पाठ बोला। साध्वी किस्तूरांजी ने कहा- देहावसान हो गया, ऐसा सुना था..... तब उन्होंने तहत कहकर स्वीकृति दी और अदृश्य हो गए।

इस चातुर्मास के पश्चात उन्होंने जोधपुर में मघवागणी के दर्शन किए। उस समय महासती गुलाबांजी अस्वस्थ थीं, उनकी सेवा का उनको अच्छा अवसर मिल गया। महासती गुलाबांजी को अन्तिम समय में अनशन उन्होंने ही कराया, ऐसा गुलाब सुजश में उल्लिखित है।

सं. 1928 में उनका चातुर्मास उदयपुर में था। चातुर्मास की सम्पन्नता के पश्चात जयपुर में उन्होंने जयाचार्यश्री के दर्शन किए। तब उन्होंने नवदीक्षित साध्वी गेंदाजी और साध्वी फूलकंवरजी को गुरु चरणों में भेंट किया। ये दोनों साध्वियाँ रूप सम्पन्न, प्रतिभा सम्पन्न और गुण सम्पन्न थी। ऐसा वर्णन 'जय छोग सुजस विलास' में किया है- साध्वी गेंदाजी साध्वी किस्तूरांजी तथा साध्वी फूलकुंवरजी की संसार पक्षीय भतीजी थी। एक साथ दो होनहार साध्वियां भेंट में प्राप्त कर आचार्य का चित्त प्रसन्न होना सहज बात थी, इससे संघ की अच्छी प्रभावना हुई।

.....हिव उदीयापुर सूं बड़ कस्तूरां आविया रे लोय
भेंटणा भारी कुंवारी किन्या दोय रे, गैयंद फूलकुंमर आ फूल-सी फूटरी रे लोय।
बालक वय में बुधवंती अति जोय रे, भतीजी नव वर्षां री लाडली गुण भरी रे लोय॥

मैं समझ गया

एक बार उदयपुर महाराणा ने बातचीत के प्रसंग में श्रावक केसरजी भंडारी से कहा- ''जैन धर्म में गप्पोड़े बहुत हैं! जैसे वहां कहा गया है कि मूली के एक टुकड़े में अनन्त जीव हैं।'' केसरजी ने महाराणा की व्यंग्योक्ति को धैर्य से सुन लिया। उस समय मौन हो गए। उत्तर नहीं दिया। उस समय साध्वी किस्तूरांजी उदयपुर में विराज रही थीं। केसरजी ने उनके सामने उक्त विषय की चर्चा की। तब साध्वी किस्तूरांजी ने कहा- जो लोग मूली के खण्ड में अनंत जीव होने को गप्प कहते हैं, वे गाय की पूंछ में तेतीस करोड़ देवता कैसे मानते हैं?

केसरजी भंडारी को साध्वीजी की तर्क अच्छी लगी। उनको उस तर्क में समाधान का प्रकाश दिखाई दिया। वे अपने घर चले गए। दूसरे दिन महाराज जब दातुन कर रहे थे तब भंडारीजी उनके सामने एक गाय की पूंछ को ऊंची-नीची कर खोज भरे अन्दाज से देखने लगे। महाराणा ने तत्काल उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा- केसर! आज बच्चों की तरह यह क्या कर रहा है? गाय की पूंछ में क्या देख रहा है? भंडारीजी बोले- खम्मा, अन्नदाता! मैं देखता हूँ कि गाय की पूंछ के नीचे तेतीस करोड़ देवता हैं, वे कहां हैं? महाराणा को समझते देर नहीं लगी कि यह मेरी ही बात का यौक्तिक उत्तर दे रहा है। उन्होंने कहा- केसर! मैं समझ गया। मेरी शंका का निराकरण हो गया।

साध्वी किस्तूरांजी ने अपने हाथ से दस बहिनों को दीक्षित किया। उन सभी के नाम साध्वियों की ख्यात में उल्लिखित हैं।

1. साध्वी गेंदकंवरजी, उदयपुर
2. साध्वी फूलांजी, मांडा
3. साध्वी रतनकंवरजी, बीकानेर
4. साध्वी नोजांजी, जोधपुर
5. साध्वी सोनाजी, समदसर
6. साध्वी गीगांजी, राजपुरा
7. साध्वी कुन्नणांजी, कोशीथन
8. साध्वी गोगाजी, लाडनूँ
9. साध्वी सुजांजी, चूरू

10. साध्वी जोतांजी, उदयपुर

साध्वी किस्तूरांजी वृद्धावस्था के कारण लगभग 22 साल सं.1953 से 1975 तक जोधपुर में स्थिरवासी रही। । इन बाईस वर्षों में जोधपुर में आचार्यों के दो चातुर्मास हुए। प्रथम चातुर्मास सं. 1959 में सप्तमाचार्य डालगणी का और दूसरा चातुर्मास 1973 में अष्टमाचार्य कालूगणी का हुआ। दोनों चौमासों में साध्वीं किस्तूरांजी को आचार्यों के सान्निध्य का, सेवा का अच्छा लाभ मिला।

सं. 1954 पौष कृष्णा 3 के दिन लाडनूँ में डालगणी को आचार्य पद पर नियुक्त किया गया। उसकी सूचना डालगणी को जोधपुर के श्रावकों द्वारा चापासणी गांव में मिली। डालगणी वहां से जोधपुर पधारे तब नवनिर्वाचित आचार्यवर के दर्शन का पहला मौका साध्वी किस्तूरांजी को मिला। उन्होंने सर्वप्रथम सप्तमाचार्य के चरणों में श्रद्धा के साथ भेंट उपहृत कर धन्यता का अनुभव किया। इसका डालिम चरित्र में वर्णन करते हुए आचार्य तुलसी ने लिखा है –

नूतन ओघा पूंजणी, पटी चोलपट्ट धार।
डालिम श्रमणी मन रख्यो, करी भेंट स्वीकार॥

साझी भक्ति समोदमन पुलकित पुरजन अंग।
पाटै पर पाटो जच्यो अभिनव उदित उमंग॥ डालिम चरित्र खण्ड 2.ढा.2.गा.6.7.

तृतीयाचार्य श्री रायचंदजी के समय में दीक्षित साध्वीं किस्तूरांजी ने आचार्य श्री कालूगणी के शासन काल में अपनी जीवन यात्रा सम्पन्न की। उनका संयम पर्याय लगभग तिहोत्तर (73) वर्ष का रहा। इन्हें छह आचार्यों- (ऋषिराय, जयगणी, मघवागणी, माणकगणी, डालगणी और कालूगणी) की सेवा का सौभाग्य उपलब्ध हुआ तथा आचार्य भिक्षु से लेकर कालूगणी तक आठ आचार्यों के साधु साध्वियों को उन्होंने देखा। इस सन्दर्भ में माणक-महिमा में आचार्य तुलसी ने लिखा है –

हां रे कोई किस्तूरांजी चरण तिहोत्तर वर्ष जो,
अति दाठीक सती, गणी गण अनुरागिणी रे लोय।
हां रे आ तो साक्षात कीधा षट आचारज दर्श जो
महां मंगलीक सुणाती हृदय विरागिणी ई लोय॥
माणक महिमा ढा. 13 गा.14

साध्वी किस्तूरांजी श्रावक-श्राविकाओं को मंगल पाठ, जिसे हम बोल-चाल की भाषा में मांगलिक कहते हैं। बहुत विस्तार से सुनाती। कहते हैं, कभी-कभी मंगल पाठ सुनाने में वे आधा घंटा का समय लगा देती। मंगल पाठ के साथ अनेक-अनेक मंगलकारी पद्य बोलतीं। वे मंगल पाठ सुनने वालों से पहले पूछती- 'छोटा मंगलीक सुनाऊं या महामंगलीक सुनाऊं। सुनने वालों के पास समय होता तो महामंगलीक सुनाती अन्यथा केवल मंगल पाठ सुना देती।'

उनकी तपस्या में बड़ी रुचि थी पर उनकी ख्यात में तपस्या बहुत कम लिखी हुई है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने तपस्या बहुत की पर तपस्या का पूरा विवरण उपलब्ध नहीं हुआ।

साध्वी किस्तूरांजी संघ-संघपति के प्रति समर्पित और आचारनिष्ठ साध्वी थी। उन पर आचार्यों की अच्छी कृपा थी। आचार्य मघवागणी ने उनकी सेवाओं का मूल्यांकन करते हुए उन्हें समुच्चय का बोझ बक्सीस किया। तेरापंथ संघ की परम्परा के अनुसार उस समय प्रत्येक साधु-साध्वी को राज का वजन विहार के समय उठाना पड़ता था।

सप्तमाचार्य डालगणी ने उनको पांच हजार गाथाओं से पुरस्कृत किया।

सं. 1975 मृगसर बदि 12 को जोधपुर में साध्वी किस्तूरांजी का स्वर्गवास हुआ। साध्वी विवरणिका के अनुसार उन्होंने अन्त में अनशन किया और तेरह प्रहर के अनशन में वे स्वर्गवासी हुईं।

16. साध्वीप्रमुखाश्री नवलांजी (पाली) (240)

साध्वी नवलांजी का जन्म पश्चिम राजस्थान के मारवाड़ जंक्शन जिले के रामसिंहजी के गुडा नामक गांव में सं. 1885 में हुआ। रामसिंहजी का गुडा ठाकुर रामसिंहजी ने बसाया। वे जोजावर में रहते थे। वे वहां से नाराज होकर नया मुकाम खोजने निकले, रास्ते में उनके साथ एक चौधरी हो गया। ठाकुर घोड़े पर सवार थे और चौधरी बेलगाड़ी पर घासपूस लेकर जा रहा था। चलते चलते अचानक चौधरी का साफा एक खेजड़ी से अटक गया, बैल वहीं रूक गए और गाड़ी उलट गई। बैलों को आगे बढ़ते न देखकर ठाकुर रामसिंहजी घोड़े से उतरे और वहीं छड़ी रौप दी और वहीं गांव बसाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। कहते हैं कि उसी समय उस चौधरी भाई ने कहा – बापजी! आप तो यहीं बसो आपके एक के इक्कीस होंगे और चौधरी की बेलगाड़ी यहां उलट गई इसलिए इस गांव में जाट/चौधरी कभी नहीं पनपेंगे। वह खेजड़ी गांव के बाहर फलसे पर ज्यों की त्यों सुरक्षित है। ठाकुर साहब का परिवार सम्पन्नता के साथ आबाद है और उस गांव में बसने वाले सेठ साहूकार भी अपनी प्रतिष्ठा और सम्पन्नता के साथ गांव की गरिमा बढ़ा रहे हैं पर वहां चौधरी/जाट नाम का एक भी परिवार नहीं है ऐसा कहा जाता है। उसी गांव को हवेलियों वाला गुडा भी कहते हैं। कांठा प्रांत में सर्वप्रथम हवेलियों का निर्माण रामसिंहजी का गुडा में हुआ और एक साथ चार हवेलियां बनीं इसलिए हवेलियों का गुडा नाम पड़ गया।

नवलांजी के पिता का नाम कुशालचंदजी गोलछा तथा माता का नाम चन्दनाजी था।

उनका गोत्र कहीं गोलछा और कहीं गादिया – दोनों मिलते हैं। इसके पीछे कारण अज्ञात है पर आज उस परिवार की पहचान गादिया गोत्र से ही होती है। जयाचार्य रचित गुण वर्णन ढाल में लिखा है –

गुडै शहर में जलम आपरो, जात गोलछा जाण।
पिता कुशालजी मां चनणादे उर में उपन्या आण।।

मरूधर प्रदेश की परम्परा के अनुसार बाल्यावस्था में उनका विवाह पाली निवासी अनोपचंदजी बाफणा के साथ हुआ। मारवाड़ में उस जमाने में लड़कियों की सगाई और शादी बहुत जल्दी होती और महिलाओं की मृत्यु दर भी यह बताती है कि उस समय किशोर/युवावस्था में लड़कियों की अधिक मृत्यु होती थी। नवलांजी भी अनोपचंदजी की दूसरी पत्नी थी। उनकी पहली पत्नी की छोटी अवस्था में मृत्यु हो गई थी। उनके पहली एक पत्नी से एक पुत्र भी था। उसकी पत्नी जिसका नाम

कुन्नणां उसने भी पतिवियोग के बाद संवत 1910 में साध्वी पन्नांजी (126) के हाथ से दीक्षा ली और तेरापंथ धर्मसंघ में उनकी पहचान साध्वी कुन्नणांजी (291) के रूप में हुई। उनका आर्या दर्शन में उल्लेख है –

कुनणा चरण उदार रे, पाली सासर बाफणा।
अनोप सुतन बहु सार रे, बहु धन तज व्रत आदरया।

इससे स्पष्ट है कि अनोपचंदजी की दो शादी हुई, नवलांजी उनकी दूसरी पत्नी थी। जिसे राजस्थानी भाषा में ल्होड़ी बहू कहते हैं। पीहर और ससुराल दोनों घर सम्पन्न थे इसलिए नवविवाहिता सुखपूर्वक जीवन–यापन कर रही थी। एक ऐसी आंधी आई कि भरी दुपहरी में नवलांजी का जीवन अंधकार से भर गया। अचानक उनके पति अनोपचंदजी सं. 1903 में काल–कवलित हो गए। उनकी शादी कब हुई? संवत महीना क्या था ? सबकुछ अज्ञात है। उनके पति भी कौन से महीने में तथा कहां स्वर्गवासी हुए, प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती। नवलांजी धैर्यवान विवेकसम्पन्न महिला थी, इसलिए उन्होंने इस वज्राघात को मनोबल के साथ सहन किया और विरह व्यथा को वैराग्य में ढालने का प्रयत्न करने लगी। संयोग वियोग की नश्वरता, सांसारिक सम्बन्धों की क्षीणता और जीवन की वास्तविकता ने उनके भीतर छिपी विरक्ति को अभिव्यक्त होने का अवसर दिया। जैन होने के नाते जैनी साध्वी बनने का संकल्प किया।

दीक्षा की भावना और वैराग्य की कसौटी

नवलांजी का पैतृक परिवार उस समय तक तेरापंथी नहीं था, अतः दीक्षा की अनुमति देने के लिए सहमत नहीं थे। इससे स्पष्ट है कि उनके ससुराल में तेरापंथ की आस्था थी। वहां नवलांजी को तेरापंथ की रीति–नीति और गतिविधि से परिचित होने का मौका मिलना स्वाभाविक था। संभवतः उसी आधार पर उन्होंने तेरापंथ में दीक्षित होने का निश्चय किया होगा। उनके माई दासजी आदि चार भाई थे और वे तीन बहनें थीं। भाइयों के मन में बहिन के प्रति अनुराग होना स्वाभाविक था। उन्होंने मोहवश दीक्षा की अनुमति देने से इन्कार कर दिया। इधर नवलांजी का संकल्प सुदृढ़ था। उन्होंने अनेक प्रकार से नवलांजी की कसौटियां की। एक दिन उन्होंने नवलांजी को एक कमरे में बन्द कर दिया। बंद करने का एक मात्र कारण था उस समय तेरापंथी साध्वियां रामसिंहजी का गुडा में प्रवास कर रही थी। भाई लोग नवलांजी को तेरापंथी साध्यिों के पास जाने से अपनी बहिन को रोकना चाहते थे। साध्वियां भिक्षा के लिए भ्रमण करती–करतीं उनके घर आई कि जिस कमरे में नवलांजी बंद थी उसके किंवाड़ अपने आप खुलकर गिर पड़े।

ज्योंहीं किंवाड़ खुले परिवार के सभी सदस्य आश्चर्यचकित से हो गए। उनके लिए यह घटना एक चमत्कार थी। पूरे परिवार को इस घटना ने इतना अधिक प्रभावित किया कि नवलांजी को दीक्षा की सरलता से अनुमति मिल गई और तेरापंथ धर्मसंघ के प्रति सबकी सहज आस्था हो गई। उस दिन के बाद ऐसा सिलसिला बना कि एक–एक कर पूरा गांव तेरापंथी बन गया। नवलांजी के परिवार की आर्थिक स्थिति सामान्य–सी थी। संयोग की बात कहें या भाग्य की नवलांजी के सबसे बड़े भाई माईदासजी ने पुरुषार्थ से इतना धनार्जन किया और उनका प्रभाव पूरे चौखले में फैला। उस परिवार के तेरापंथी बनने से उनसे प्रभावित होकर अन्य बहुत सारे परिवार तेरापंथी बने। स्वयं उन्होंने सैंकडों व्यक्तियों को तेरापंथ का दर्शन समझाकर तेरापंथी बनाया

आर्थिक सम्पन्नता के साथ उदारता भी उनमें बहुत अधिक थी इसलिए उन्होंने अनेक–अनेक व्यक्तियों को व्यापार में आगे बढ़ाने में भी सहयोग दिया। सामाजिक दृष्टि से उन्हें उस जमाने में अद्वितीय व्यक्ति माना जाता था। सामान्य किसान से लेकर धनी व्यक्तियों तक सभी के मन में उनके प्रति सम्मान और आदर के भाव थे।

दीक्षा : एक नया इतिहास

संवत 1904 चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन तेरापंथ धर्मसंघ के तृतीयाचार्यश्री रायचंदजी के कर–कमलों से पाली में दीक्षा प्राप्त की। दीक्षा लेने के पश्चात केश लुंचन की हमारी परम्परा है। उसके अनुसार जो बड़ी साध्वी होती है वह नवदीक्षिता का केश लोच करती है। आचार्यश्री ऋषिराय के निर्देश से उन्होंने प्रथम केश लोच अपने हाथ से किया और उसी दिन आचार्यवर ने उनका मान/सम्मान या गौरव बढाते हुए उन्हें अग्रगामी बना दिया। यह तेरापंथ इतिहास का दुर्लभ दस्तावेज है। गुण वर्णन ढाल में लिखा है –

समत उगणीसै वर्ष चौके, ऋषिराय गणि रै हाथ।
दीक्षा लेतां उणहीज बेलां, निज–कर स्यूं केश विख्यात।।
चरण लेतां पाण सती नो, कुर्ब बधारयो सार।
पूरण मरजी पूज परम री, कियो आंडलियो धर प्यार।।

तेरापंथ की परम्परा के अनुसार बहिर्विहार करने वाले साधु साध्वियों के वर्ग में जो प्रमुख होता है उसका सिंघाड़ा, आचार्य के साथ रहने वाले साधु साध्वियों के वर्ग का मुखिया होता है उसका साझ या मांडलिया कहलाता है। उपरोक्त पद्य में मांडलिया शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात उसी दिन उन्हें साझ का अग्रणी

बनाकर ऋषिराय ने नवल सती का सम्मान बढाने के साथ–साथ विश्वास की अभिव्यक्ति दी।

गुरु सेवा के अनमोल क्षण

तृतीयाचार्यश्री ऋषिराय की पावन सन्निधि में नवल सती को रहने का सौभाग्य तीन वर्ष मिला। इन तीन वर्षों की अवधि में नवल सती महाव्रतों की आराधना में अत्यन्त सहयोगी समिति–गुप्ति का कुशल प्रशिक्षण प्राप्त किया। साधना में अत्यन्त सजग एवं सावधान रहने वाली साध्वी के रूप में उनकी पहचान बन गई। वे अप्रमत्त भाव से आगम अध्ययन और ज्ञानार्जन में लीन थी। आगम बत्तीसी का पारायण उन्होंने बहुत छोटी अवस्था में कर लिया। वाचन के साथ–साथ सूक्ष्म रहस्यों को पकड़ने की उनमें प्रतिभा थी, इसलिए रत्नाधिक साधु साध्वियों से सुनकर तथा चर्चा के माध्यम से उन्होंने गहरी धारणाएं की। उनकी व्याख्यान शैली प्रभावक थी, गायनकला मधुर थी। उनका व्यवहार कौशल जन–जन को आकृष्ट करने वाला था। आचार्यश्री रायचंदजी की सन्निधि और सेवा में बिताए तीन साल उनके जीवन की विशिष्ट उपलब्धि का समय कहा जा सकता है।

गुरु इंगित व गुरु आज्ञा की आराधना में वे अत्यन्त निपुण थीं। संघ एवं संघपति के प्रति उनमें अटूट आस्था थी। यही कारण था कि जय–युग में होने वाले हर साथ नवल सती ने अपने आपको जोड़ा, श्रद्धा समर्पण के साथ जोड़ा और हर भाव के साथ जोड़ा।

सं. 1907 में ऋषिराय ने उन्हें बहिर्विहार में अग्रणी के रूप में विहार कराया। उन्होंने सात चातुर्मास स्वतंत्र रूप से किए। सं. 1914 में जब पुस्तकों के समर्पण का चिन्तन संघ के सामने आया। नवल सती ने सर्वप्रथम अपनी पुस्तकें सरदार सती के चरणों में भेंट की। अपना सिंघाड़ा जयाचार्य को समर्पित कर सरदार सती की नेश्राय में रहना स्वीकार किया। सब दृष्टि से योग्यता सम्पन्न साध्वी द्वारा सहजता से दूसरों के अनुशासन में रहने की स्वीकृति देना सचमुच एक दुर्लभ घटना कही जा सकती है। जयाचार्यश्री ने उनके समर्पण को विविध कोणों से परखने का प्रयत्न किया पर धीर, गंभीर, विनय और विवेक की प्रतिमूर्ति नवल सती जयाचार्य की प्रत्येक कसौटी पर खरी उतरी। प्रस्तुत प्रसंग में जयाचार्य एवं नवल सती के बीच जो वार्ता हुई उसे जयाचार्य ने आर्या–दर्शन में पद्यों के माध्यम से प्रस्तुति दी है –

चब्दां वर्ष रै माय रे, नवलांजी चिउं ठाण स्यूं।
कर जोड़ी कहै वाय रे, हूँ सरदाराजी री नेश्राय छूं।।
जय कहै परनेश्राय रे, किण कारण रहो छो तुम्हे।
मुझ आणा सुखदाय रे, सिंघाडे विचरो सुखे।।

नवल कहै नहीं चाय रे, सिंघाड़ा री मो भणी।
वर यांरी नेश्राय रे, रहिवा रा मुझ भाव छै।।
जय कहै पांती रो काम, बले पांती रो बोझ तमाम।
नित गोचरी उठणो ताय, बलि वर्तवो तसु अभिप्राय।।
ज्यांरी नेश्राय में रहणो, त्यांरा हुकम प्रमाणे वहणो।
आहार पाणी वस्त्रादिक देख, बलि अवर ही बोल अनेक।।
इम विविधपणै कहिवाय, विद बैशाख नवमी शोभाय।
बलि दशमी रै दिन प्रात जय बहुजन में कही बात।।
कर जोड़ नवल कहै वाय, आप संभलजो मुनिराय।
सिंघाडा में जाणू दुख, यांरी नेश्राय में जाणूं सुख।।
बहु हठ कर नै पाय लागी, भारी भाग्य दिशा तसुं जागी।
दुख दारिद्र हो गया दूर, पामी संपत सुख भरपूर।।

जब नवल सती ने महासती सरदारांजी की नेश्राय रहने की अपनी भावना रखते हुए जयाचार्यश्री को अपना सिंघाड़ा समर्पित किया। जयाचार्य ने सहज सरल बिना कुछ लागलपेट के पूछा – तुम स्वयं अग्रणी हो, तुम्हारी नेश्राय में साध्वियां है फिर तुम दूसरों की नेश्राय में रहने की बात क्यों सोच रही हो? मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि तुम अपनी साध्वियों के साथ सुख पूर्वक गांव, शहर, नगर में विहार करो और धर्म का प्रचार प्रसार करो।

नवल सती ने अपने अंतःकरण की विशुद्धता के साथ कहा – भंते! मेरे मन में सिंघाड़े की इच्छा नहीं है, मैं महासती सरदाराजी के श्रेष्ठ संरक्षण में रहना चाहती हूँ मेरी यही भावना है।

जयाचार्य ने स्पष्ट शब्दों में समझाते हुए बोले – साध्वीप्रमुखा सरदारांजी की नेश्राय में रहना यदि तुम स्वीकार करती हो तो, केन्द्र की रीति–नीति परम्परा के साथ तुमको रहना पड़ेगा। बहिर्विहार में जो काम तुम करो या न करो, तुम्हारी अपनी मर्जी है पर यहां वे सारे काम अनिवार्य रूप से करणीय बन जाएंगे। जैसे –

- प्रतिदिन गोचरी करनी होगी।
- महासती सरदारांजी के अभिप्रायी के सांचे में अपने आपको ढालना होगा।
- जिनकी नेश्राय में रहने की बात कर रही हो, उनके हुकम/आज्ञा के अनुसार ही सारे कार्य सम्पादित करने होंगे।

इस प्रकार वैशाख कृष्णा नवमी के दिन श्री मज्जयाचार्य और नवल सती के बीच यह महत्त्वपूर्ण बातचीत हुई। जयाचार्यश्री को लगा कि नवल सती अपनी संकल्प

की धूरी पर रहने के लिए मजबूत है। तब उन्होंने दशमी को प्रातः साधु साध्वियों के मध्य नवल सती का चिन्तन सबके सामने रखा। उसी समय साधु साध्वियों की परिषद में अत्यन्त ऋजुता और मृदुता के साथ नवल सती ने निवेदन किया – मुनिप्रवर! जिस आनन्द और सुख की अनुभूति मुझे सरदारसती की नेश्राय में उपलब्ध होगी, वह सिंघाड़े में कहां है। इस प्रकार नवल सती आग्रह पूर्वक हार्दिक भाव से श्री चरणों में अपनी बात निवेदन कर कृतकृत्य बन गई।

नवल सती को महासती सरदारांजी के संरक्षण में गुरुकुलवास में तेरह वर्ष रहने का सौभाग्य मिला। इस अवधि में गुरु–सेवा में विशेष रूप से अपने आपको नियोजित किया। उन्हें गोचरी और प्रतिलेखन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य करने का अवसर मिला। इससे स्पष्ट होता है कि नवलसती ने आचार्यवर की सेवा गोचरी, प्रतिलेखन आदि से की। गुरु सेवा में उनका उत्साह और तन्मयता विशेष उल्लेखनीय थी। जयाचार्यश्री की उन पर महती कृपा थी और कृपा दृष्टि/मर्जी उत्तरोत्तर सदा बढती ही रही। जयाचार्यश्री ने महान् अनुग्रह करके सं. 1928 में नवलसती का ससम्मान पुनः सिंघाडा किया और उन्हें बहिर्विहारी बना दिया। सं. 1928 से 1942 तक उन्होंने जहां–जहां चातुर्मास किए, धर्मसंघ की खूब प्रभावना की।

<u>नवलसती द्वारा दीक्षित साध्वियां</u>

- नवल सती ने तीन साध्वियों को अपने हाथों से दीक्षित किया। सं. 1911 में वैशाख शुक्ला 13 बागोर निवासी साध्वी लालांजी को बागोर में दीक्षा दी।
- सं. 1913 मार्गशीर्ष कृष्णा एकम के दिन साध्वी जीवूजी आमेट को आमेट में दीक्षित किया।
- सं. 1928 आसोज शुक्ला नवमी को पाली की साध्वी पन्नांजी को पाली में दीक्षा दी।

इसके अतिरिक्त सं. 1908 में जब उनका चातुर्मास रेलमगरा में था, उन्होंने बालक कालूजी तथा उनकी मां बखतूजी को दीक्षा के लिए तैयार किया। चातुर्मास के बाद में आचार्यश्री ऋषिराय के निर्देश से मुनि भवानजी ने रेलमगरा पधारकर मां बेटे को दीक्षित किया। तब साध्वी बखतूजी का प्रथम केशलोच नवलसती ने किया। मुनि कालूजी को मुनि भवानजी अपने साथ ले गए और साध्वी बखतूजी को नवल सती को सौंप दिया।

इसी प्रकार 1909 में जयाचार्यश्री ने साध्वी खेमांजी को दीक्षा देने के लिए बड़बन्धव मुनिश्री स्वरूपचंदजी को मोखुणदा भेजा, उस समय भी उनके साथ

नवल सती को भेजा। साध्वी खेमाजी का केशलोच भी उन्होंने किया।

साध्वीप्रमुखा का सम्मानपूर्ण दायित्व

सं. 1942 पौष कृष्णा नवमी के दिन साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी का स्वर्गवास हो गया। उनका स्वर्गवास जोधपुर में हुआ। वहां से पौष शुक्ल पक्ष में पंचमाचार्यश्री मघवागणी पाली शहर पधारे। उसी शुक्ल पक्ष में आचार्य मघवा ने नवलसती को साध्वीप्रमुखा का दायित्व सौंपा। यद्यपि गुलाबसती से दीक्षा पर्याय में साध्वीप्रमुखा नवलांजी बड़ी थी पर साध्वीप्रमुखा गुलाबसती पहले बनीं। मघवा सुजस में आचार्यश्री माणकगणी ने इसे इस प्रकार प्रस्तुति दी है –

तेरै रात विराजिया पाली में तिहां पूज।
अन्यमति स्वमति आवता, करता ज्ञान चरचा री बूझ।।
नवलांजी पाली तणां, सैणी घणी धीरजवान।
आचार्यां स्यू प्रीत अति, जाणी अति बुधवान।।
कृपा शुभ दृष्टि गणपति करी, सब सतियां री जाण।
सार संभाल करो तुम्हें, नवलां कर्‌यो हुकम प्रमाण।।

गुण वर्णन गीत में लिखा है –

समत उगणीसै बंयालीसै मघवागणी गुणधार।
सरब सत्यां री दी भोलावण, काम सूंप्यो श्रीकार।।

साध्वीप्रमुखा नवलांजी को सं. 1942 से सं. 1954 तक साध्वियों का प्रशासनिक दृष्टि से काम करने का अवसर मिला। इस साधिक बारह वर्षों की अवधि में उनको तीन आचार्यों की सन्निधि मिली – मघवागणी, माणकगणी और डालगणी इससे पूर्व तृतीयाचार्यश्री रायचंदजी से दीक्षा ली और जयाचार्यवर के उपपात में ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना के साथ उनकी सेवा का लाभ मिला।

पांच आचार्यों की पावन ऊर्जा से निर्मित महासती नवलांजी का व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व निश्चित ही उज्ज्वल, पवित्र और शक्ति सम्पन्न रहा होगा। उनके कृर्त्तृत्व की कहानियां हमें उपलब्ध नहीं हैं। पर गुण वर्णन गीत में उनके व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए लिखा है – इस युग में प्रवर्तिनी के समान नवल सती श्रेष्ठ साध्वी थी। उनकी क्षमता अद्‌भुत थी, समता–अपार थी, वे अनेक गुणों की सागर थी। उनमें गंभीरता, गहराई और धीरता विशेष उल्लेखनीय थी। उनका उपशम भाव विशेष प्रशस्त था, मानो क्रोध और मान पर तो उन्होंने जैसे विजय प्राप्त कर ली। अप्रमत्त जीवन शैली थी। सतत स्वाध्याय ध्यान में अपने पुरुषार्थ को समायोजित करने वाली अप्रमत्त साधिका थी। आचार्यों के इंगित की आराधना उनके जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य था। यही कारण था कि उन्होंने सभी आचार्यों का विश्वास प्राप्त किया।

विश्वास की नजीर

आचार्यश्री मघवागणी ने अपने अंतिम क्षणों में सं. 1949 फाल्गुन शुक्ला 4 को अपने युवाचार्य पद का पत्र लिखा। वह उन्होंने किन्हीं सन्तों को नहीं – साध्वीप्रमुखा नवलांजी के हाथों में सौंपा। यह मघवागणी का साध्वीप्रमुखा नवलांजी के प्रति विशेष अनुग्रह और विश्वास का प्रतीक है।

बीदासर में स्थिरवास

जब आचार्यश्री माणकगणी ने संवत 1952 का चातुर्मास अपनी जन्मभूमि जयपुर में करने पधारे। उस समय साध्वीप्रमुखा नवलांजी अस्वस्थ थीं और अस्वस्थता का प्रभाव भी उनके शरीर पर आने लगा था। अस्वस्थता और वृद्धावस्था के कारण वे जयपुर की ओर विहार नहीं कर सकी। वीरभूमि बीदासर में उन्होंने स्थिरवास कर लिया। सं. 1953 का चातुर्मास माणकगणिवर ने बीदासर में किया। उस विशेष अनुग्रह का उन्होंने अच्छा लाभ लिया।

डालगणी का अनुग्रह

सं. 1954 में साध्वीप्रमुखा नवलांजी बीदासर में ही प्रवास कर रही थी आचार्यश्री माणकगणी का स्वर्गवास होने पर आचार्यश्री डालगणी माघ कृष्णा द्वितीया को संघ के सातवें आचार्य बनें। उस समय साध्वीप्रमुखा की भावना थी कि आचार्यश्री बीदासर पधारे। श्रावक समाज ने साध्वीप्रमुखा को दर्शन दिराने की तथा मर्यादा महोत्सव बीदासर कराने की प्रार्थना की। सप्तमाचार्यश्री डालगणी ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर बीदासर मर्यादा महोत्सव कराकर यह महनीय कृपा साध्वीप्रमुखा नवलांजी पर की, ऐसा प्रतीत होता है। डालिम चरित्र में आचार्य तुलसी ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है

माघोत्सव उण बरस रो, कियो शहर बीदाण।
नवलांजी री प्रार्थना, दियो पूज्य बहुमाण।।

उस समय मातुश्री छोगांजी और साध्वी कानकंवरजी साध्वीप्रमुखाजी की सेवा में थी। साध्वीप्रमुखा नवलांजी साध्वी कानकंवरजी की प्रतिभा, गुणग्राहकता, विवेक सम्पन्नता, कलाकुशलता, सेवाभावना एवं व्याख्यान कला से अच्छी प्रभावित थी। उन्होंने मर्यादा महोत्सव के अवसर पर डालगणी के चरणों में विशेष निवेदन करते हुए कहा – मैं चाहती हूँ कानकंवरजी को मेरे सामने अग्रगामी बनाएं। डालगणीराज ने कृपा की और साध्वी कानकंवरजी को अग्रगामी की वन्दना कराई।

अनशन से आत्मकल्याण

सं. 1954 के कार्तिक महीने में महासती नवलांजी को बहुत तेज बुखार आया। उससे उनकी शारीरिक शक्ति अत्यधिक क्षीण हो गई और धीरे–धीरे शरीर

में कमजोरी बढने लगी। फिर भी उनका मनोबल बहुत दृढ था और सहनशीलता गजब की थी। उसी के आधार पर उन्होंने लगभग आठ महीने तक वेदना को समभाव से सहन किया। आषाढ कृष्णा 4 को उन्होंने आजीवन तिविहार अनशन स्वीकार किया और आत्मालोचन कर अपने आपको निर्मल बनाया। लगभग चार प्रहर का तिविहार अनशन के बाद चौविहार अनशन कर अपने जीवन को धन्य बना लिया। सं. 1945 आषाढ कृष्णा पंचमी को दिन के दस बजे बीदासर में साध्वीप्रमुखा नवल सती ने अंतिम सांस ली। उनकी संयम पर्याय लगभग आधी सदी अर्थात पचास वर्ष का रही।

साध्वीप्रमुखा नवलांजी ने 26 चातुर्मास गुरुकुलवास में किए और 24 चातुर्मास अलग किए। उन्होंने

3 चातुर्मास तृतीयाचार्यश्री की सन्निधि में किए।

13 चातुर्मास जयाचार्यश्री की सेवा में बिताए

7 चातुर्मास मघवागणी के सान्निध्य में किए

3 चातुर्मास माणकगणी के उपपात में किए।

यद्यपि डालगणी को सप्तमाचार्य के रूप देखकर वे अपनी आंखों को तृप्त कर चुकी थी। इस प्रकार पांचआचार्यों का युग देखने वाली वे विरल साध्वीप्रमुखा थी। आचार्यश्री तुलसी ने उनके विषय में गीत लिखा है जो उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को उजागर करता है –

<u>लावणी</u>

साध्वीप्रमुखा श्री नौलाजी।
जीती निज जीवन री बाजी।।

1. जनमी अट्ठारै पिच्यासी,
छुटपन में पाली परणाई।
उगणीसै दो में पति–वियोग,
चौके मोकै संयम पाई।
अपणै हाथां शिर–केश लिया,
उण ही दिन गुरुवर साझ कियो।
जाणी स्याणी अति होनहार,
ऋषिराय स्वयं सम्मान दियो।
सारां री है रग रग राजी,
साध्वीप्रमुखा श्री नौलाजी।।

2. जैनागम बत्तीसी बांची,
झीणी–झीणी रेसां खांची।
ही राग सुरीली कण्ठ कला,
केवल कहणै री ही अबला।
वर्षां लग अगवाणी विचरी,
इतिहासिक कृति में पहल करी।
पोथ्यां सिंघाड़ै री सतियां,
गुरु–चरण समर्पण वृत्ति वरी।
संघीय भावना है साझी।
साध्वीप्रमुखा श्री नौलाजी।।

3. संवत चौदह स्यूं सत्ताई
तेरह वर्षां लग एकधार।
जयगणि पासे गुरुकुल वासे,
सरदार सती री सीख धार।
अब विचरी फिर सिंघाडबन्ध,
गुरु–आज्ञा इंगित रै स्हारै।
महासती गुलाबां रै लारै,
मघवा गुरुवर शुभ दृग् डारै।
बंयालीसै छिति पे छाजी
साध्वीप्रमुखा श्री नौलाजी

4. बंयालीसै स्यूं पचपन लग,
अग्रणी वर्ष साढ़ी बारा।
मघवा माणक अरु डालगणी
देख्यां तीनां रा बरतारा।
कुल मिला पांच आचार्यां की
इकसरखी करूणा दृष्टि रही।
सरदार गुलाबां जेठां कान
कंवर स्यूं वर सम्बन्ध वही।
छोटी मोटी सतियां सारी,
मानी वत्सलता में माजी,

साध्वीप्रमुखा श्री नौलाजी।

5. बीदासर में स्थिरवास वसी
बावन तेपन चौपन वर्षे।
धुर माघ महोत्सव डालगणी,
श्रमणी हित कीन्हो उत्कर्षे।
आषाढ कृष्ण पांचम दिवसे,
गहरे नव पहरे संथारे।
अति उत्तम पण्डित मरण लह्यो,
'तुलसी' जन जन मुख जयकारे।
सारी उम्मर श्रमणी पाई
उणसित्तर वर्षा स्यू जाझी।
साध्वीप्रमुखा श्री नौलांजी।।

17. साध्वी सुन्दरजी (नाथद्वारा) (264)

साध्वी सुन्दरजी राजनगर के मादरेचा परिवार की पुत्री और नाथद्वारा के तलेसरा परिवार की पुत्रवधु थीं। पति के दिवंगत होने के बाद महासती दीपांजी (90) के हाथ से नाथद्वारा में संयम ग्रहण किया। वे वीर मनोवृत्ति की साध्वी थी। उत्कट तपस्या के साथ सर्दी–गर्मी को वीरता से सहन करने की अदम्य शक्ति उस वीरांगना में थी। त्याग वैराग्यमय जीवन में उत्कृष्ट तपः साधना का योग अद्‌भुत और विलक्षण था। तपस्या का लेखा जोखा इस प्रकार है –

घोर तपस्विनी

उपवास	–	423	पन्द्रह	–	5
बेला	–	26	सोलह	–	1
तेला	–	35	अठारह	–	1
चौला	–	33	पचीस	–	1
पंचोला	–	8	अठाइस	–	1
छह	–	1	तीस	–	8
सात	–	3	तेंतीस	–	1
आठ	–	1	पेंतालीस	–	1
नव	–	4	चौमासी	–	1
दस	–	2	एक सौ सत्तावन	–	1
बारह	–	1	एक सौ अस्सी (छमासी)	–	3
तेरह	–	1			
चौदह	–	1	एक सौ चौरासी	–	1

इसके अतिरिक्त उन्होंने साढे पांच महीने एकांतर, अनेक बार अढाई–सौ पचक्खाण और सौ बार दस पचक्खाण कर कीर्तिमान स्थापित किया। आर्या दर्शन गीत के अनुसार उन्होंने संवत 1912 में 60 दिन अर्थात दो मासी तप किया। ख्यात में इसका उल्लेख नहीं है। एक सौ सत्तावन दिन की तपस्या का पारणा जयाचार्यश्री की पावन सन्निधि में करने का अवसर मिला। एक सौ चौरासी दिन तप यानि सवा छमासी तप का पारणा उन्होंने रेलमगरा में किया। चातुर्मास के पश्चात पंचमाचार्यश्री मघवा वहां पधारे और उनके सान्निध्य में पारणे का सौभाग्य मिला।

परीषहजयी

साध्वी सुन्दरजी ने लगातार 39 वर्ष तक शीतकाल में दो महीने पौष माघ की रात्रि में शीत सहन किया। एक पछेवड़ी – सोलह हाथ कपड़े से अधिक कपड़ा पहनने ओढने के काम में नहीं लिया। इस प्रकार तपोमूर्ति साध्वी सुन्दरजी घोर तप एवं शीतपरीषह सहनकर महान निर्जरा की मिसाल कायम की। भयंकर ठण्ड में नीन्द न आने पर वे स्वाध्याय, ध्यान और जप के उपक्रम में तल्लीन बन जाती।

शीत सहना भी तपस्या है

हमारी संघीय परम्परा के अनुसार – शीत सहन करते समय साधक (साधु) यदि आठ, पन्द्रह और तेईस हाथ से अधिक कपड़ा उपयोग में नहीं लेता तो क्रमशः तेला, बेला और उपवास की निर्जरा का लाभ प्राप्त करता है।

इसी प्रकार साध्वियां – पन्द्रह, तेईस, तीस और अड़तीस हाथ से अधिक कपड़ा पहनने ओढने के उपयोग में नहीं लेती तो क्रमशः चोला, तेला, बेला और उपवास का फल होता है। यदि किसी साधु साध्वी को बेले–तेले चौले का प्रायश्चित्त आया हो तो इस प्रकार शीत सहन कर प्रायश्चित्त उतारने की भी परम्परा हमारे संघ में रही है।

18. साध्वी बगतूजी (रेलमगरा) (266)

साध्वी बगतूजी रेलमगरा (मेवाड़) वासिनी सरावगी परिवार से थीं। ये बड़े कालूजी स्वामी की संसारपक्षीया माता थी।

सं. 1908 में साध्वी नवलांजी पाली (240) का चातुर्मास रेलमगरा था। उस समय बगतूजी और उनका पुत्र कालू दो व्यक्ति ही अपने घर में थे। बगतूजी की प्रकृति बड़ी उग्र थी। साधु साध्वियों से उन्हें लगाव नहीं के बराबर था, इससे उनके साथ सम्पर्क बिलकुल कम था। वे प्रायः साधु साध्वियों की उतरती बात करने में ज्यादा रस लेती। लेकिन वे संगीत–रसिक थी। रात्रि के समय जब साधु साध्वियां व्याख्यान देते, राग रागिनी सुनने के लिए वे आती और सबसे पीछे बैठकर सुनतीं। अच्छे गायक साधु साध्वियों के मुंह से अच्छी राग सुनने के लिए उनका मन ललचा जाता। किसी दिन न आ पाती तो राग कौन सी गाई यह जानकारी अवश्य करती। आखिर गायनकला के बहाने वे नजदीक आने लगी और व्याख्यान के समय साध्वियों के साथ कण्ठ मिलाती। ऐसा करते करते मन में कब वैराग्य का बीज वपन हुआ पता ही नहीं चला। धीरे धीरे उन्होंने पुत्र कालू को भी तैयार कर लिया। उसी वर्ष सं. 1908 का आचार्यश्री रायचंदजी स्वामी का चातुर्मास उदयपुर में था। वे अपने पुत्र को लेकर उदयपुर गई, दीक्षा की प्रार्थना की।

आचार्यश्री रायचंदजी ने उनके विषय में पूरी जानकारी कर मुनि भवानजी (120) बड़ा को दीक्षा देने का आदेश दिया। मुनि भवानजी चातुर्मास सम्पन्न होने के बाद रेलमगरा पहुंचे और बगतूजी को तथा उनके नववर्षीय पुत्र कालूजी को दीक्षा दी। नव–दीक्षिता साध्वी बगतूजी को साध्वी नवलांजी को सौंपा और बालमुनि कालूजी को अपने साथ लेकर विहार कर दिया। सं. 1908 मिगसर कृष्णा 6 का दीक्षा दिन था।

साध्वी बगतूजी ने मात्र साधिक तेरह महीने चारित्र पालन कर सं. 1909 पौष कृष्णा 14 को पुर में 9 प्रहर के चौविहार अनशन में समाधि मरण प्राप्त किया।

जयाचार्य युग की साध्वियाँ

1. साध्वी वन्नाजी बीदासर (270)
2. " साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी (271)
3. " चांदकंवरजी बीकानेर (274)
4. " जेतांजी चितामा (277)
5. " झूमांजी सिरेवड़ी (279)
6. " गुलाबांजी लाडनू (288)
7. " लालांजी बागोर (299)
8. " मगदूजी पीपली (301)
9. " केसरजी मांडा (314)
10. " रायकंवरजी चितामा (328)
11. " साध्वीप्रमुखा जेठांजी (340)
12. " जडावांजी नाथद्वारा (347)
13. " चूनांजी रतलाम (356)
14. " भूरांजी लाडनूं (378)
15. " मोतांजी पड़िहारा (379)
16. " मानकंवरजी फलौदी (380)
17. " चांदाजी बीदासर (387)
18. " ज्ञानांजी बागौर (421)
19. " ऋद्धुजी बड़ूं (439)
20. " गंगाजी मोडा (444)
21. " सिरेकंवरजी चांदारूण (456)
22. " मगदूजी पोटला (477)
23. " जडावांजी बोरावड़ (480)

1. साध्वी वन्नाजी (बीदासर) (270)

दुनिया में सर्वोत्कृष्ट स्थान मां का है। वह केवल संतान को जन्म ही नहीं देती, उसे जीवन देती है और कुछ विरल महान माताएं ऐसी होती हैं जो अपने पुत्र रत्न को मानवता की सेवा में समर्पित कर जगंज्जननी की अभिधा को प्राप्त कर लेती है। ऐसी ही भाग्यशालिनी रत्नकुक्षि की धारिणी मां वन्नाजी थी जिन्होंने वीतरागकल्प आचार्य मघवा और साध्वीप्रमुखा गुलाबां को तेरापंथ धर्मसंघ को समर्पित किया। स्वयं ने चारित्र के राजपथ पर चरणन्यास कर गुरु–जननी के महान विरुद को प्राप्त किया। तेरापंथ की आचार्य–परम्परा में अनेक आचार्यों की माताओं ने संयम रत्न प्राप्तकर आत्म कल्याण किया, उनमें साध्वी वन्नाजी तीसरी माता थीं। तृतीयाचार्यश्री रायचंदजी की माता साध्वी कुशालांजी, चतुर्थ आचार्य जीतमलजी (जयाचार्यश्री) की मां कल्लूजी हुई।

साध्वी वन्नाजी का पितृगृह–चूरु (राजस्थान) था और ससुराल बीदासर के बेगवानी परिवार में था। उनके पति का नाम पूरणमलजी बेगवानी था। उनके पुत्र मघवा जिनका जन्म सं. 1897 तथा पुत्री का जन्म 1901 में हुआ। ऐसे भाग्यशाली पुण्यात्मा को जन्म देकर मां वन्नाजी धन्य बन गईं। पुत्री गुलाब के जन्म को कुछ ही समय बीता था कि उनके पिता पूरणमलजी का देहावसान हो गया।

कसौटी के इन क्षणों मां वन्नाजी ने जिस धैर्य, समता और सहनशीलता का परिचय दिया, वह उनकी धार्मिकता की पहचान प्रस्तुत करता है। वे बारहव्रती श्राविका थी। उनके मन में धर्म के प्रति सहज अनुराग भाव था। साधु साध्वियों की उपासना करना और व्याख्यान सुनना, उनके स्वभाव में शामिल था। वे तपस्या भी करती रहती थी। उस समय उन्होंने कर्मचूर आदि तप किया, ऐसा मघवागणी ने जयसुजस में लिखा है –

संसारलेखै मुझ मात वन्नाजी, त्यारै हुंतो पहिलां ही वैराग जी।
कर्मचूर प्रमुख तप बहुलो, कीधो धर धर्म राग जी।।
जय सुजस ढा. 34 गा. 11

वैराग्य और तप, जप की त्रिवेणी में अपने आपको अभिष्णात करती मां वन्नाजी अपने पुत्र एवं पुत्री को संस्कारित करने लगी। पालन पोषण के साथ मिले धार्मिक संस्कारों का रंग बालक मघवा और गुलाब को प्रभावित कर ही रहा था। इसी बीच उन्हें एक सहज स्वर्णिम मौका मिल गया। सं. 1907में सरदारसती का बीदासर

पधारना हुआ और वे उन्हीं के मकान में ठहरी। रात–दिन महासती सरदारांजी का पावन सान्निध्य एक ओर बिना सिखाए ही बहुत कुछ सीखने का मौका था, दूसरी ओर सरदारसती स्वयं दोनों भाई–बहिन को तत्त्वज्ञान आदि कंठस्थ कराने लगी। जिससे वैराग्य–अंकुर फलने लगा।

उस कालखण्ड में युवाचार्यश्री जय थली में विहरण कर रहे थे। सं. 1908 का चातुर्मास उन्होंने बीदासर में किया। उस चातुर्मास में प्रबल प्रेरणा की अजस्र वर्षा से वन्नाजी सहित तीनों की दीक्षा–भावना दृढ से दृढतम हो गई। दीक्षा ग्रहण करने में उस समय वन्नाजी के सामने कुछ समस्या थी। उनमें पहली बाधा यह थी कि गुलाब की अवस्था बहुत छोटी थी। जब तक दीक्षा का कल्प न आए तब तक मां वन्नाजी भी दीक्षित नहीं हो सकती थी। सबसे पहले बालक मघवा को माता वन्नाजी ने दीक्षा की अनुमति दी और सं. 1908 मृगसर कृष्णा 12 को लाड़नूं में युवाचार्यश्री जीतमलजी के कर–कमलों से दीक्षा स्वीकार की। लगभग तीन महीने के बाद गुलाबकंवर को दीक्षा का कल्प आने पर माता वन्नांजी ने पुत्री के साथ आचार्यश्री जय के हाथ से बीदासर में सं. 1908 फाल्गुन कृष्णा 6 को संयम ग्रहण किया। इस तीन महीने के अन्तराल में युवाचार्य जय आचार्य जय बन गए। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि मघवा मुनि की दीक्षा तृतीयाचार्यश्री रिषिराय के युग में हुई और साध्वी वन्नाजी और साध्वी गुलाबांजी की दीक्षा चतुर्थाचार्यश्री जय के युग में हुई। दीक्षित होने के बाद मां पुत्री–दोनों को महासती सरदाराजी के कुशल संरक्षण में रहने का मौका मिला।

साध्वी वन्नांजी जागरूकता के साथ संयम यात्रा करती हुई अपने जीवन को सुव्यवस्थित आकार देने लगी। उन्होंने सेवा और विनय भाव से साध्वी–समाज में अपना स्थान बना लिया। गुरु भक्ति और गणनिष्ठा भी उनकी उत्कृष्ट थी। गुरु सेवा का सौभाग्य उन्हें सहज रूप से प्राप्त था। उन्होंने पहला और अंतिम दो चातुर्मास के अलावा सभी चातुर्मास जयाचार्यश्री की पावन सन्निधि में किए।

उनके व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए जयाचार्य ने लिखा है –

जयगणपति पासे सीखै भणै रे, सुमति गुप्ति सुखकार।
पंच महाव्रत पालै प्रेम स्यूं रे, आणी हरष उदार।।
विनय वियावच्च विध सूं करै रे, सतगुरु नी सुवनीत।
अमल चित्त अति शासण आसता रे, निर्मल चारित्र नीं नीत।।

उनकी तपः साधना उत्कृष्ट थी। जीवन–स्वर्ण को तप की अग्नि से उन्होंने

निरन्तर निर्मल बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने उपवास, बेले, तेले इतने अधिक किए उनकी गिनती उपलब्ध नहीं। उन्होंने चोले के बाद तपस्या की वह निम्नलिखित है –

चार	–	1	तेरह	–	1
पांच	–	1	चौदह	–	1
सात	–	1	पन्द्रह	–	1
नव	–	1	अठारह	–	1
दस	–	1	इक्कीस	–	1
बारह	–	1	इकतीस	–	1

परीषह सहन करने में उनकी वीरवृत्ति थी। वे शूरवीर बनकर सर्दी–गर्मी भूख–प्यास आदि का मुकाबला करती। राजस्थान की भयंकर सर्दी में उन्होंने बहुत सर्दी सहन की। सर्दी की रात्रि में प्रायः एक पछेवड़ी के अतिरिक्त ओढ़ने का वस्त्र उपयोग में नहीं लिया। वन्नासती गुण वर्णन ढाल. 1 गा. 3 में लिखा है –

शीतकाल मांहे बहु सी खम्यो रे, एक पछेवड़ी उपरंत।
बहुतपणै करि ओढी नहीं रे, आपी हरष अत्यंत।।

साध्वी वन्नाजी ने लगभग सतरह वर्ष संयम साधना की। वे इस अवधि में गुरुकृपा का अमृत उपलब्ध करती रहीं। अपने अंगज मघवामुनि को उन्होंने संघ के युवाचार्य के रूप में अपनी आंखों से निहारकर वे धन्य बन गई। अपनी सुता साध्वी गुलाबांजी का प्रगतिशील व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को देख अत्यन्त आत्मतोष का अनुभव करती। गुलाब सती पर अनहद गुरुकृपा थी। उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। ऐसी भगिनी भ्राता की अद्‌भुत जोड़ी संघ का सौभाग्य था।

मातृऋण से मुक्त बनने का अवसर

सं. 1925 द्वितीय वैशाख महीने के कृष्ण पक्ष में साध्वी वन्नाजी अस्वस्थ हो गईं। उनको भोजन के प्रति अरूचि हो गई। उन दिनों जयाचार्यश्री थली में ही विचरण कर रहे थे। जब साध्वी वन्नांजी की अस्वस्थता का संवाद जयाचार्यवर को मिला तो उन्हें दर्शन देने हेतु लाडनूं पधारे। युवाचार्यश्री मघवा तो साथ में थे ही। उनको एक साथ आचार्यश्री जय युवाचार्यश्री मघवा, मुनि स्वरूपचंदजी, साध्वीप्रमुखा सरदारांजी एवं साध्वी गुलाबांजी का दुर्लभ योग मिला। जयाचार्यवर ने आध्यात्मिक प्रेरणा से उनके भावों को ऊंचाई देने का प्रयत्न किया। युवाचार्यवर ने भी मातृऋण

से उऋण होने वाले इस अवसर का खूब लाभ उठाया। स्वाध्याय ध्यान, जप, आलोयणा एवं महाव्रतों का पुनरावर्तन आदि उपक्रमों के माध्यम से सभी ने सहयोग दिया। साध्वी वन्नाजी ने सरल भाव से क्षमायाचना कर, आलोयणा कर अपनी आत्मा को निशल्य बना लिया। सं. 1925 वैशाख (द्वितीय) कृष्णा 13 संध्या समय उन्हें आजीवन सागारी अनशन कराया और 14 को रात्रि के पश्चिम प्रहर में उनका स्वर्गवास हो गया। अनशन का प्रत्याख्यान अच्छी तरह उच्चारण कर किया।

जयाचार्यश्री ने साध्वी वन्नाजी के विषय में दिवंगत होने के तीन दिन बाद एक गीत बनाया, जिसमें प्रमोद भावना के साथ उनकी गुणोत्कीर्तना की गई है। मघवागणी ने वन्ना सती के जीवन चरित्र के रूप में 'वन्ना सती' चौढालिया की रचना की ऐसा जय सुजस में उल्लेख है पर वह आज उपलब्ध नहीं है।

2. साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी (बीदासर) (271)

जन्म : जन्मभूमि और परिवार

तेरापंथ धर्मसंघ की दूसरी साध्वीप्रमुखा बनने का सौभाग्य साध्वी गुलाबांजी को मिला। जिनकी गुलाब सती के रूप में व्यापक पहचान है। पंचमाचार्यश्री वीतरागकल मघवागणी की सहोदरी सरस्वती स्वरूपा गुलाब सती एक विलक्षण साध्वी थी। महासती गुलाबांजी की जन्म भूमि का गौरव मिला वीरप्रसूता बीदासर की धरती को। बीदासर एक ऐसा गांव जहां के लोग आन बान और शान को प्राणों से अधिक महत्व देते हैं। वहां का राठौड़ी मिजाज उनकी अपनी खास पहचान है।

विक्रम की बीसवीं शताब्दी के शुभारंभ में सं. 1901 कार्तिक शुक्ला पक्ष में बेगवाणी परिवार में एक कली खिली, जिसका नाम रखा गया – गुलाब। उनके पिता का नाम पूरणमलजी और माता का वन्नांजी था। इकलौते ज्येष्ठ भ्राता मघराज अवस्था में लगभग चार वर्ष बड़े थे। दोनों बहन भाई की ऐसी अनुपम जोड़ी जब भी आंगन में किलकारी करती, मां का मन अतिरिक्त आह्लाद से भर जाता। स्वस्थ सुन्दर संतान घर आंगन की शोभा को शतगुणित कर रहे थे। सब विध सुख और शान्ति के वातावरण में एक अन्धड़ का झोंका आया और पिताश्री पूरणमलजी काल कवलित हो गए। माता वन्नांजी ने बड़े साहस और हिम्मत के साथ मां बाप – दोनों का दायित्व ओढा और पुत्र पुत्री का पालन पोषण कुशलता से किया। मां वन्नांजी सहज धार्मिक तपस्या में रूचि रखने वाली श्राविका थी। समय–समय पर वे अपने बच्चों को भी धार्मिक संस्कार देने का प्रयत्न करतीं। पुण्यवान के पग–पग पर निधान होता है – इस कहावत के अनुसार माता वन्नांजी को एक ऐसा शुभ सुयोग मिला – स्वयं कल्पवृक्ष घर आ गया। संवत 1907 में सरदारसती ने कल्पलता के रूप में आंगन आई और कुछ दिन वहां ठहरी। उन्होंने वन्नांजी को और उनके पुत्र पुत्री को धार्मिक संस्कार दिए, प्राथमिक तत्त्वज्ञान सिखाया और प्रतिबोध देकर वैराग्य भाव जागृत करने का प्रयत्न किया।

दीक्षा की भावना

सं. 1908 में युवाचार्यश्री जीतमलजी ने बीदासर में बारह सन्तों के साथ चातुर्मास किया। सरदार सती द्वारा बोए गए वैराग्य बीज को प्रेरणा का पर्याप्त पानी मिला, विशुद्ध ज्ञान का ताप मिला, और साधु साध्वियों के पावन सान्निध्य में अनुकूल हवा का काम किया। बालक मघवा युवाचार्यश्री जीत के पास और मां वन्नांजी तथा बालिका गुलाब ने अत्यन्त छोटी अवस्था में तत्त्वज्ञान सीखकर प्रतिभा का परिचय दिया। संयम लेने की दृढ़ भावना की अभिव्यक्ति दी। अवरोध मात्र बालिका गुलाब की अवस्था थी। उन्हें शास्त्रीय विधि के अनुसार दीक्षा का कल्प नहीं आया था।

इसलिए सं. 1908 मिगसर वदि 12 को लाडनूं में बालक मघवा ने युवाचार्यश्री जीत से संयम स्वीकार कर लिया। मां वन्नांजी को पुत्री गुलाबां को दीक्षा का कल्प न आए तब तक इंतजार करना पड़ा। संयोग की बात इसी बीच तृतीयाचार्यश्री रायचंदजी का माघ वदि 14 को मेवाड़ के रावलिया ग्राम में स्वर्गवास हो गया। जब यह दुःखद सूचना युवाचार्यश्री जीत के पास पहुंची वे बीदासर में प्रवास कर रहे थे। उन्हें माघ शुक्ला 8 को यह समाचार मिला। उसके बाद माघपूर्णिमा को जयाचार्य विधिवत पट्टासीन हुए।

बालिका गुलाब ने गर्भावस्था के 9 महीने मिलाने से 9वें वर्ष में प्रवेश किया तब जयाचार्य ने माता वन्नांजी और गुलाब को दीक्षा देने की स्वीकृति दी। सं. 1908 फाल्गुन कृष्णा 6 को बीदासर में श्रीमज्जयाश्री ने सर्वप्रथम तीन बहिनों को भागवती दीक्षा प्रदान की। तीसरी बहिन बीदासर की ही थी, उनका नाम हस्तूजी था। वे अवस्था से वृद्ध थी, ऐसा उल्लेख जय सुजस में प्राप्त है –

बलि तीजी हस्तू वृद्ध वय मांहि, ए तीन दीक्षा तंतसारी।
बहु मोच्छब इक साथ उच्चराई स्वहस्ते सुखकारी जी।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि अवस्था में वयोवृद्ध होने पर भी उनका दीक्षा क्रम तीसरा क्यों? इसका क्या कारण है? तीनों के जीवन परिचय में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं है। न जय सुजस में कुछ लिखा है। संघीय परिप्रेक्ष्य में चिन्तन करने पर दो तथ्य सामने आते हैं –

1. संभव है वृद्धावस्था के कारण प्रतिक्रमण सीखने में विलम्ब होने पर बड़ी दीक्षा बाद में हुई हो।
2. मघवा मुनि और गुलाब सती का उज्ज्वल भविष्य को देख जयाचार्यश्री ने उनकी गरिमा बढ़ाने के लिए मातुश्री चन्नांजी और गुलाबांजी को महत्त्व दिया हो ऐसा उल्लख तेरापंथ के इतिहास में उपलब्ध है।

सप्तमाचार्यश्री डालगणी ने सं. 1935 मृगसर शुक्ला पांचम को सरदारशहर की छह बहिनों ने एक साथ दीक्षा ली। उनमें सरदारशहर के सुप्रसिद्ध श्रावक श्रीचंदजी गधैया की पुत्रवधु हुलासांजी भी एक थी। उनका दीक्षित होने वाली बहिनों में अवस्था की दृष्टि से पांचवां नम्बर था पर डालगणी ने गधैया परिवार को महत्त्व देते हुए साध्वी हुलासांजी को प्रथम नम्बर पर रखा।

इसका अर्थ यह भी नहीं समझना चाहिए कि जिनको छोटा रखा उन पर आचार्यों की कृपा कम होगी। प्रस्तुत प्रसंग में साध्वी हस्तूजी के जीवन की घटना प्रासंगिक है। साध्वी हस्तूजी जब चलने फिरने में अक्षमता महसूस करने लगी जयाचार्यश्री ने उनको लाडनूं सेवा केन्द्र में रखा। सं. 1933 में उनका शरीर अस्वस्थ

हो गया। जयाचार्यश्री उस समय बीदासर में प्रवास कर रहे थे। ज्योहीं साध्वी हस्तूजी की अस्वस्थता के संवाद मिले, जयाचार्यश्री बीदासर से तत्काल विहार कर लाडनूं पधारे। विहार की थकावट होने के बावजूद उसी समय उन्हें दर्शन किए, और आध्यात्मिक पद्य सुनाएं। गुरु दर्शन और गुरु कृपा प्राप्त कर वे अत्यधिक प्रसन्न हुई। उस दिन उनके चोले की तपस्या थी। संयोग ऐसा मिला कि उसी रात्रि में उनका स्वर्गवास हो गया। सं. 1933 फाल्गुन कृष्णा 6 का दिन था। जिस दिन संयम ग्रहण किया उसी दिन तपस्या पूर्वक समाधि के साथ स्वर्गवासी बन गई।

जीवन निर्माण के साथ अध्ययन

महासती सरदारांजी को वरद हस्त प्राप्त कर साध्वी गुलाब प्रसन्नता मना अपने जीवन का निर्माण करने लगी। जयाचार्यश्री स्वयं उनके अध्ययन के प्रति जागरूक थे ऐसा प्रतीत होता है। गुलाब सती भी समर्पण भाव और श्रम के साथ ज्ञानार्जन करने लगी। यद्यपि उनकी अवस्था उस समय बहुत छोटी थी पर वे विनम्र प्रकृति की थी, और प्रथम दृष्ट्या सभी को मनगमती लगती थी।

अवस्था गत चंचलता उनमें बहुत कम थी, वे जब देखो ज्ञानध्यान में मस्त दिखाई देती थी। बचपन में अनुशासन पसंद साध्वी थी। संयम जीवन में सर्वाधिक आवश्यक है – समिति गुप्ति की साधना। वे इसमें सावधान और जागरूक थी। गुरु इंगित, गुरु दृष्टि और गुरु आज्ञा के प्रति सर्वात्मना समर्पित थी। वे प्रतिभा और गुणों से पुष्ट थी। उनका शालीन शिष्ट और विनीत व्यवहार उनके गरिमामय व्यक्तित्व का प्रतीक था। जैसा उनका नाम था उनके व्यक्तित्व की सुवास उसी के अनुरूप थी। विनय, विवेक और उदार विचार सबको प्रभावित करने वाला था।

प्रतिभा का परिचय

गुलाब सती की बुद्धि कुशाग्र थी और ग्रहणशीलता अद्‌भुत थी। उन्होंने दीक्षा लेने के कुछ समय पश्चात अनेक दोहे, छन्द, गीत आदि याद कर लिए। छोटे बड़े गांवों में समय–समय पर स्पष्ट भाषा में, सुन्दर लय और स्वर में जब लोगों को अस्खलित रूप दोहे आदि सुनाती, लोग बहुत प्रभावित होते। बचपन से ही उनमें एक विशेष कला थी। वे हस्तलिखित पत्रों को उल्टाकर धाराप्रवाह पढ़ कर सुना देती। इस प्रकार उल्टे पन्नों को पढते देखकर लोग आश्चर्य चकित हो जाते। बाल साध्वी महिमा जिधर विहार करते उधर बहुत फैल गई, जिससे लोग उनको देखने और सुनने के लिए समूह –के समूह आते। श्रद्धा से अभिभूत हो वाह–वाह कह उठते। दीक्षा लिए दो वर्ष पूरे हुए ही नहीं थे कि गुलाब सती ने मात्र ग्यारह वर्ष की अवस्था में दशवैकालिक सीखना प्रारंभ कर दिया। दो पहले चातुर्मास महासती सरदारांजी की नेश्राय में जोबनेर (सं. 1909) और नाथद्वारा (सं. 1910) में किए तथा उसके बाद

जीवनभर आचार्यों के साथ गुरु सन्निधि में करने का सौभाग्य मिला।

मध्यप्रदेश में चेचक का प्रकोप

सं. 1910 का चातुर्मास सम्पन्न कर जयाचार्यश्री मध्यप्रदेश के रतलाम शहर में पधारे। उस समय सदारसती और गुलाब सती दोनों आचार्यश्री की सेवा में ही थे। वहां गुलाब सती अस्वस्थ हो गई, उन्हें चेचक (माता) निकल आई। सरदारसती के संरक्षण में गुलाब सती ने रतलाम में स्वास्थ्य लाभ किया। उस वर्ष का जयाचार्यश्री का चातुर्मास रतलाम में हुआ। मध्यप्रदेश के गांव नगर और शहरों में धर्म का उद्योत कर जन–जन का मार्ग दर्शन किया। वहां से उदयपुर चातुर्मास कर जयाचार्य थली में पधार गए।

अनुशासन का अप्रतिम उदाहरण

गुलाब सती को अनुशासन निष्ठा के गहरे संस्कार जन्मघूंटी में मिले थे, ऐसा कहा जा सकता है। वे आचार्यश्री के आदेश निर्देश का सम्पूर्ण जिम्मेदारी एवं ईमानदारी से पालन करना उनका सर्वोपरि लक्ष्य था। वे बचपन से ही इस विषय में जागरूक थीं। एक बार जयाचार्यश्री लाडनूं में प्रवास कर रहे थे। प्रवास–स्थल आज का सेवाकेन्द्र था। एक दिन बाल साध्वी गुलाब प्रवास स्थान में इधर उधर घूम रही थी। बाल साध्वी को अनावश्यक गतिशीलता देख जयाचार्यश्री ने आदेश की भाषा में कहा – "गुलाब इधर–उधर क्यों घूम रही हो? जाओ, उस टोडी–आला (बड़ा सी एक ही खण की अलमारी) में बैठकर स्वाध्याय करो।"

गुलाब सती ने बद्धांजलि हो तहन कर कहा और उसमें जाकर बैठ गई। दुबला पतला छोटा–सा शरीर था, उसमें अच्छी तरह से बैठ गई। और स्वाध्याय जाप में लीन हो गई। (संभव है बचपन के कारण नींद भी आ गई होगी पर ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता) कहते हैं उस आले में बैठे–बैठे कई घंटे व्यतीत हो गए। जयाचार्यश्री प्रातः कालीन व्याख्यान सम्पन्न कर पधार गए। साधु साध्वियां गोचरी कर आ गए। जब आहार करने का समय हुआ साध्वी गुलाब को आहार के समय न देखकर आचार्यवर ने पूछा – गुलाब कहां है? इधर उधर देखने पर उनका पता नहीं चला तब जयाचार्यश्री को स्मृति हो आई कि – मैंने उस तिरबारी वाले आले में बैठने के लिए कहा था। वहां जाकर देखो। साध्वियों ने देखा गुलाब सती आले में बैठी स्थिर और एकाग्र भाव से स्वाध्याय में तल्लीन थी। साध्वियों ने कहा आचार्यवर तुम्हे याद कर रहे हैं। सुनते ही बाल साध्वी तेज गति से वहां से उठी और श्रीचरणों में उपस्थित हो गई और विनम्र भाव से वंदना कर वहीं बैठ गई। जयाचार्यश्री ने कृपा भाव से पूछा – क्या तुम सुबह से अभी तक उसी आले में बैठी थी? मैंने तो तुमको कुछ समय बैठकर स्वाध्याय करने के लिए कहा था। गुलाब सती ने निवेदन किया

– गुरुदेव! आपने मुझे वहां बैठने का आदेश दिया था, बिना आपकी आज्ञा के वहां से कैसे उठती? जयाचार्यश्री बाल साध्वी की आज्ञा निष्ठा और अनुशासन निष्ठा से बहुत प्रसन्न हुए।

अल्पायु में व्याख्यान कौशल

गुलाब सती जब मात्र तेरह वर्ष की थी उन्होंने उसी समय से व्याख्यान देना प्रारंभ कर दिया। सं. 1913 जयाचार्यश्री का पाली चातुर्मास था। सर्व प्रथम वहां उन्होंने मध्याह्न का व्याख्यान देना प्रारंभ किया। गुलाब सती मधुर वाणी मधुर कण्ठकला से व्याख्यान देती लोग बहुत आकृष्ट होते। व्याख्यान देना एक कला है। इसके माध्यम से जन–जन को आकृष्ट कर प्रेरणा देना एक सरल साधन है। गुलाब सती इस कला में नैसर्गिक रूप से दक्ष थीं। सं. 1913 के बाद दोपहर में व्याख्यान प्रायः गुलाब सती ही दिया करती, यहां तक कि साध्वी प्रमुखा बनने के बाद भी उनका यह क्रम सदा चालू रहा। गुलाब सती की व्याख्यान शैली का 'जय छोग सुजस विलास' में जो मूल्यांकन किया गया है, वस्तुतः ही पठनीय है –

गुलाब कुंवर कछू गुणकरे रूड़ी, चतुर विचक्षण पंडित पूरी।
देशन देवा सखर सनूरी, स्वाम नी सेवा साधै हजूरी जी।।
सुन्दर तन अति सोहतो रे, पेखत पांमै प्यारो।
जनवृन्द सुणवा आवतां रे, देशन सती नो सारो जी।।
देशन दोपारै सती देती, सुस्वर कंठे बहु सतियां सेती।
लाहो नाण लिछमी नो लेती, पत्र अपूठा बलि बांचेती जी।।

संस्कृत भाषाविद एवं रचनाकार

तेरापंथ साध्वी समाज में संस्कृत भाषा प्रथम पाठिका गुलाब सती थी। इसे यों कहे कि तेरापंथ साध्वी समाज में संस्कृत भाषा का पहला बीच गुलाब सती ने गण धरती में बोया। इससे पहले किसी ने संस्कृत भाषा नहीं पढ़ी। उन्होंने सारस्वत व्याकरण का अध्ययन शुरु किया। चन्द्रिका व्याकरण के भू आदि धातुओं के स्थल कण्ठस्थ किया। सारस्वत व्याकरण का सभी प्रत्यय तक याद किया। इसके साथ समय–समय पर गुलाब सती ने गीत आदि की रचना भी की। तेरापंथ धर्मसंघ की प्रथम रचनाकार गुलाब सती ही थी। चरमोत्सव पट्टोत्सव जैसे विशिष्ट पर्वों पर वे स्वयं गीत बनाती और परिषद में अपने मधुर कण्ठों से गाकर सुनातीं। उनकी गायन कला से जनता बहुत प्रभावित होती। उस समय उनकी गीतिकाएं सुनकर लोग हर्ष विभोर हो जाते। उनके द्वारा बनाई गई कुछ गीतिकाएं आज भी उपलब्ध हैं। तथा गुलाब सुजस में मघवागणी ने यह भी उल्लेख किया है कि वे स्वयं गाती तथा कभी–कभी सतियां गाती और गुलाब सती गीत का अर्थ करती।

कुशल लिपिकार

गुलाब सती प्रतिभा सम्पन्न दक्ष लिपिकार साध्वी थी। उनके अक्षर मोती जैसे सुन्दर थे। उनकी मेधा और स्मरण शक्ति इतनी तेज थी कि एक साथ पांच सात पद्य सुनकर ज्यों के त्यों सुना देती। जयाचार्यश्री ने सर्वाधिक विशाल आगम भगवती सूत्र की राजस्थानी भाषा में पद्यबद्ध रचना सं. 1915 में प्रारंभ की। आचार्यवर आशुकविता करते हुए पद्य फरमाते और गुलाब सती प्रायः पद्यों को एक बार सुनकर लिख लेती। उस समय उनकी अवस्था मात्र उन्नीस या बीस साल की थी। जयाचार्यश्री ने सं. 1924 पौष सुनि दशमी को बीदासर भगवती सूत्र की जोड़ सम्पूर्ण की। गुलाब सती द्वारा लिखी गई भगवती जोड़ की प्रतिलिपि की सम्पूर्णता में सं. 1926 माघ कृष्णा दशमी बुधवार बीदासर का उल्लेख है। रचना काल और प्रतिलिपि काल में लगभग दो वर्षों का अन्तराल है। इससे संभावना यह की जा सकती है कि जयाचार्यश्री पद्य की रचना करते जाते और गुलाब सती तत्काल पद्य सुनकर कच्चा खसरा यानी Rough Mater तैयार कर लेती। फिर धीरे–धीरे उसकी प्रतिलिपि कलम और स्याही से करती। आचार्यश्री तुलसी ने गुलाब सती धारणा शक्ति और स्मरण शक्ति की महत्ता प्रकट करते हुए लिखा है –

रच रच वच जय फेंकता रे झेल्या सती गुलाब।
मूंछाला मर्दा थकी रे, पाई अधिकी आब।।

भगवती जोड़ जैसे सुविशाल ग्रन्थ की प्रतिलिपि करने का साहस करना आकाश को बाह में भरने जैसा दुरूह काम है। आज तक तेरापंथ संघ में उसकी चार प्रतियां ही लिखी गई है –

प्रथम गुलाब सती ने सं. 1926 में सम्पन्न की
द्वितीय मुनि श्री कालूजी रेलमगरा 1926 में सम्पन्न की
तीसरी प्रति मुनि श्री कुन्दनमलजी जावद ने लिखी
चौथी साध्वीश्री खूमांजी लाडनूं ने लिखी
तेरापंथ पुस्तक भंडार में ये चारों प्रतियां सुरक्षित हैं।

भगवती जोड़ का सम्पादन इतिहास का पुनरावर्तन

भगवती जोड़ के साथ जयाचार्यश्री और तेरापंथ की द्वितीय साध्वीप्रमुखा गुलाब सती का इतिहास जुड़ा और इतिहास दुर्लभ दस्तावेज बन गया। बीसवीं शताब्दी में जयाचार्यश्री की निर्वाण शताब्दी का पावन अवसर था, आचार्य तुलसी ने उस कालजयी कृति को हाथ में लिया। आचार्यश्री तुलसी के वाचना प्रमुखत्त्व में सम्पादन भगीरथ दायित्व संभाला तेरापंथ धर्मसंघ की आठवीं साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने। आचार्यश्री तुलसी का पावन सान्निध्य, साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी का सतत

पुरुषार्थी कौशलपूर्ण सम्पादन ने उसी इतिहास को जीवंत पुनरावर्तन कर दिया। आज भगवती जोड़ के छह खण्ड जैन वाङ्मय की विलक्षण धरोहर है।

विलक्षण सौन्दर्ययुत शरीर संपदा

कहते हैं गुलाब सती का शरीर सौन्दर्य अद्भुत और विलक्षण था। प्रतिभा, विद्वता, प्रभावशीलता के साथ रूप संपदा का योग सोने में सुगंध जैसा कहा जा सकता है। गौर वर्ण के साथ त्वचा मक्खन–सी मुलायम थी उसमें पारदर्शिता इतनी कि गुलाब सती जब भी पानी पीती तब गले से पानी उतरता दिखाई देता। उनके चेहरे के ओज तेज और आकर्षण को देखकर दर्शक अभिभूत–सा हो जाता। कोई उनमें देवी का रूप देखता, कोई सरस्वती का तो कोई लक्ष्मी का।

एक बार जयाचार्यश्री पचपदरा बालोतरा आदि क्षेत्रों में विहरण कर रहे थे। वहां वाव के कुछ महाजन भाई व्यावसायिक कार्य के लिए आए। जयाचार्यश्री के बालोतरा प्रवास की बात सुन वे दर्शन करने पहुंचे। उन्होंने गुलाब सती के भी दर्शन किए और मध्याह्न में उनका व्याख्यान भी सुना। वे सब आश्चर्य चकित हो गए। उन्होंने जयाचार्यश्री से निवेदन किया – आचार्य देव! ये साध्वियां तो साक्षात देवियां हैं, अध्यात्म की मूर्तियां हैं। इन्हें हमारे गांव वाव में भेजने की कृपा करें।

सं. 1925 में जयाचार्यश्री ने जोधपुर में चातुर्मास किया। उस समय गुलाब सती भी उनके साथ थी। गुलाब सती के रूप सौन्दर्य की महिमा शहर में हवा की तरह फैल गई। जोधपुर नरेश ने जब यह बात सुनी तब जयाचार्यश्री के चरणों में निवेदन करवाया कि – गुलाब सती को एक बार राजमहल में दर्शन देने के लिए भिजवाने की कृपा करें। कहते हैं जयाचार्यश्री ने इस सन्दर्भ में जोधपुर के वरिष्ट श्रावक बादरमलजी भंडारी से परामर्श लेकर विचार विमर्श किया। बादरमलजी भंडारी को राजमहल में गुलाबसती को भेजना उचित नहीं लगा अतः जयाचार्यश्री ने नहीं भेजने का निर्णय ले लिया।

गुलाब सती की सुन्दरता इतनी अधिक थी कि नजर लगने का भय बना रहता, इसलिए कई बार उनको शरीर पर राख लगानी पड़ती और विशेषकर विहार के समय राख लगाते जिससे सौन्दर्य थोड़ा कम हो जाता, ऐसा कहा जाता है।

सं. 1942 में आचार्यश्री मघवा ने जोधपुर चातुर्मास किया। वहां एक दिन कर्णपर्व के रचयिता महामान्य पण्डित गणेश पुरीजी आचार्यवर के दर्शन करने आए। उन्होंने मघवागणी के उपपात में बैठकर विविध विषयों पर वार्तालाप किया और प्रश्नोत्तर के माध्यम से अपनी जिज्ञासाएं शांत की। उन्हें मघवागणी की कल्याणी वाणी ने अतिरिक्त प्रसन्नता और संतुष्टि दी। वे जब जाने लगे तब आचार्यवर ने कहा – कविराजजी! क्या आपने कभी हमारी साध्वियों के दर्शन किए हैं? उन्होंने

आचार्यवर के अभिप्राय को अधिमान देते हुए निवेदन किया – हां अब साध्वियों के दर्शन करने का विचार है। वे वहां से सीधे साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी के दर्शन करने पहुंचे। उन्होंने महासती गुलाबांजी के दर्शन कर बातचीत की। उनके सान्निध्य में थोड़ा–सा समय बिताया एवं बातचीत की, उससे वे अत्यधिक प्रभावित हुए। अद्वितीय सौन्दर्य, प्रतिभा एवं विद्वता से अभिभूत हो तत्काल मघवागणी के पास पुनः लौटकर आए और बोले – आचार्यप्रवर! यदि मैं उनके (गुलाब सती) के दर्शन अगर नहीं करता तो मेरे मन में एक कसक रह जाती। मुझे उन्हें देखकर लगा वे तो साकार सरस्वती की प्रतिमूर्ति हैं। आचार्य तुलसी ने माणक महिमा ग्रन्थ में इस घटना के सन्दर्भ में काव्यात्मक भाषा में लिखा है –

बहिन गुलाबां नै लखी रे, कविवर पुरी गणेश।
सागी रूप सरस्वती रे, विरूदावली विशेष।।

साध्वीप्रमुखा का गौरवशाली पद

गुलाबसती एक तेजस्वी यशस्वी और पुण्यात्मा थी। उनकी पहचान दीक्षित होने के साथ ही विशिष्ट बन गई। लगता है वे विशिष्टता लेकर ही जन्मी थीं। वे जितनी छोटी अवस्था में दीक्षित हुई उससे पहले इतनी छोटी अवस्था में कोई तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षित नहीं हुआ था।

वे बाल्यवय और अप्रतिम सौन्दर्य के साथ संन्यास के पथ पर आगे बढ़ी, उनकी प्रतिभा ने नए कीर्तिमान गढ़े। जिससे महामनस्वी जयाचार्यश्री ने उनको शिक्षा जगत में आगे बढ़ने का अपूर्व अवसर दिया। स्वयं गुलाब सती को अध्ययन कराते तथा लेखन कार्य में कुशल बनाया।

– तेरापंथ में प्रथम संस्कृतविज्ञ एवं रचना कार साध्वी का गौरव भी गुलाब सती के नाम दर्ज है।

– मात्र तेरह वर्ष की अवस्था में कुशल व्याख्याता साध्वी बनीं

– हाथ से लिखे पत्रों को उलटाकर अस्खलित पढ़कर सबको आश्चर्य चकित कर देती।

– नारी अशिक्षा के युग में जयाचार्यश्री जैसे महान साहित्कार के चरणों में बैठकर भगवती सूत्र का लेखन स्मरण शक्ति एवं लेखन कौशल का कीर्तिमान माना जा सकता है। उन्होंने दो लाख पद्यों की प्रतिलिपि कर लिपिकौशल का परिचय दिया।

कीर्तिमान पर कीर्तिमान स्थापित करने वाली महासती गुलाबांजी को श्रीमज्जयाचार्यश्री की सहज कृपा प्राप्त थी। युवाचार्यश्री मघवा की सहोदरी होने का गौरव उन्हें प्राप्त था। सं. 1927 पौष शुक्ला दशमी को बीदासर में साध्वीप्रमुखा

सरदारांजी का स्वर्गवास हो गया। साध्वीप्रमुखा का चयन का प्रसंग था। युवाचार्यश्री मघवा ने गुलाब सती से इस विषय में बात की उन्होंने महासती नवलांजी का नाम योग्य साध्वी के रूप में सुझाया।

श्रीमज्जयाचार्य ने सरदारसती के स्थान द्वितीय साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी को नियुक्त किया और साध्वीसमाज की सार संभाल का दायित्व तथा सरदार सती की तरह उन्हें सर्वाधिकार सौंपे। उसी दिन जयाचार्यश्री ने उनको समुच्चय के काम तथा बोझ भार की बक्सीस की। मघवागणी ने गुलाब सुजस में इस प्रसंग को इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है –

पछै कामकाज नै कुर्ब विख्यात, सहु सरदार नो जिम छो तिम साख्यात,
समणी गुलाब नै जाण गंभीर, विनयवंत बलि अधिक सुधीर।
नीतिवान गुणवान विशेष, जाणी गणपति अति गुण देख,
जिम सरदार नो तिमज उदार, सूंप्यो गुलाब नै सहु अधिकार।।

तेरापंथ धर्मसंघ की एक परम्परा है कि नवदीक्षित साधु साध्वियों को एक समय सीमा तक (चार, छह, बारह.....महीना तक) सामूहिक कार्य व्यवस्था भोजन व्यवस्था के साथ नहीं जोड़ा जाता। उसके बाद व्यवस्था विधि सब पर लागू कर दी जाती है। गुलाब सती इसकी अपवाद रहीं। श्रीमज्जयाचार्यश्री एवं मघवागणी की उन पर अतिशायी कृपा रही। उन्होंने समुच्चय का कार्य किया या नहीं समुच्चय का वजन उठाया या नहीं यह सब अज्ञात है, कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। साध्वीप्रमुखा बनते ही सर्वकामकाज एवं बोझ भार की बक्सीस की यह गुलाब सुजस में वर्णन है। दूसरी ओर आहार पानी की जीवनभर पांती नहीं हुई यह भी निम्नलिखित पद्य से स्पष्ट है –

आहार पाणी री थेट थी लेई, तसु नहीं पांती जान।
गणी कृपा थी जावजीव लग, पवर इसा पुनवान।।

<u>कुशल : सारणा वारणा में</u>

साध्वीप्रमुखा की बौद्धिक क्षमता के साथ नीतिमत्ता, विवेकसम्पन्नता एवं अनुशासन क्षमता भी अच्छी थी। वे साध्वियों की सार संभाल में दक्ष थी, ऐसा स्वयं मघवागणी ने गुलाब सुजस में लिखा है –

मुख–आगै लिखणा पढणा में, बखाण वाणी विचार।
बले सार–संभाल सत्यां नीं करवा सती गुलाब अधिक हुंशियार।।

उनका यह कर्त्तृत्व जयाचार्य के युग में सबके सामने मुखर था। साध्वियां उनकी आत्मीय वत्सलता प्राप्त कर संतुष्ट थी, साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी अपने दायित्व/कर्त्तव्य के प्रतिपूर्ण जागरूक थीं। साध्वीप्रमुखा और साध्वियों के मध्य

सौहार्दपूर्ण व्यवहार एवं आत्मीय भाव का मजबूत सेतु था, जो आस्था, विश्वास आत्मीयता का निर्माण करता था। साधुओं को भी सम्मान के साथ समुचित सहयोग देने काक वे प्रयत्न करतीं। संयम जीवन के आवश्यक उपकरणों को उदार भाव से वितरण कर संघ के हर सदस्य को संतुष्ट करतीं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी – सबकी चित्त समाधि का विशेष ध्यान रखतीं। वे रोगी, ग्लान, वृद्ध और तपस्वी साधुओं की आवश्यकता – पूर्ति को विशेष महत्त्व देतीं। उन्हें चार तीर्थ का सहज श्रद्धाभाव और आदरभाव प्राप्त था।

सं. 1927 से 1938 तक एक दशक का समय श्रीमज्जयाचार्यश्री के श्रीचरणों में बीता। महासती गुलाब ने जयाचार्यश्री की उपासना और साध्वी समाज की सेवा में अपने समय को सार्थक बनाया। जयाचार्यश्री को अंतिम समय में स्वाध्याय आदि के माध्यम से जो कुछ बन सकी सेवा करने का प्रयत्न किया। गुणानुवाद रूप में एक पद्य बनाकर सुनाया जो इस प्रकार है –

आप जिन–मग जबर जमायो, जिन शासन कलश चढायो।
प्रबल तेज प्रताप सवायो, इण आरे अवतारे आयो।।
भिक्षु शिष्य नीको, वाख च्यार तीर्थ सिर–टीको।।

अस्वस्थता और चिकित्सा

सं. 1940 का मघवागणी का चातुर्मास चूरू में था। चातुर्मास की अवधि में साध्वीप्रमुखा के सुकोमल शरीर में बीमारी ने आक्रमण किया जिससे उनका तनु बहुत अधिक कमजोर हो गया। फिर भी मनोबल के साथ थेलासर रामगढ आदि क्षेत्रों में विहार कर मघवागणी के साथ रतनगढ पहुंची। वहां से मघवागणी ने गुलाबसती को स्वास्थ्य–लाभ की दृष्टि से लाडनूं भेज दिया और स्वयं सरदारशहर पधार गए क्योंकि उस समय आचार्यवर को सरदारशहर में संघीय विकास की विशेष संभावना लग रही थी। वीतराग कल्प मघवा का 21 दिन सरदारशहर प्रवास हुआ। कहना चाहिए यह प्रवास विशेष उपलब्धिपूर्ण रहा। वहां दो दीक्षाएं हुई और अनेक लोगों ने गुरु धारणा की।

साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी के विशेष निवेदन पर आचार्यश्री सरदारशहर से शीघ्र विहार कर लाडनूं पधारकर गुलाब सती को दर्शन दिए। साध्वीप्रमुखा गुरु दर्शन पाकर अत्यन्त प्रफुल्लित हो गई। आचार्यश्री मघवा ने उस वर्ष का मर्यादा महोत्सव लाडनूं में किया। यद्यपि उस वर्ष आचार्यवर का चिन्तन मारवाड–यात्रा का था पर साध्वीप्रमुखा की शारीरिक अस्वस्थता से वह स्थगित हो गया।

आचार्यश्री मघ्वा ने सं. 1941 का चौमासा सरदारशहर में किया। यह सरदारशहर में आचार्यों का पहला चौमासा था। संघीय दृष्टि से वहां उल्लेखनीय

उपकार हुआ। छह बहिनों की दीक्षा हुई। साध्वियों में मासखमण आदि अच्छी तपस्या हुई। साध्वीप्रमुखा का स्वास्थ्य जो पिछले वर्ष रूजाक्रान्त हुआ था वह उपचार करने से ठीक हो गया, यह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही।

भंडारी की प्रार्थना पर जोधपुर चातुर्मास

श्रद्धानिष्ठ आचार्यों के परम भक्त, राजमान्य श्रावक बादरमलजी भंडारी ने जोधपुर चातुर्मास की प्रार्थना की। भंडारी ने संघ की समय–समय पर बहुत सेवा की, उसका मूल्यांकन करते हुए तथा उनके वृद्धावस्था में सेवा कराने का लक्ष्यकर आचार्यवर जोधपुर पधारे। वहां चातुर्मास किया। संयोग की बात थी कि भाद्रव महीने में भंडारीजी अत्यधिक अस्वस्थ हो गए। मघवागणी ने तथा साध्वीप्रमुखा गुलाब ने भंडारीजी को दर्शन सेवा का लाभ दिया तथा वैराग्यवृद्धि करने वाली गीतिकाओं के माध्यम से उनकी भावधारा को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न किया। अपूर्व गुरु कृपा तथा भंडारीजी के सौभाग्य का योग देखकर लोग कहते – जयपुर के सुप्रसिद्ध श्रावक भेंरूलालजी ने तथा जोधपुर के वरिष्ट श्रावक बादमलजी ने जितने भक्तिमान और संघहितैषी बनकर संघ सेवा की उनको आचार्यों का अन्तिम समय में वैसा ही महान योग मिला है, यह इनकी पुण्याई का प्रतीक है।

श्रीमज्जयाचार्यश्री ने सं. 1938 का जयपुर चातुर्मास किया, तब चातुर्मास में लालाजी अस्वस्थ हुए, उनको जयाचार्यश्री ने भरपूर आध्यात्मिक सहयोग दिया और वे उसी चातुर्मास में दिवंगत हो गए। जयाचार्यवर के उत्तराधिकारी आचार्यश्री मघवा ने जोधपुर चातुर्मास किया और भंडारीजी अस्वस्थ हो गए उनको भी गुरु सेवा का स्वर्णिम अवसर मिला, मानो अध्यात्म सुमेरू स्वयं आंगन में आ गया और खूब आध्यात्मिक संबल मिला। भंडारीजी सं. 1942 भाद्रवशुक्ला 10 को दिवंगत हो गए। दोनों श्रावकों ने अपने कर्त्तृत्व से गण सेवा की और गण ने उनको विरल अवसर प्रदान किया, दोनों गौरवशाली इतिहास के प्रसंग है।

साध्वी प्रमुखा पुनः अस्वस्थ

मारवाड यात्रा के शुभारंभ के साथ साध्वीप्रमुखा का स्वास्थ्य भी पुनः अस्वस्थ हो गया। उनके स्तन पर एक भेद पहले से थी, वह धीरे–धीरे बढने लगी। उसमें दर्द निरंतर बढता जा रहा था। फिर भी वे उसे साधारण समझकर घरेलू दवाओं का उपयोग करती रही। कभी बचैनी भी बढती पर मनोबल इतना अधिक था कि उन्होंने अपने नियमित कार्यक्रमों में कोई फेरबदल नहीं किया। वे नियमित मध्याह्न का व्याख्यान देतीं।

अपना स्वाध्याय ध्यान एवं ज्ञानार्जन का क्रम व्यवस्थित चलता। साध्वियां समुचित एवं सुव्यवस्था के साथ सार संभाल करती रहतीं। श्रावक श्राविकाओं को भी

विविधमुखी प्रेरणा देती एवं सुसंस्कार भरती।

भाद्रव महीने के शुक्ल पक्ष में हरियाणा के भिवानी के कुछ श्रावक गुरुदर्शन करने के लिए जोधपुर आए। उनके साथ महाजन जाति का एक वैद्य था। उसने गुलाब सती की मेद को देखा और कहा – जातिभेद है, इसकी दवा मेरे पास है। यदि इसका प्रयोग किया जाए तो अन्दर जमा हुआ सारा मवाद निकल जाएगा, फिर यह बहुत जल्दी ठीक हो जाएगी, ऐसी संभावना है। मैंने इस प्रकार के इलाज कई व्यक्तियों के किए हैं और वे स्वस्थ बने हैं। मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप मेरी चिकित्सा कराएं। भवितव्यता का योग ही कहना चाहिए जिस कार्य की किसी की मानसिकता नहीं थी फिर भी उस दवा का प्रयोग करना प्रारंभ कर दिया। कई दिनों तक दवा लगाने के बावजूद मवाद नहीं निकली, प्रत्युत जहां मेद थी वहां घाव हो गया। यह स्थिति देखकर उस वैद्य ने कहा – यह भेद नहीं गांठ है इसलिए मेरी दवा ने काम नहीं किया।

उसके बाद ज्यों–ज्यों समय निकला, घाव बढता ही गया। अनेक उपचार कराने के बाद भी वेदना कम नहीं हुई और घाव छोटा नहीं हुआ। गुलाब सती दृढता और समभावना से वेदना सहन करती रही। उन्हीं दिनों एक अंग्रेज डाक्टर ने दर्शन किए। उन्होंने घाव की स्थिति देखकर ऑपरेशन कराने की सलाह दी। उस समय एक डाक्टर से ऑपरेशन कराने की न तो चिकित्सा पद्धति विकसित थी और न मानसिकता थी। साध्वीप्रमुखा ने वीरता के साथ वेदना के समरांगण में उतरना ही उचित समझा और मेद कटाने की बात को अस्वीकार कर दिया।

साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी ने चिकित्सा की दृष्टि से अध्यात्म चिकित्सा प्रारंभ की। वे सम्पूर्ण सावधानी के साथ स्वाध्याय ध्यान जप व तप के विविध प्रयोग करने लगी। वे कभी एकासन करतीं, कभी उपवास करती और कभी उणोदरी की साधना करती, इस प्रकार तप साधना से संलेखना की ओर आगे बढने लगी। जयाचार्यश्री द्वारा रचित आराधना की गीतिकाओं को सुनकर आत्मालोचन कर अपने आपको हल्का बनाती। कभी पांच महाव्रतों का पुनरार्वतन करती और कभी क्षमा याचना का प्रयोग कर निःशल्य बनने का प्रयत्न करतीं। इन सब उपक्रमों के साथ उनकी सहनशीलता और वेदना में सम रहने की मनोवृत्ति हर दर्शक को विस्मित बना देती और सब साधुवाद साधुवाद कह उठते।

पंचमाचार्यश्री मघवागणी स्वयं श्रमण परिवार के साथ प्रतिदिन साध्वीप्रमुखा को दर्शन देते, वैराग्य वर्धक गीत, पद्य घटना प्रसंग आदि सुनाते और उनके मनोबल को बढाते। गुरु का सान्निध्य, आध्यात्मिक प्रेरणा और उनसे मिलने वाली चित्त समाधि ा ऐसे क्षणों में कितनी मूल्यवान होती है; जिसे मिलती है वही अनुभव कर सकता है।

चातुर्मास सम्पन्न होने पर आचार्यवर वहां से विहार कर मुहंता के मंदिर में पधार गए, फिर महामंदिर तथा उदयमंदिर में प्रवास किया पर साध्वीप्रमुखा को दर्शन देने का क्रम पूर्ववत चलता रहा। आराधना, चौबीसी, आध्यात्मिक गीत, तपस्वी संतों के जीवन वृत्त सुनाकर वैराग्यमय वातावरण निर्माण करते। चातुर्मास की परि सम्पन्नता के बाद अनेक साधु साध्वियों के सिंघाडे जोधपुर पहुंच गए। सभी साध्वीप्रमुखा के उपपात में पहुंचते और सुखपृच्छा के साथ आध्यात्मिक दृष्टि से सहयोगी बनने का प्रयत्न करते।

साध्वीप्रमुखा का स्वास्थ्य अनवरत क्षीणता को प्राप्त करता जा रहा था जो समूचे संघ के लिए चिन्ता का विषय था। यद्यपि स्तन का घाव अपने आप धीरे–धीरे संकुचित होने लगा, उसमें दर्द भी कम होने लगा। अन्य शारीरिक व्याधियों के उत्पन्न होने से शारीरिक शक्ति अत्यधिक क्षीण हो गई। उनको अन्न की अरूचि होने लगी, नींद भी कोसों दूर चली गई फलतः बेचैनी बढने लगी।

मेरी तैयारी है

पौष बदि अष्टमी की रात्रि में साध्वीप्रमुखा को शारीरिक दृष्टि से अत्यधिक वेदना का अनुभव हो रहा था। पश्चिम रात्रि के समय श्रावक लिछमणदासजी भंडारी दर्शन करने आए। भयंकर वेदना के क्षणों में महासती गुलाबांजी ने पूछा – कौन है? साध्वियों ने कहा – लिछमणदासजी भंडारी दर्शन कर रहे हैं? साध्वीप्रमुखा साफ और ऊंचे स्वर में कहा – "हां आप अच्छी तरह से दर्शन कर ले, अब मेरी भी तैयारी है।" यह सुनकर साध्वियों ने पूछा – क्या आपको इस सम्बन्ध में कुछ आभास हुआ है अथवा कोई स्वप्न आया है? महासती गुलाबांजी ने कहा – न कोई स्वप्न आया है और न कोई आभास हुआ है! पर अब मेरी तैयारी है।

प्रातः होते–होते यानी नवमी के प्रभात में साध्वीप्रमुखा ने मघवागणी को शीघ्रातिशीघ्र दर्शन देने तथा अनशन करवाने के लिए प्रार्थना करवाई। आचार्यश्री मघवा तत्काल पधारे, दर्शन देकर बातचीत की और औषध जल के अतिरिक्त सागारी संथारा पचखा दिया। गुलाब सती ने हर्ष व्यक्त करते हुए अनशन स्वीकार किया। अत्यधिक वेदना की वजह से उन्हें कभी–कभी मीट–सी आ जाती पर पूर्ण सावचेती अवस्था में पूरी क्षमता और शक्ति लगाकर वेदना सहन करती फिर भी परिणाम धारा शान्त रही। सायंकाल के समय मघवागणी एक बार पुनः दर्शन देने पधारे उस समय उन्होंने निवेदन किया – आज आप यहां शहर में ही रात्रिप्रवास कराएं, यह मेरी भावना है। गुलाब सती की भावना का आदर करते हुए आचार्यश्री मघवा ने रात्रि प्रवास वहीं आसपास में किया।

रात्रि के लगभग ग्यारह बजे स्वास्थ्य स्थिति गंभीर बनती नजर आई तब साध्वी किस्तुरांजी ने जागरूकता के साथ चौविहार अनशन करा दिया। लगभग सवा प्रहर के चौविहार अनशन में उनका स्वर्गवास हो गया। सं. 1942 पौष वदि नवमी की रात्रि थी। उस समय लगभग एक प्रहर रात्रि अवशिष्ट थी।

साध्वीप्रमुखा का स्वर्गवास हुआ, उस समय वहां आचार्यवर के सान्निध्य में 46 साधु और 100 साध्वियां थी। महासती गुलाबांजी की अस्वस्थता के समाचार सुनकर चुरु निवासी सागरमलजी कोठारी, कर्मचंदजी बांठिया, पनेचंदजी बेगवाणी तथा रावतमलजी गोलछा आदि ने जोधपुर आकर अच्छी सेवा की। दिवंगत होने के पश्चात पौषवदि 10 के दिन श्रावक समाज ने बड़ी धूमधाम से शोभा यात्रा निकाली और चरमोत्सव मनाया।

साध्वी प्रमुखा गुलाबांजी का छोटी अवस्था में यों चले जाना, सचमुच कष्टकर था पर सब आयुष्य के सामने विवश थे। चार तीर्थ ने उनकी स्मृति में उनके गुणों की स्तवना की और अपने मन को आश्वस्त किया। आचार्यश्री मघवा ने गुलाब सुजस नामक कृति का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त जय सुजस, मघवा सुजस तथा गुणवर्णन गीतों में उनके विषय में वर्णन मिलता है। गुलाब सुजस की 16 गीतिकाएं हैं उसकी 16 वीं गीतिका में गुलाब सती के व्यक्तित्व का वर्णन काव्य कौशल के साथ किया है वह सचमुच पठनीय है। प्रस्तुत है कुछ पद्य –

पवित्रणी सम पंचम आरे, था चिंहुं तीर्थ नै विश्राम।
बहु समण सत्यां नै साहज्य देइ ज्यां सार्या घणां रा काम।।
खिम्या खड़गधर क्रोध हटायो, फुन खड्ग धारा मग धार।
ख़ाणि सती एक गुणमणि केरी, ग्रही खप कर विद्या –सार।।
सती गुलाब गुण गरिष्ट कर, गिरवा गैहरता धार।
गुरुता गमता ज्ञान प्रमुख जे, ग्रहया गुण बहुत गकार।।
चारित्र विमण गुण चूंप चतुरता, चित मांहि धर्म अति चेल।
चिन्तामणि सम चिन्ता–चूरण, वंछित पूर्ण चित्रा बेल।।
जाणपणो रू जोग शुद्धवर, जपनीय जय जयकार।
जयणा जीव नी जग में जश वर, सोहै इम सात जकार।।
दया दान दम गुण अति सोहै, दर्शण गुण दृढ नेम।
दीप्तिपणों नै दीर्घपणो गुण, दीपै दकार ए एम।।
निर्णय न्याय नीति नम्रता, निपुणता अरू बहु नेक।
नित्य नियम में दृढ निमलता सोहै आठ ननां अतिरेक।।
विनय विवेक विचार विचपण वर वाणी मधुर विज्ञान।

वचन कला रू वर्ण श्रेष्ठअति, सोहै आठ ववा सुविधान।।
इह विध उद्यम कियो अधिकेरो, विद्या अति श्रेष्ठ विनाण।
एक जीभ गुण अथग सती नां, कहा लग करूं बखाण।।

एक–एक वर्ण के आधार पर गुणों की प्रस्तुति आचार्यश्री मघवागणी ने दी है, उनकी महान प्रमोद भावना तो उजागर होती ही है साध्वीप्रमुखा गुणात्मक गुरुता की ऊंचाई भी स्पष्ट परिलक्षित हो रही है। सचमुच साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी धन्य है जिनके सम्बन्ध में आचार्यों की अस्खलित वाणी मुखरित हुई और लेखनी ने इतिहास की रचना की। तेरापंथ धर्मसंघ धन्य है कि ऐसी महान साध्वीप्रमुखा मिली।

तेरापंथ के छठे आचार्यश्री माणकगणी ने मघवा सुजस में प्रसंगोपात्त साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी के व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व को अपना विषय बनाया, वह इस प्रकार है –

सारण वारण प्रतिपालना कांइ करण घणी सावधान।
पूज्य भक्ति करवा घणी कांइ डाही घणी गुणवान।।
प्रबल पुण्यवंती रे श्रमणी कांइ नमण गुणे करी खमणी।
ग्यान ध्यान मे रे रमणी आ वचन – सुधारस वमणी।।
दुक्कर करती रे करणी, जाणै संत सत्यां रै जरणी।
तारक बहु नी रे तू तरणी, आ तो मुक्त सुखां नै भरणी।।
बखाण वाणी बांचण नै गणी नै स्हाज हुंतो श्रीकार।
कंठकला वा रूप पंडिताई जन कहै अधिक गुण च्यार।।

तेरापंथ के नवमाचार्यश्री तुलसी ने इस महान आत्मा का स्मरण करते हुए एक गीत लिखा है, वह भी साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी के गौरव को उजागर करने वाला है –

सुमरो सती गुलाबां
श्रमणी–गण री विमल–विभूति स्थिर प्रतिभा अभिताभां
सुमरो सती गुलाबां

1. श्री मघवा री बा सहोदरी हरी भरी नित रहती,
महासती सरदार–भार अनिवार भुजा पर बहती।
सरस्वती–सो रूप अनूपम मिलै न धरती आभां।।

2. गीर्वाणी वाणी में विदुषी हुसी प्रथम सतियां में,
खुशी खुशी शेमुषी बढाई हर निशि दिन हर यामे,

सहज सादगीमय जीवन विश्वास न रोब–रबाबां।।

3. सब स्यू छोटी वय में संयम–लय में जय–पय पायो,
अनुशासन–दृढता रो विस्मय–बोधक दृश्य दिखायो।
छिपै न ज्योतिर्मय चिन्मयता अन्तर आभा–गाभां।।

4. जयाचार्य–चरणा री करूणा वरणां क्यूकर वरणूं
जोड़–भगवती री रचना रो सीन स्वयं आकरणू
मिलै न जोड़ी लम्बी चौड़ी पढल्यूं कित्ती किताबां।।

5. स्वल्पायू में स्वर्ग सिधाया दोनूं भगिनी–भ्राता
श्री कालू–मुख वृत्त सुणातां म्हे अवाक् रह ज्याता।
मधुर स्मृतियां उभरै 'तुलसी' मुश्किल मन नै ढाबां।।

3. साध्वी चांदकंवर जी (बीकानेर) (274)

साध्वी चांदकंवरजी के पिता का नाम हस्तीमलजी गोलछा था। उनका विवाह बीकानेर के डागा परिवार में हुआ। उनकी अवस्था जब पन्द्रह वर्ष की थी तब साधु साध्वियों के सम्पर्क से उनके मन में वैराग्य की भावना तीव्र हुई और दीक्षा के लिए उद्यत हो गई। उनकी मां का नाम बरजूजी था, उनकी भी दीक्षा की भावना प्रबल थी। मां और बेटी दोनों ने दीक्षा लेने का तय किया सं. 1908 चैत्र कृष्णा सप्तमी को। अष्टमी के दिन उन्होंने आजीवन शीलव्रत स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन अचानंक उनके पति का परदेश में स्वर्गवास हो गया। जिसका समाचार चैत्र शुक्ला 3 को मिला। परिजनों को शोक होना स्वाभाविक था परन्तु पूरे घटनाक्रम को देखकर समझदार व्यक्तियों ने कहा- मौत तो किसी के वश की बात नहीं है, पर सती को पहले ही ऐसा सूझ गया और उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया। यह महान आश्चर्य की बात है।

इस घटना ने चान्दकंवरजी के मन में वैराग्य को और तीव्र बना दिया। उन्होंने अत्यन्त आग्रह पूर्वक अपने ससुराल वालों की आज्ञा प्राप्त की। उसके तत्काल बाद सं. 1908 वैशाख शुक्ला सप्तमी को पन्द्रह वर्ष की नाबालिक अवस्था में जयाचार्यश्री के कर-कमलों से दीक्षा प्राप्त की। उनका दीक्षा-संस्कार बीदासर में हुआ। उनके साथ उनकी मां बरजूजी तथा छोटी बहिन हरखूजी ने भी चारित्र ग्रहण किया। उस दिन बीदासर की एक बहिन मोतांजी भी दीक्षित हुई।

साध्वीप्रमुखा सरदारांजी ने सं. 1926 में तेवीस नए सिंघाडे बनाए उनमें एक नाम साध्वी चांदकंवरजी का था। उनका मेवाड़ में विहरण हुआ। उस सयम चितौड़ के कोठारी परिवार की जुहारा बाई उनके सम्पर्क में आई। उन्होंने साध्वियों से गुरु धारणा की और कई थोकड़े आदि कंठस्थ किए। उनका विवाह वहीं सकलेचा परिवार में हुआ। उन्होंने स्थानकवासी सम्प्रदाय छोड़कर दीक्षा ली, ऐसा उनके ख्यात में उल्लेख है पर किससे ली कहां ली यह उल्लेख नहीं है। दीक्षा संवत 1928 है। पर मुनि छोगजी कृत 'जय-छोग सुजस' में इस सन्दर्भ में वर्णन किया गया है। उन्होंने लिखा है -

चांदकंवर बिकाण स्यूं चंगी, ल्याई जुहार नै परखी।
बावीस टोलां स्यू सट समझाई, भेंट निजरां निरखी॥

उक्त पद्य से स्पष्ट है कि साध्वी चांदकंवरजी ने उनको दीक्षा दी। सं. 1928 में उनका चातुर्मास बीकानेर में था। संवत् 1987 में मुनिश्री घासीरामजी (दिवेर) को धुलिया

(महाराष्ट्र) में स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य अमोलक ऋषि मिले। उन्होंने मुनिश्री से कहा- मुझे यह मुखवस्त्रिका आपके शासन के प्रताप से मिली है।

मुनि श्री घासीरामजी ने जिज्ञासा के साथ पूछा- कैसे?

तब आचार्य अमलोक ऋषि ने पूरा घटनाक्रम बताते हुए कहा- हमारे दादाजी भोपाल में रहते थे। उनका मूर्तिपूजा में विश्वास था। उनकी शादी चितौड़ के कोठारी परिवार की कन्या जुहारी बाई से हुई। मेवाड़ तेरापंथ का विहार क्षेत्र प्रारंभ से ही रहा है। आपके संघ की साध्वियों के साथ मेरी दादी का गहरा सम्पर्क था। उनसे उन्होंने कई थोकड़े आदि कंठस्थ किए पर शादी के बाद सम्पर्क छूट गया। भोपाल में तेरापंथी साधु साध्वियां का आवागमन होता नहीं था। वहां स्थानकवासी साधु साध्वियां आते रहते थे। मेरी दादी मंदिर न जाकर उनके पास जाने लगी।

कुछ समय पश्चात मेरे दादाजी का देहान्त हो गया। दादीजी की भावना संयम ग्रहण करने की हुई। उन्होंने स्थानकवासी साध्वियों से भोपाल में दीक्षा स्वीकार कर ली। विचरण करती करती वे एक बार थली-बीकानेर गई। तब उन्हें वहां वे ही साध्वियां मिली, जिन्होंने उनको तत्त्वज्ञान सिखाया था। दोनों ने देखते ही एक दूसरे को पहचान लिया। सतियां बोली-जुहारा तू है?

जुहारांजी ने कहा- हां महाराज! मैं वही हूँ।

सतियों ने दूसरा प्रश्न किया- साध्वी कब बनी?

तब उन्होंने (जुहारांजी) अपना सारा अतीत खेलकर सामने रख दिया।

साध्वियों ने पुनः पूछा - जो ज्ञान सीखा था वह याद है? या भूल गई।

जुहांराजी बोली - महाराज! सब कुछ याद है।

तभी एक साध्वी ने कहा- यदि दीक्षा ही लेनी थी तो यहां क्यों नहीं ली।

जुहारांजी अपनी समस्या रखते हुए बोली- भोपाल में आप लोग तो आते नहीं, इसलिए मैंने सोचा इनके पास ही दीक्षा ले लूं

साध्वियों ने सहजता से कहा- अब तो हम मिल गई।

जुहारांजी जिज्ञासा के साथ बोली- क्या अब भी आप मुझे अपने साथ ले सकती

हैं।

साध्वीजी ने सम्यक् प्रतिबोध देते हुए कहा- देखो! तुम्हारा मन हो तो कोई दिक्कत नहीं है। हम तुम्हें अपने साथ मिला सकती हैं पर देखो हमारे जैसी कठोर क्रिया करनी पड़ेगी.....।

अमोलोक ऋषि ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा- पूर्व परिचित होने से श्रद्धा तो उनके मन में थी ही, सतियों की प्रेरणा मिलते ही मेरी दादीजी आपकी सतियों के पास चली गई। हम परम्परा से मूर्तिपूजक थे। दादीजी के स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित होने से मेरे पिताजी स्थानकवासी बन गए। बाद में दादीजी तो आपके तेरापंथ की सदस्य बन गई पर सम्पर्क के अभाव में मेरे पिताजी स्थाकवासी ही रह गए। मेरा यह कथन उपयुक्त है कि- मुझे यह मुखवस्त्रिका आपके शासन के प्रभाव से मिली है।

साध्वी चांदकंवरजी ने चातुर्मास के पश्चात् जयाचार्यश्री के दर्शन मिंडासरी गांव में किए। जयाचार्यश्री उस समय जयपुर से लाडनूँ की ओर पधार रहे थे। उन्होंने नवदीक्षितसाध्वी जुहारांजी को गुरु-चरणों में भेंट किया। उसका वर्णन जय छोग सुजस में इस प्रकार है -

मिंडासरी हिव जनवृन्द संगे जयगणि रे,
बिकाणै री थी शशिकंवर संग रे।

भेंटणो इक, पंच ठाणां स्यूं ल्याविया रे,
जुहार जिसी आ जुहारांजी अजा चंग रे॥

साध्वी जुहारांजी का स्वर्गवास 1944 में हुआ। लगभग 17 वर्ष उन्होंने तेरापंथ में संयम साधना की।

साध्वी चावंदकंवरजी ने 25 वर्ष संयम का पालन किया और पन्द्रह प्रहर के तिविहारी अनशन में संवत 1933 द्वितीय ज्येष्ठ कृष्णा 14 को बीदासर अर्थात् अपने दीक्षा स्थल में पण्डित मरण प्राप्त किया।

4. साध्वी जेतांजी (चितामा) (277)

साध्वी जेताजी मेवाड़ के चितामा गांव की वासिनी थी। उन्होंने पति के दिवंगत होने पर अपनी पुत्री नाथांजी के साथ साध्वी दीपांजी (90) के पास चितामा में दीक्षा ग्रहण की। सं. 1908 ज्येष्ठ शुक्ला 3 को दीक्षित हुई और वे साध्वी दीपांजी के संरक्षण में उनके सिंघाड़े में रही।

उनकी तपस्या में अत्यधिक रूचि थी। दीक्षा लेते ही उन्होंने दीर्घ तप तपना प्रारंभ कर दिया। उपवास से लेकर साढे छहमासी तक की तपस्या का लम्बा चौड़ा विवरण है, जिसे पढकर रोमांच पैदा होता है। आंकडे आश्चर्यकारी है। उनकी ख्यात में वर्णित तपस्या में और शासन प्रभाकर में लिखे आंकडों में कुछ अंतर है। अतः यहां दोनों प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

ख्यात के अनुसार		शासनप्रभाकर के अनुसार		
उपवास	512	उपवास	1106	
बेला	37	बेला	77	
तेला	5	तेला	18	
चौला	13	चौला	26	
पांच	3	पांच	2	
सात	1	सात	1	
नव	2	आठ	1	
पन्द्रह	1	नव	3	
पच्चीस	1	ग्यारह	1	
तीस	1	पन्द्रह	1	
इकतीस	1	तीस	3	
पैंतालीस	1	इकतीस	1	
साठ	1	बत्तीस	1	
तिरेसठ	1	पैंतालीस	1	
पचहत्तर	1	साठ	2	
एक सौ सत्तर	1	तिरेसठ	1	
एक सौ अस्सी	1	पचहत्तर	1	
एक सौ पचाणवे	1	एक सौ सत्तर	1	आछ के आगार से
		एक सौ अस्सी	4	आछ के आगार से

शासन प्रभाकर में वर्णित तपस्या की तालिका वर्षानुक्रम से वर्णित है। ख्यात और शासनप्रभाकर में वर्णित तपस्या की तालिका में भिन्नता का कारण यह है कि ख्यात में सं. 1943 तक के आंकड़े ही है। जब कि शासन प्रभाकर में उनके जीवन पर्यंत अर्थात 1952 तक की तपः साधना वर्णित है। तपस्या पानी और आछ दोनों से की गई है। तपस्या के साथ–साथ त्याग प्रत्याख्यान भी बहुत करती थी। तीन साल तक दूध, दही का वर्जन किया। नौ साल तक सेलड़ी वस्तु (जिस पदार्थ में गुड़ शक्कर चीनी मिली हो वह पदार्थ) का प्रत्याख्यान किया। नौ वर्ष तक उन्होंने तली हुई चीज मात्र के उपयोग का त्याग किया, महीने में पांच दिन का अपवाद रखकर।

साध्वी जेतांजी ने अपनी पुत्री नाथांजी के साथ दीक्षा ली। साध्वी नाथांजी ने अग्रगामी बनकर संघीय विस्तार में योगदान दिया और अपनी छोटी बहिन साध्वी रायकंवरजी को चितामा में सं. 1916 में दीक्षित किया। साध्वी रायकंवरजी प्रभावशाली दाठीक साध्वी थीं। साध्वी जेतांजी ने अपनी पुत्री साध्वी रायकंवरजी के सिंघाड़े में सं. 1944 से 1952 तक जयपुर में स्थिरवास किया। सं. 1948 में मघवागणी का और 1952 में माणकगणी का जयपुर चातुर्मास हुआ। इन दोनों चौमासों में उन्हें गुरु–सान्निध्य का सहज मौका मिल गया।

सं. 1952 मिगसर कृष्णा 6 को उनको शारीरिक असाता का ज्यादा अनुभव हुआ। उन्होंने साध्वी रायकंवरजी के सामने अनशन की भावना व्यक्त की। साध्वी रायकंवरजी ने दूसरे दिन सूर्योदय के बाद दो घड़ी तक चारों आहार का त्याग करा दिया, पर उन्होंने अपने मन से आजीवन त्याग कर लिया। जैसे ही दो घड़ी दिन चढने के बाद साध्वी रायकंवरजी ने उन्हें पानी पिलाना चाहा, तब उन्होंने मुंह फेर लिया और चारों अंगुलियों को उठाकर दिखाते हुए कहा – मैंने चारों आहार का त्याग कर लिया है। सात दिनों के चौविहार अनशन में सं. 1952 मिगसर कृष्णा 12 को वह सानन्द स्वर्गस्थ हो गई।

5. साध्वी झूमांजी (सिरेवड़ी) (279)

साध्वी झूमांजी मेवाड़ की वीर पुत्री थी। उनका ससुराल सिरेवड़ी गांव में था और पीहर कुंदवा में था। पति वियोग के बाद साध्वी दीपांजी (90) द्वारा दीक्षा ग्रहण की। ससुराल का चाहवत गोत्र और पीहर का मांडोत था। उनकी बड़ी दीक्षा चार महीने से हुई। वे उच्चकोटि की तपस्विनी साध्वी थी। उन्होंने छह बार छहमासी तपकर धर्मसंघ में अभूतपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया। जो इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। उन्होंने छोटी–छोटी तपस्या बहुत की होगी पर जो उपलब्ध है। वह तालिका इस प्रकार है –

बेला	62	तेरह	1
तेला	10	सतरह	1
चोला	10	इक्कीस	2
पंचोला	22	बाईस	1
छह	1	तेईस	1
सात	1	तीस	6
आठ	6	बत्तीस	2
नौ	1	साठ	1
दस	1	सवाचारमासी	2
		छहमासी	6

ख्यात में इनकी स्वर्गवास संवत 1939 लिखा है पर गोगुन्दा से पचपदरा के श्रावकों के नाम दिए प्राचीन पत्र में जो उल्लेख किया है – वह इस प्रकार है – साध्वी रंगूजी (215) ने सं. 1941 का चातुर्मास गोगुन्दा किया। वहां उनके साथ साध्वी झूमांजी ने श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को मासखमण तप का पारणा किया और वे उसी दिन दिवंगत हो गईं। वे ये ही झूमांजी थी, ऐसी प्रबल संभावना है।

6. साध्वीं गुलाबांजी (लाडनूँ) (288)

आचार्य भिक्षु के युग में जब चन्द्रभाणजी और तिलोकचंदजी संघ से पृथक होकर सर्व प्रथम लाडनूँ की ओर गए। उन्होंने अपने वाक्चातुर्य का वहां भरपूर उपयोग किया। परिणाम स्वरूप लाडनूँ के अनेक परिवार उनसे प्रभावित हुए। कहना चाहिए कि वे मुनिद्वय- लाडनूँ में अपना अड्डा जमाने में एक हद तक सफल हो गए। लाडनूँ में जैन परिवार का अस्तित्व उस समय भी था। लाडनूँ शहर दो भागों में बंटा हुआ है। उसके ऊपरी भाग में दुगड़ों की पोल है। उसमे निवास करने वाले परिवारों में एक परिवार था डायमलजी दूगड़ का। उन्होंने उस समय चन्द्रभाणजी तिलोकचंदजी से गुरु धारणा स्वीकार की। जब तेरापंथ धर्मसंघ के तृतीयाचार्यश्री रायचंदजी संवत् 1887 में थली प्रदेश की ओर पधारे तब लाडनूँ पधारना हुआ। पूज्य ऋषिराय के प्रवास से लाडनूँ के वातावरण में एक प्रभावी प्रेरक बदलाव आया। उनके उपदेश और सम्पर्क से उस समय कई परिवारों ने तेरापंथ की गुरुधारणा की। उस वक्त साधु-साध्वियों का प्रवास सरावगियों के बड़े मन्दिर में अथवा उनके आस-पास होता था। कहा जाता है कि ऋषिराय के प्रथम प्रवास में सत्तर (70) परिवारों ने तेरापंथ की गुरुधारणा की।

डायमलजी दुगड़ के दो पुत्र थे- शिवजीरामजी और मगनीरामजी। शिवजीरामजी की धर्मपत्नी का नाम था- गुलाब बाई। गुलाब बाई सरदारशहर के पार्श्ववर्ती सुवाई ग्राम के चिण्डालिया परिवार की पुत्री थी। वे स्वभावत: धार्मिक प्रवृत्ति की थी। उन्हें वैराग्य प्राप्त था पर दुगड़ परिवार की आस्था चन्द्रभाणजी तिलोकचंदजी की थी, अत: कठिनाई पैदा हो गई। ज्योंही ऋषिराय महाराज का लाडनूँ पदार्पण हुआ, आस्था के समीकरण बदल गए और दुगड़ परिवार पर तेरापंथ धर्मसंघ की मुहर लग गई।

शिवजीरामजी के सन्तान नहीं थी, उनके छोटे भाई मगनीराजी के एक पुत्र था, उनका नाम था- दुलीचन्दजी। जिन्हें दुलजी के नाम से अधिक प्रसिद्धि मिली। वे अक्खड़ प्रकृति के व्यक्ति थे। वैसे दुलीचंदजी मगनीरामजी के पुत्र थे पर वे अपने बाबा शिवजीरामजी के गोद आए हुए थे। शिवजीरामजी का उन पर अत्यधिक स्नेह था। दोनों के पारस्परिक व्यवहार को देखकर वे दत्तक पुत्र है, ऐसा कोई नहीं कह सकता था। गुलाब बाई ने अवसर देखकर अपनी दीक्षा लेने की भावना पति के सामने प्रस्तुत की। वे सहज सरल प्रकृति के थे। उनकी धार्मिक आस्था अच्छी थी। गुलाब-बाई के मुख से वैराग्य की बात सुन उन्होंने सहज भाव से कहा- पुत्र एवं पुत्रवधू ने घर संभाल लिया है, इसलिए यदि

दीक्षा के भाव हो तो दीक्षा ले सकती हो। उन्होंने मौखिक रूप से ही स्वीकृति नहीं दी, आज्ञा पत्र हस्ताक्षरित कर सौंप दिया।

सं. 1878 गुलाब बाई एवं शिवजीरामजी के ब्रह्मचर्य की साधना चल रही थी। यह साधना उनकी गुप्त रूप में चल रही थी। सं. 1894 में हेमराजजी स्वामी के समक्ष प्रकट रूप में ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। सामायिक पौषध, ध्यान, स्वाध्याय के साथ-साथ उपवास बेला तेला आदि तपस्या भी वे बहुत करती थी। गृहस्थावस्था में जो तपस्या की, उसका क्रम निम्न है-

बेला	—	1	दस	—	2
तेला	—	2	तेरह	—	1
चोला	—	25	चवदह	—	1
पांच	—	2	पन्द्रह	—	1
सात	—	1	अठारह	—	1
आठ	—	1			

उन्होंने कई थोकड़े कंठस्थ किए और वे तत्त्वचर्चा में तर्क प्रवण एवं ज्ञान सम्पन्न थीं। उन्होंने श्रावक के बारहव्रत ग्रहण किए और जागरूकता के साथ उनकी आराधना की।

गुलाब बाई अपने पति के हाथ से लिखित आज्ञा पत्र प्राप्त कर निश्चिंत हो गईं। वे हमेशा सोते समय आज्ञापत्र को अपने तकिए के नीचे रखकर चैन से सोती। जब दूलजी को इस बात की जानकारी मिली तो वे दौड़े-दौड़े अपनी मां के पास आए। उन्होंने वह आज्ञा पत्र अपनी मां से ले लिया और आवेश में बोले- मेरी मां को मेरी अनुमति के बिना कौन दीक्षा दे सकता है। पुत्र की धमकी से गुलाब बाई का संकल्प डिगा नहीं, प्रत्युत उन्होंने दूसरा संकल्प और कर लिया कि जब तक आज्ञा पत्र मेरे हाथ में नहीं आएगा, मैं तपस्या करूंगी, पारणा नहीं करूंगी। इधर दूलजी भी अपने प्रण पर अडिग रहीं। उन्होंने आज्ञा पत्र अपने पास में रख लिया। शिवजीरामजी ने गुलाब बाई की उदास मानसिक स्थिति देखी और दूलजी का आग्रह देखा तो उन्होंने आज्ञा-पत्र की नकल लिखकर अपनी पत्नी के हाथों में थमा दी, पर इसकी जानकारी अपने पुत्र को उन्होंने नहीं दी।

सं. 1909 का जयपुर चातुर्मास सम्पन्न कर जयाचार्य मेवाड़ की ओर पधारे। उस

समय गुलाब बाई के पितृपक्ष के सदस्य गुरुदर्शन करने के लिए मेवाड़ जा रहे थें, गुलाब बाई भी उनके साथ मेवाड़ दर्शनार्थ रवाना हो गई। उस समय यात्रा रथ, ऊंट आदि से की जाती थी। जयाचार्यश्री उन दिनों मेवाड़ के छोटे बड़े गांवों में भ्रमण कर रहे थे। जयाचार्यश्री आमेट होते हुए केलवा पधारे। गुलाब बाई भी डेढ़ महीने से निरन्तर सेवा में थीं। केलवा के ठाकुर साहब ने जयाचार्यश्री के दर्शन किए। उन्होंने निवेदन किया- हमने सुना है कि तेरापंथ का प्रारंभ केलवा की धरती पर हुआ है। आचार्य भिक्षु ने पहला चातुर्मास भी यहीं किया। लेकिन वे सारे दृश्य हम नहीं देख पाए। हमारा निवेदन है कि उसकी एक झलक आप हमें भी दिखाने की कृपा करें। जयाचार्यश्री ने अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए कहा- इस बार का चातुर्मास हमने नाथद्वारा के लिए घोषित कर दिया है।

तभी ठाकुर साहब ने तथा उनके पास बैठे लोगों ने कहा- आचार्य भिक्षु तथा उनके सहयोगी मुनियों की यही दीक्षा भूमि है, इसलिए आप इस प्रवास में दीक्षा महोत्सव हमें भी दिखा दीजिए। जयाचार्यश्री ने सहज भाव से कहा- यहां कोई दीक्षा लेने वाला हो तो दीक्षा दें.....। अवसर देख सेवा में उपस्थित गुलाब बाई ने जयाचार्यश्री से प्रार्थना की- कृपा कर इस अवसर पर मुझे दीक्षा रत्न प्रदान कराएं। उनके पास आज्ञा पत्र है, यह बात जयाचार्यश्री की जानकारी में थी। तेरापंथ की दीक्षा में परिवार के प्रमुख व्यक्ति की लिखित आज्ञा जरूरी होती है, यदि वह न हो तो दीक्षा का प्रश्न ही नहीं होता। उस समय जयाचार्यश्री के लिए चिन्तन को अवकाश नहीं था। बहिन की भावना बलवती थी, वैराग्य भाव प्रखर था। तत्काल दीक्षा की स्वीकृति प्रदान कर केलवा के ठाकुर साहब तथा पुरजनवासियों की भावना साकार की।

सं.1910 जेठ कृष्णा 8 को केलवा के गढ़ में श्रीमज्जयाचार्यश्री के कर-कमलों से गुलाब बाई की दीक्षा सम्पन्न हुई। उस समय संचार संसाधनों का अभाव था, इसलिए दीक्षा की जानकारी उनके ससुराल पक्ष वालों को तथा अन्य परिजनों को नहीं भेजी जा सकी। गुलाब बाई के माता एवं पिता साथ में थे। उन्होंने उत्साह और धूमधाम के साथ दीक्षा के ओच्छब-मोच्छब मनाएं और अपने गांव की ओर रवाना हो गए। बीच में लाडनूँ आया। उन्होंने दुगड़ परिवार द्वारा गुलाब बाई के साथ भेजे गए ऊंट, रथ आदि उन्हें संभलाए और गुलाब बाई के कपड़े-गहने-जेवरात आदि जो भी सामग्री उनके पास थी, दुगड़ परिवार को सौंप दी और दीक्षा के सारे समाचार सुना दिए।

उनके पति शिवजीरामजी ने दीक्षा की बात सुन प्रसन्नता व्यक्त की पर जब दूलजी

को सारी स्थिति की जानकारी मिली, उनका आवेश सातवें आसमान पर चढ़ गया। उन्होंने कहा- मेरी आज्ञा के बिना मेरी मां की दीक्षा कैसे हुई और किसने दी? आज्ञा पत्र मां के पास था, यह जानकारी दूलजी को नहीं थी। शिवजीरामजी ने धैर्य के साथ सारी बात समझाने का प्रयत्न किया पर सब बेकार गया। वे रोष और मोह में बेभान से हो गए। उनके दिमाग पर क्रोध का भूत सवार था, इसलिए केवल एक ही बात की रटन लगाते रहे-मेरी आज्ञा के बिना मेरी मां को दीक्षा क्यों दी?

उन्होंने पांच ऊंट तैयार किए। ऊंट सवारों में मोहिल जाति के राजपूत थे जो लड़ाकू और वीर कहलाते थे। वे भाले, बरछी आदि शस्त्रों से सज्जित थे। दो ऊंट पर ठाकर थे और एक पर स्वयं दूलजी थे। इस प्रकार सजधज कर दूलजी मेवाड़ की ओर चल पड़े। उस समय जयाचार्यश्री राजनगर में प्रवास कर रहे थे। ज्योंहीं राजनगर के बाजार में सुसज्जित ऊंट और उन पर बैठे राजपूतों को लोगों ने देखा, उन्हें लगा कोई लुटेरे आए हैं। सभी ने फटाफट अपनी दुकानें बन्द करनी प्रारंभ कर दी। जब उन्होंने पूछा- जयाचार्यश्री कहां विराज रहे हैं? तो पता चला कि ये तो श्रावक हैं। लोगों ने राहत की सांस ली।

दूलजी जयाचार्यश्री के उपपात में पहुंचे, उन्हें वन्दना करनी तक याद नहीं आई। एक ही तकरार करते हुए कहा- आपने मेरी मां को दीक्षा क्यों दी? आपने मेरी मां को क्यों मुंडा?

शान्त धीर मुद्रा में विराजित जयाचार्यश्री ने कोमल शब्दों में पूछा- तुम कौन हो? उन्होंने उत्तर की भाषा में कहा- मैं लाडनूँ का दूलीचंद दुगड़ हूँ। आपने मेरी मां को दीक्षा दी तो क्यों दी? जयाचार्यश्री ने आग्रही मनोवृत्ति और आवेश की स्थिति पर पानी की बून्दें डालते हुए शांत आवाज में कहा- अपनी मां से ही मूछ लो।

दूलजी वहां से उठे और अपनी मां साध्वी गुलाबांजी के पास साध्वियों के ठिकाने पहुंचे। दूलजी की रोषारुण स्थिति देखकर साध्वी गुलाबांजी ने बहुत समझाने का प्रयत्न किया पर बात ज्यों की त्यों बनी रही। तभी साध्वीप्रमुखा सरदारांजी ने कहा- इसमें आपको आपत्ति क्या है?

दूलीचंदजी ने बिना किसी लाग-लपेट के अपना अन्तर खोलते हुए कहा- दुलिए की मां मांग-मांगकर खाए, यह मुझे बर्दाश्त नहीं हो सकता।

दूलजी के रिसते घाव पर मरहम लगाते हुए साध्वीप्रमुखा सरदारांजी ने कहा- तुम्हारी मां को यदि मांगने के लिए ही न भेजे तो.....। वे शीघ्रता से सहमति प्रकट करते हुए बोले-तब मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

साध्वीप्रमुखा उसी समय जयाचार्यश्री की सन्निधि में पहुंची। दूलीचंदजी भी साध्वीप्रमुखा के साथ-साथ जयाचार्यश्री के उपपात में आ गए। उनके सामने ही साध्वीप्रमुखा ने साध्वी गुलाबांजी के सन्दर्भ में जो दूलजी को आपत्ति थी, स्पष्ट शब्दों में बता दी। साध्वीप्रमुखा ने साध्वी गुलाबांजी को गोचरी से मुक्त करने की प्रार्थना की। जयाचार्यश्री ने उसी समय आदेश की भाषा में कहा- ''साध्वी गुलाबांजी आज से भिक्षा के लिए नहीं जाएगी।'' यह सुनते ही दुलीचंदजी की जुबान पर ताला लग गया। अब बोलने का कोई आधार नहीं था, पर उनके अन्तस की टीस अभी भी उनको बेचैन बना रही थी। वे पुनः लाडनूँ लौट आए।

इस घटना के पश्चात् दूलजी के मन में साधु-साध्वियों के प्रति वितृष्णा के भाव भर आए। उन्होंने साधु-साध्वियों के पास जाना छोड़ दिया और धर्म के प्रति रुचि कम हो गई।

जयाचार्यश्री द्वारा गोचरी की छूट मिलने पर साध्वी गुलाबांजी के मन में उथल-पुथल मच गई। उन्हें आत्मग्लानि की अनुभूति होने लगी। उनके मन में चिन्तन उभरा- क्या मैं संघ के लिए भार बनकर ही साध्वी बनी हूँ। इस चिन्तन से प्रेरित होकर उन्हें लगा यह तो ठीक नहीं है। भार बनकर नहीं मैं उपहार बनकर जीऊं तभी दीक्षा लेने की सार्थकता है। इसलिए उन्होंने तपस्या करने का मानसिक संकल्प उसी समय कर लिया और क्रियान्विति के पथ पर चल पड़ी। प्रथम महीनें में एकान्तर किए। दूसरे महिनें में बेले-बेले तपस्या की और तीसरे महीने तेले-तेले तप प्रारंभ किया। यह क्रम आगे से आगे बढ रहा था, तभी उनके शरीर में अचानक असाता वेदनीय का उदय हो गया।

साध्वी गुलाबांजी की अस्वस्थता का संवाद मिलते ही जयाचार्यश्री उन्हें दर्शन देने पधारे। तब साध्वी गुलाबांजी ने संथारा करने की भावना व्यक्त की। शारीरिक क्षीणता, दृढ़ मनोबल और तीव्र भावना देख उचित समय पर जयाचार्यश्री ने महती करुणा कर उन्हें सागारी अनशन पचखा दिया। मात्र दो मुहूर्त्त का संथारा आया। इस प्रकार सं. 1910 की भाद्रव कृष्णा दशमी को नाथद्वारा में साध्वी गुलाबांजी पण्डित मरण को प्राप्त हो गईं। उन्होंने 93 दिन संयम पर्याय का पालन कर अपना कार्य सिद्ध कर लिया। जयाचार्यश्री ने

उनके गुणों की एक गीतिका बनाकर उनके जीवन का आद्योपांत वर्णन कर तेरापंथ इतिहास में अमर बना दिया।

जिस दिन साध्वी गुलाबांजी दिवंगत हुईं उसी रात्रि में उनके पुत्र दूलीचन्दजी को लाडनूँ में आभास हुआ जैसे उनकी मां गुलाबसती की आवाज आ रही है। उन्होंने कहा– ''दुलीचंद मैंने तो 93 दिन में आत्म कल्याण कर दिया है पर तुम खाली ठीकरे की तरह रह गए हो। धर्मसंघ पर आस्था रख, विश्वास को मजबूत बना, सब कुछ ठीक हो जाएगा।''

जिधर से आवाज आ रही थी, उसी दिशा में दूलजी ने ध्यान से देखा– उन्हें थोड़ा सा प्रकाश दिखाई दिया। वे उसी समय बिस्तर से उठे और संकल्प के साथ अपनी चादर में गांठ लगाई कि आज के बाद संघ के विपरीत कोई कार्य नहीं करूंगा और संघ का वफादार सेवक बन कार्य करूंगा।

इतिहास साक्षी है कि दूलजी दुगड़ ने भक्ति और शक्ति से जो संघ की सेवा की, वह स्वर्णाक्षरों में सदा जीवित रहेगी। आचार्य तुलसी ने शासन गीत में उनका नामोल्लेख करते हुए लिखा है–

भक्ति दूगड़ दूलजी री

सं. 1920 में मुनिपत जी दीक्षा के प्रसंग में जोधपुर दरबार के द्वारा जयाचार्यश्री पर जारी वारंट के सन्दर्भ में दूलजी दूगड़ का साहस और शौर्य भी संघीय इतिहास का अनमोल पृष्ठ बना हुआ है।

7. साध्वी लालांजी (बागोर) (299)

साध्वी लालांजी बागोर के डागा परिवार की बहु और बोराणा के बाबेल परिवार की पुत्री थी। उन्होंने सं. 1911 बैसाख शुक्ला 13 को साध्वी नवलांजी के हाथ से बागोर में दीक्षा ली।

सं. 1927 के शेषकाल में जयाचार्य जयपुर पधारे। वहां आचार्यप्रवर ने साध्वी लालांजी का सं. 1928 का चातुर्मास माधोपुर फरमाया। उन्होंने जयपुर से माधोपुर की ओर विहार भी कर दिया लेकिन रास्ते में अत्यधिक वर्षा होने से नदी नालों में पानी भर गया और आगे जाने के मार्ग अवरुद्ध हो गए। वे आगे नहीं जा सकी। पुनः जयाचार्यश्री के चरणों में जयपुर पहुंच गई। उस वर्ष जयाचार्यश्री का चातुर्मास जयपुर था, उन्हें भी सहज सेवा का सौभाग्य मिल गया।

एक बार साध्वी लालांजी ने रावलिया में चातुर्मास किया। चातुर्मास के पश्चात उन्होंने जयाचार्यश्री के दर्शन किए। उस समय युवाचार्यश्री मघवा ने साध्वियों से पूछा – चातुर्मास में सुखसाता रही? उन्होंने विनम्र शब्दों में अपनी बात रखते हुए कहा –

गाम रावलियां कीधो चौमासो बखांण वाणी तो बहु करिया।
हला डला तो हुआ घणेरा, चोर नाहर सूं बहु डरिया।।

रावलियां में व्याख्यानादिक की चहल–पहल बहुत अच्छी रही। पर चोर तथा नाहर आदि हिंसक जानवरों का भय सदा बना रहा।

8. साध्वी मगदूजी (पीपली) (301)

साध्वी मगदूजी का ससुराल पीपली के दक परिवार में तथा पीहर ताल के दलाल परिवार में था। पति के दिवंगत होने के बाद उन्होंने मुनि जीवराजजी बड़ा के हाथ से दीक्षा सं. 1912 ज्येष्ठ कृष्णा 10 को ताल गांव में हुई। साध्वी मगदूजी संयम साधना के साथ कला साधना में रूचि रखती थी। तेरापंथ धर्मसंघ में साध्वी समाज द्वारा बनाया गया पहला चित्र साध्वी मगदूजी का मिलता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि साध्वी मगदूजी तेरापंथ की प्रथम कलाकार साध्वी थी। उनके द्वारा बनाया गया चित्र स्वस्तिक आदि अष्टमंगल का है जिसके पीछे लिखा है –

"सं. 1913 मिगसर मासे मगदूजी पीपली वाला कीधो। महासत्यांजी महाराजश्री सरदारांजी विविध रंग आदि चतुराई कला बताई।।"

9. साध्वी केसरजी (मांडा) (314)

साध्वी केसरजी मांडा (मारवाड़) निवासिनी थी। उनका गोत्र भंडारी था। उन्होंने अपने पिता मुनि छजमलजी, माता साध्वी उमेदांजी तथा भुआ साध्वी कुन्दनांजी के साथ संवत 1914 भाद्रव शुक्ला दशमी का जयाचार्यश्री के कर-कमलों से बीदासर में भागवती दीक्षा स्वीकार की।

साध्वी केसरजी यद्यपि अधिक पढ़ी लिखी नहीं थी पर साधुचर्या में जागरूक बन उन्होंने जो चतुर्मुखी विकास किया वह असाधारण था। वे कुशाग्र बुद्धि साध्वी थी। उन्होंने कंठस्थ ज्ञान के साथ-साथ जैन-आगमों का गहन अध्ययन किया। वे तत्त्वज्ञान के सन्दर्भ में चर्चा करने में दक्ष थी। उनकी व्याख्यान शैली प्रभावशाली और आकर्षक थी। उनका व्यक्तित्व विविध विशेषताओं का संगम था।

तेरापंथ धर्मसंघ में कला के उदय की कहानी चतुर्थ आचार्य जयाचार्यश्री के युग में प्रारंभ हुई। कला-संसार की पहली ईंट कौन बनी यह आज भी शोध का विषय है। साध्वी केसरजी एक कलाकार साध्वी थी। वे कला में सिद्धहस्त थीं। उन्होंने सिलाई कला, रंगाई कला, रजोहरण-कला और लिपिकला में विशेष दक्षता प्राप्त की। उन्होंने लगभग डेढ़ किलोवजन के पत्र अपने हाथ से लिखें।

सं. 1926 में फाल्गुन शुक्ला 11 को साध्वीप्रमुखा सरदारांजी ने साध्वियों के 23 नए सिंघाडे बनाए। उनमें एक नाम साध्वी केसरजी का था। साध्वीजी अपने युग की प्रतिभा सम्पन्न और प्रभावशाली साध्वी थी अतः अग्रगामी बनकर जिन-जिन क्षेत्रों में विहरण किया, संघ की विशेष प्रभावना हुई। विधिवत अग्रगामी बनने के बाद भी वे चार वर्ष तक आचार्य श्री की सेवा में रही।

संवत 1931 में उनका चातुर्मास रतनगढ़ में था। वहां संवत्सरी के दिन भाई बहिनों में 200 पौषध हुए, ऐसा एक प्राचीन पत्र में लिखा हुआ है।

संवत 32 के मर्यादा महोत्सव पर जयाचार्यश्री ने साध्वी केसरजी से कहा- तुम्हारे परिवार के बहुत साधु साध्वियां हुए हैं, वर्तमान में कोई दीक्षार्थी है क्या? साध्वी केसरजी ने निवेदन किया गुरुदेव। इन वर्षों में मांडा की ओर जाना नहीं हुआ, इसलिए कुछ कह नहीं सकती। जयाचार्यश्री ने आदेश की भाषा में कहा- "इस वर्ष तुम मांडा में चातुर्मास करना और किसी को योग्य देखकर दीक्षा के लिए तैयार करना।" साध्वीजी ने गुरु वचनों

को ब्रह्मवाक्य के रूप में स्वीकार कर वहां से विहार किया। जिस समय साध्वी केसरजी ने जयाचार्यश्री से मंगल पाठ सुन प्रस्थान किया, उसी समय जयाचार्यश्री ने सन्तों से कहा- देखो, केसरजी के शकुन कैसे हो रहे हैं? साधुओं ने छत पर जाकर देखा और पुनः आकर निवेदन किया- सामने साग सब्जी से भरी गाड़ी आ रही थी उसके शकुन हुए। जयाचार्यश्री ने कहा- शकुन बहुत अच्छे हुए हैं।

साध्वी केसरजी ने 1933 का चातुर्मास अपनी जन्मभूमि मांडा में किया। बार-बार जयाचार्य के वचन उनकी स्मृति में आते रहे- इस परिवार की बहुत दीक्षाएं हुई है-.....। सचमुच साध्वी केसरजी सहित सात सदस्य दीक्षिए हुए- 1. मुनि छजमलजी, 2. मुनि जोरजी, 3. साध्वी कुनणाजी, 4. साध्वी उमेदाजी, 5. साध्वी केसरजी, 6. साध्वी किस्तूरांजी, 7. साध्वी फूलकंवरजी।

परिचित और प्रभावक साध्वीजी के चातुर्मास से मांडा गांव में अच्छी जागृति हुई पर गुरुवचन साकार नहीं होने से मन में थोड़ा-सा विचार आ रहा था। साध्वी केसरजी ने अपनी भतीजी गंगा को संयमी जीवन की प्रेरणा दी पर वह बालिका इतनी संकोचशील और लज्जालू थी कि साध्वियों के निकट ही नहीं आती थी। चातुर्मास सम्पन्न हो गया। साध्वीजी चातुर्मास का विहार कर पास के गांव में चली गई। एक दिन रात्रि के समय सो रही थी, अकस्मात एक आवाज सुनाई दी- अब मांडा जाओ। साध्वीजी पुनः मांडा पधारी। इस बार बालिका गंगा में एक सहज परिवर्तन दिखाई दिया। वह साध्वियों के समीप आने लगी। साध्वियों की प्रेरणा से वह तत्त्वज्ञान सीखने में अपना समय नियोजित करती। ऐसा करते-करते एक दिन उसने दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की। साध्वीजी का श्रम सार्थक हुआ। गुरु ने जिस उद्देश्य से भेजा वह लक्ष्य फलवान हुआ। प्रसन्नता होनी स्वाभाविक थी। साध्वी केसरजी ने परिजनों को समझाकर उसकी अनुमति ले ली।

उस समय साध्वी नन्दूजी (बडा) का विहार करते-करते मांडा पधारना हुआ। साध्वी नन्दूजी आचार्यश्री भारीमालजी युग में दीक्षित और तेरापंथ धर्मसंघ में कुमारीकन्या के रूप में दीक्षा लेने वाली प्रथम साध्वी थी। उनके हाथों से साध्वी गंगाजी की दीक्षा हुई। उस समय साध्वी गंगाजी मात्र ग्यारह वर्ष की थी। जयाचार्यश्री के युग में दीक्षित होने वाली 25वीं कुमारी कन्या थी। दीक्षा के पश्चात साध्वी केसरजी के सान्निध्य में ज्ञान ध्यान के साथ साधुचर्या का जागरुकता से प्रशिक्षण लिया।

साध्वी केसरजी ने जयाचार्यश्री के दर्शन कर नवदीक्षिता साध्वी गंगाजी को गुरुचरणों

में समर्पित किया। जयाचार्यश्री की सूक्ष्मदर्शी दृष्टि में नवदीक्षिता की शुभ भवितव्यता उतर आई। आपने तत्काल कहा- दीक्षा तो दीपती हुई है। उसी समय युवाचार्य मघवा को वहां बुलाया और प्रसन्न मुद्रा में कहा- केसरजी अपनी भतीजी को दीक्षित करके लाई है। युवाचार्य मघवा ने निदेवन किया- गुरुदेव! बहुत अच्छी बात है, इनको (गंगाजी को) केसरजी के साथ रखाने की कृपा करें। जयाचार्यश्री ने युवाचार्य की प्रार्थना सुन बोले- है तो गुरुकुलवास में रखने योग्य.....आचार्यश्री के इस कथन पर मार्मिक पद्य उद्धृत करते हुए युवाचार्यवर ने कहा -

गज-मुख थी कणको पड़ै, तास न घटै आहार।
तास चिटनका ले चली, पोखन को परिवार॥

हाथी के मुख से भोजन करते समय यदि एक कण धरती पर गिर जाए तो उसका आहार कम नहीं होता पर वही कण मुंह में लेकर चींटी अपने परविार का पोषण कर लेती है। ठीक इसी प्रकार गुरु-कुल में अर्थात् आपकी सन्निधि में बहुत साध्वियां हैं। समय समय पर और भी दीक्षाएं होती रहती है, अत: एक साध्वी को रखने या भेजने से यहां कोई फर्क नहीं पड़ेगा। साध्वी गंगाजी की दीक्षा साध्वी केसरजी के परिश्रम का परिणाम है। साध्वी केसरजी को एक साध्वी की अपेक्षा भी है अत: साध्वी गंगाजी को इनके साथ रखाने की कृपा कराएं तो उपयुक्त रहेगा। युवाचार्यश्री मघवा के विनम्र निवेदन पर जयाचार्यश्री ने नवदीक्षिता साध्वी को साध्वी केसरजी को सौंप दिया।

साध्वी केसरजी के उपपात में साध्वी गंगाजी ने ज्ञान की गंभीरता प्राप्त की, आचार में दक्षता प्राप्त की और अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण किया।

संवत 1936 को साध्वी केसरजी का चातुर्मास सुजानगढ़ था। उस समय जयाचार्यश्री का प्रवास जयपुर में था। जेठ महीने में जयाचार्यश्री के पास से चार साधु संघ से पृथक हो गए। उनमें से एक मुनि नन्दराजजी (228) तो वापिस जयाचार्य की शरण में चले गए और प्रायश्चित लेकर संघ सम्मिलित हो गए। शेष तीन साधु जयपुर से सुजानगढ़ पहुंचे। उनमें एक फौजमलजी मांडा के थे। उनकी भावना में सुजानगढ़ पहुंचते पहुंचते बदलाव आया। साध्वी केसरजी ने प्रयास किया। वे पुन: चारित्र के प्रति आकृष्ट हुए और सुजानगढ़ में प्रवासित साध्वी केसरजी के पास आत्मनिंदा की। वहां से रतनगढ़ आकर मुनि भोपजी (290) के पास दण्ड लेकर गण में आए। वे तीन संत थे- फौजमलजी मांडा, छोगजी छोटा और गिरधारीजी। छोगजी गिरधारीजी वहां से सरदारशहर चले गए।

साध्वी केसरजी कब दिवंगत हुई, यह उल्लेख उनकी ख्यात तथा शासन प्रभाकर में नहीं है पर साध्वी विवरणिका में सं. 1949 कार्तिक शुक्ला 11 को दिवंगत हुई ऐसा उल्लेख है।

पंचमाचार्य मघवागणी ने साध्वी केसरजी की सेवाओं का मूल्यांकन करते हुए उन्हें समुच्चय के वजन की बक्सीस निम्न प्रकार से की –

यदि वे आचार्यों के सेवा में रहे तो एक पोथी वजन की तथा बर्हिर्विहार में अग्रगामी रूप में विहरण करें तो दो पोथी वजन की बक्सीस की।

10. साध्वी रायकंवरजी (चितामा) (328)

साध्वी रायकंवरजी चितामा (मेवाड़) निवासिनी और गोत्र से मांडोत थी। उनकी माता साध्वी जेतांजी तथा बड़ी बहिन साध्वी नाथांजी ने संवत 1908 ज्येष्ठ शुक्ला 3 को साध्वी दीपांजी के हाथ से चितामा में दीक्षा ली। साध्वी जेतांजी और नाथांजी साध्वी दीपांजी के पास में रही। साध्वी जेतांजी के दो पुत्रियां थी- नाथांजी और रायकंवरजी। सं. 1916 में आषाढ़ कृष्णा 11 को साध्वी नाथांजी ने अपनी लघु भगिनी रायकंवरजी को दीक्षा दी, ऐसा आर्यादर्शन ढाल में उल्लिखित है -

चितामा नां जाण, बहिन नाथां समणी तणी।
रायकंवरी पहिछाण, आसाढ़ सुदि ग्यारस दिख्या॥

दीक्षा स्थान कौन-सा गांव था यह अज्ञात है। साध्वी नाथांजी अग्रगामी थी या वैसे ही दीक्षा दी यह भी स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। महासती दीपांजी की ख्यात में लिखा है कि साध्वी नाथांजी अग्रगामी बनी। चातुर्मास स्थानों का वर्णन कहीं भी प्राप्त नहीं है। पर ख्यात में यह भी लिखा है कि वे 1916 तक साध्वी दीपांजी के सिंघाड़े में रही। इस कथन से यह भी संभावना की जा सकती है कि उस वर्ष उन्हें अग्रगामी बना दिया गया हो।

साध्वी रायकंवरजी का सिंघाड़ा 1926 में साध्वीप्रमुखा सरदारांजी द्वारा बनाया गया। साध्वीप्रमुखा ने एक साथ 23 नए सिंघाड़े बनाए, उनमें एक साध्वी रायकंवरजी का था। सिंघाड़ा होने के बाद भी वे कुछ वर्ष गुरुकुल अर्थात् जयाचार्यश्री की सन्निधि में रही ऐसी संभावना है। उनकी ख्यात में लिखा है कि वे प्रभावशाली, दाठीक अगवाणी थी। वे जयपुर में लगभग नौ वर्षों तक लगातार रही क्योंकि उनकी संसारपक्षीय माता साध्वी जेतांजी वृद्धावस्था के कारण विहार करने में अक्षम थी।

उन्होंने अनेक क्षेत्रों में विहरण कर संघीय प्रभावना को बढ़ाने में योगदान दिया। और श्रावक समाज में अच्छा उपकार किया। उन्होंने छह साध्वियों को अपने हाथ से दीक्षित किया-

साध्वी पांचांजी और जमनांजी दोनों कालू की थी। उन्हें संवत 1958 वैशाख शुक्ला 8 को कालू में दीक्षा दी।

साध्वी बखतावरजी मोखणंदा तथा साध्वी सिरदारांजी ताल को संवत 1959 आषाढ़ शुक्ला 8 को मोखणँदा में दीक्षा दी।

साध्वी भूरांजी मोखणंदा और साध्वी हगामाजी चितामा को संवत् 1960 मृगसर कृष्णा 8 को गंगापुर में सामायिक चारित्र प्रदान किया।

साध्वी रायकंवरजी साहसिक निर्भीक और अपना पक्ष यौक्तिक ढंग से रखने वाली दक्ष साध्वी थी। आचार्य श्री तुलसी ने साध्वी रायकंवरजी के कर्तृत्व का माणक महिमा में वर्णन करते हुए लिखा है -

हां रे आ तो रायकुंवरजी दृढ दिल की दाठीक जो,
मूंछाला मर्दां नै दूर बिठावती रे लोय।
हां रे कोई अवसर पर दै प्रत्युत्तर निर्भीक जो,
प्रवचन में शासण नै सदा दृढावती रे लोय॥ माणक महिग पृ.44

उपोक्त पद्य से स्पष्ट है कि उनकी निर्भीकता और प्रत्युत्तर देने की कला अनुपम थी। एक बार साध्वी रायकंवरजी अपनी सहगामी साध्वियों के साथ पद-यात्रा कर रही थी। मार्ग में उन्हें अन्य सम्प्रदाय के आचार्य मिले। उन्होंने साध्वियों पर आक्षेप करते हुए कहा- तेरापंथी साध्वियां कैसे चल रही है? चलते समय इनकी साड़ी (अधोवस्त्र) से आवाज आती है और उससे वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है।

साध्वी रायकंवरजी उक्त बात सुनकर तड़ाक से बोली- हमारी साड़ी के शब्दों से अयतना (हिंसा) होती है और पांच हाथ लम्बे कपाटों (दरवाजों) को भचाभच खोलने और बन्द करने से अयतना नहीं होती, यह न्याय कैसे मिलेगा?

साध्वीजी की स्पष्टवादिता ने वहां उपस्थित सभी लोगों को विस्मित कर दिया। चलते समय वस्त्रों के संघर्षण से जो आवाज होती है, उसके साथ हिंसा का अनुबंध है ही नहीं। फिर भी यदि साध्वीजी समुचित उत्तर नहीं देती तो वहां आसपास खड़े लोगों में एक गलत धारणा जम आती।

साध्वी रायकंवरजी ने अपनी संसारपक्षीय वयोवृद्धा मां साध्वी जेतांजी की अच्छी सेवा की। सं. 1944 से 1952 तक वे उनके लिए जयपुर में रही। अन्त में सागारी अनशन करवा कर अच्छा सहयोग दिया।

साध्वी जेतांजी अपने युग की दीर्घतपस्विनी साध्वी थी। दीक्षित होते ही उन्होंने तप: साधना प्रारंभ कर दी। उपवास से लेकर छह मासी तक लम्बी तपस्याएं कर उन्होंने

एक कीर्तिमान स्थापित किया। उनकी तपस्या के आंकड़े बड़े रोमांचकारी है। देखें-

उपवास	-	512	पन्द्रह	-	1
बेला	-	36	तीस	-	3
तेला	-	5	इकतीस	-	1
चोला	-	13	बत्तीस	-	1
पंचोला	-	3	पैंतालीस	-	1
सात	-	1	साठ	-	2
आठ	-	1	तिरेसठ	-	1
नौ	-	3	पचहत्तर	-	1
ग्यारह	-	1	छहमासी	-	4
			एक सौ सत्तर दिन	-	1

उन्होंने अधिकतर लम्बी तपस्या आछ के आगार से की।

साध्वी जेताजी में तपस्या के साथ त्याग वैराग्य की भावना प्रबल थी। उन्होंने तीस साल तक दूध, दही खाने का त्याग रखा। नौ साल तक सेलड़ी वस्तु (जिस पदार्थ में गुड़ चीनी शक्कर मिली हो) फीकी तली हुई वस्तु नहीं खाई। महीने में पांच दिन का अपवाद था। शासन प्रभाकर में लिखा है -

तीस वर्ष दूध दही रा त्याग पालिया,
नव वर्ष सेलडी री वस्तु का त्याग।
नव वर्ष फीकी विगय तणां,
मास में पांच दिन उपरांत त्याग महाभाग॥ ढाल. 9 गा. 42

साध्वी जेतांजी को अन्तिम समय में आचार्यश्री माणकगणी का सान्निध्य सौभाग्य से प्राप्त हुआ। आचार्यश्री माणकगणी का चातुर्मास जयपुर होने से गुरु सेवा का अमूल्य अवसर उपलब्ध हुआ। सं. 1952 मिगसर कृष्णा 6 को वे अस्वस्थ हुई और अनशन करने की इच्छा व्यक्ति की। साध्वी रायकंवरजी ने सागारी अनशन करा दिया, पर साध्वी जेतांजी ने अपने मन से आजीवन परित्याग कर दिया। दो प्रहर बीतने पर जब उन्हें पानी पिलाने लगे तब उन्होंने मुंह फेर दिया। साध्वियों ने दो प्रहर के त्याग की बात कही तब उन्होंने चार अंगुलियां ऊंची करके चौविहार प्रत्याख्यान का संकेत किया। साध्वियों द्वारा

बार बार पूछने पर कि- क्या चौविहार संथारा कर लिया? उन्होंने स्वीकृति सूचक सिर हिला दिया। आखिर सात दिन के चौविहार अनशन में सं. 1952 मृगसर बदि 12 को रात्रि के समय वे स्वर्गस्थ हो गई।

साध्वी रायकंवरजी साध्वी जेतांजी जैसी दीर्घकालिक तपस्याएं तो नहीं करती थी, फिर भी साधारण तथा अच्छी तप: साधना करती थी। उनकी तपस्या का क्रम निम्न प्रकार है -

उपवास	-	500	आठ	-	1
बेला	-	5	नौ	-	1
तेला	-	3	दस	-	1
चोला	-	5	ग्यारह	-	1
पंचोला	-	1	बारह	-	1
छह	-	1	तेरह	-	1
सात	-	1			

उपरोक्त तपस्या संवत् 1943 तक की है, उसके बाद की तपस्या का विवरण उपलब्ध नहीं होता।

सप्तमाचार्य डालगणी ने साध्वीजी को पांच हजार गाथाएं बक्सीस की। अन्त में उन्होंने दो वर्ष तक चाड़वास में स्थिरवास किया। संवत 1972 वैशाख 1 को चाड़वास में स्वर्गवास हुआ।

11. साध्वीप्रमुखा जेठांजी (चुरु) (340) चतुर्थ साध्वीप्रमुखा

तेरापंथ धर्मसंघ की साध्वीप्रमुखाओं की गौरवशाली और उज्ज्वल परंपरा रही है। उसमें चतुर्थ साध्वीप्रमुखा थी – सेवाभावना और तपःसाधना की प्रतीक साध्वीश्री जेठांजी। उनकी जन्मभूमि थली का सुप्रसिद्ध शहर चुरु था। चुरू की कलात्मक हवेलियां ईसा की 21वीं सदी में देश विदेश के लोगों के लिए आकर्षण का केन्द्र है। उनका जन्म सं. 1901 में हुआ। उनके पिता का नाम सेवारामजी नाहटा था, माता का नाम कानकुमारी था। जेठांजी का बचपन कैसे बीता, शादी कब की, यह वर्णन उपलब्ध नहीं है, पर यह उल्लेख मिलता है कि उनका विवाह बहुत छोटी अवस्था में चुरु निवासी छगनमलजी वैद के साथ हुआ और कुछ वर्षों बाद उनके पति का देहान्त हो गया। जीवन में आए वैधव्य के तूफान को उन्होंने शान्तभाव से सहन किया और विरह व्यथा के घाव पर धर्मध्यान का मरहम लगाने का प्रयत्न किया। नियति का शुभ योग ही मानना चाहिए कि उनको चुरु में साधु साध्वियों का अच्छा योग मिल गया। उनके सम्पर्क से वैराग्य भाव जाग्रत और प्राथमिक ज्ञान से उसे पोषण मिला। सं. 1919 की आषाढ शुक्ला तृतीया को 19 वर्ष की अवस्था में आचार्यश्री जय के कर–कमलों से संयमश्री स्वीकार की।

योग्यता का अर्जन : गुरु का विश्वास

साध्वी जेठांजी श्रीमज्जयाचार्यश्री के पावन सान्निध्य, महासती सरदारांजी के संरक्षण में साध्वाचार का समुचित प्रशिक्षण के साथ अपने जीवन का निर्माण करने लगी। वे गुरु आज्ञा के प्रति सर्वात्मना समर्पित थी तथा गुरु के प्रति एवं गुरु आज्ञा के प्रति उनके मन में सहज प्रीति के भाव थे। गुरु इंगित की आराधना में सजग थी। विनय, विवेक और विचारों की पवित्रता उनकी हार्दिक आस्था के साथ सबको आकर्षित करने वाली थी। उनकी सुविनीतता की सुवास छोटे बड़े सबको प्रभावित करती थी। उनकी जीवन शैली में वैराग्य का प्रतिबिम्ब था।

उनकी शरीर संरचना सुगठित और तेज ओज सम्पन्न थी। शौर्य–सम्पन्न व्यक्तित्व प्रथम दर्शन में ही दर्शकों को बांध लेता था। संघीय भावना गुरु भक्ति और संयम निष्ठा के साथ अनुशासन निष्ठा, कार्य कौशल, कला कौशल, कर्मठता और सेवाभावना ने विकास को गति शीलता दी और थोड़े समय में ही उनकी अच्छी पहचान बन गई। आचार्यों की सेवा का दुर्लभ अवसर उन्हें उपलब्ध होने लगा। वे रोगी, ग्लान, वृद्ध और तपस्वी साधु साध्वियों की सेवा में अपने आपको प्रथम पंक्ति में प्रस्तुत करती और उनको दवा, पथ्य, सेवा आदि जो भी अपेक्षा होती, श्रम पूर्वक तत्परता से उनकी सम्पूर्ति करती। लगता है कि सेवाधर्म उनके रक्त के कतरे–कतरे

में व्याप्त था। वे सेवा धर्म के महान रहस्यों को समझती थी, हर संघीय सदस्य की सेवाकर अपने आप में अहोभाव का अनुभव करती। इसीलिए सबके मन में उनके प्रति सम्मान एवं आदर के भाव थे। संघ में उनका स्वतः सम्माननीय स्थान बन गया।

आचार्यों की सेवा के सामने उनका अपना जीवन तक गौण था। वे छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा जो भी कार्य करने का आदेश मिलता, उसे करके हार्दिक प्रसन्नता की अनुभूति करती।

आचार्यों का विशेष अनुग्रह

महासती जेठांजी का निस्वार्थ सेवाभावी कर्त्तृत्व से श्रीमज्जयाचार्य को मानसिक प्रसन्नता हुई। मघवागणी और माणकगणी का भी उन पर अत्यधिक कृपाभाव रहा। यद्यपि जय, मघवा, माणक युग में उनपर कोई विधिवत दायित्व नहीं था, पर उनकी क्षमता और कर्त्तृत्व पर सबको विश्वास था, इसलिए समय–समय पर साध्वियों की सारसंभाल अथवा सारणा–वारणा का काम तीनों आचार्यों ने उनको सौंपा। इसका प्रमाण है – जेठां सती गुण वर्णन गीत का निम्नलिखित पद्य –

जय मघ माणक सूंपिया रे, सारण वारण काज हो लाल।।

आचार्यो द्वार मान सम्मान कुर्ब कायदा भी जेठा सती का बढता रहा।

मघवागणी ने समुच्चय सर्व कार्य तथा वजन की बगसीस कर महासती जेठांजी का गौरव बढाया।

छठे आचार्यश्री माणक गणी ने सं. 1952 का चातुर्मास अपनी जन्मभूमि जयपुर में किया। उस समय साध्वीप्रमुखा नवलांजी वृद्धावस्था के कारण विहार करने में सक्षम नहीं थी, अतः बीदासर में स्थिरवासी होकर प्रवास कर रही थी। उस समय साध्वी जेठांजी आचार्यवर की सेवा में थी। उस समय साध्वियों से सम्बन्धित सारे कार्य आचार्यश्री माणकगणी साध्वी जेठांजी से करवाते थे।

सप्तमाचार्यश्री द्वारा साध्वीप्रमुखा का दायित्व

सप्तमाचार्यश्री डालगणी के युग का शुभारंभ। प्रथम मर्यादा महोत्सव उन्होंने बीदासर की वीरभूमि में कराया। उस समय साध्वीप्रमुखा नवलांजी विद्यमान थी। आषाढ़ महीने में उनका स्वर्गवास हो गया। तत्पश्चात आचार्यश्री डालगणी ने साध्वी जेठांजी को साध्वीप्रमुखा पद पर नियुक्त किया और साध्वी समाज का दायित्व सौंपा। एक अनुभवी, आत्मनिष्ठ, वैराग्यमयी अनुशासित, वात्सल्यमयी, कर्मठ, सेवाभावी साध्वीप्रमुखा को प्राप्तकर तेरापंथ साध्वी समाज कृतकृत्य हो गया।

डालगणी का साध्वीप्रमुखा जेठांजी पर विशेष अनुग्रह था और उन्होंने उनकी क्षमताओं का मूल्यांकन भी बहुत किया। एक बार डालगणी ने साधु साध्वियों को

सम्बोधित कर कहा – जेठांजी ने आचार्यों की तथा साधु साध्वियों की हार्दिक भाव से शुश्रूषा की है, वह सबके लिए अनुकरणीय है। इनसे सेवा करने की कला सीखनी चाहिए।

डालगणी जोधपुर चातुर्मास कर पाली पधारे। वहां साध्वियों की परिषद में उन्होंने कहा – साध्वीप्रमुखा जेठांजी से दीक्षा पर्याय में छोटी साध्वियां हैं, वे उनको महासती (महासत्यांजी महाराज) कहकर सम्बोधित करें, कोई उनको जेठांजी नाम से न कहें। दीक्षा पर्याय में बड़े साधु साध्वियां अपनी इच्छानुसार रूप में सम्बोधित कर सकते हैं। इस घटना को डालिम चरित्र में आचार्य तुलसी ने इस प्रकार प्रस्तुति दी है –

महासती कहकर बतलाओ दीक्षा में छोटी सतियां,
बड़ी सत्यां, सन्तां पर नहि प्रतिबंध बुलाओ उचित जिंया।।

साध्वीप्रमुखा जेठांजी में व्यवस्था कौशल के साथ तटस्थता और निष्पक्षता का महान गुण था। पद प्राप्ति से पहले और बाद में उनकी तटस्थ मनोवृत्ति की छाप विशेष रूप से थी। वे आचार्यवर द्वारा निर्दिष्ट अथवा आचार्यश्री की दृष्टि के अनुसार काम करतीं और उनमें भी उनकी सावधानी और सतर्कता विशेष उल्लेखनीय रहती। वे अपना हर कार्य जिम्मेदारी के साथ सम्पादित करतीं।

सप्तमाचार्य डालगणी ने समय–समय पर उनका मूल्यांकन भी बहुत किया और छोटी–से छोटी त्रुटि पर कड़े से कड़ा उपालंभ भी दिया, पर साध्वीप्रमुखा की धीरता गंभीरता और समता कभी खण्डित नहीं हुई। आचार्य तुलसी ने लिखा है –

नहिं कृपा पात्र में जेठांजी री जोड़ी,
गलती में गहरी डांट, छींट न छोड़ी।।

जेठांजी नै भी कड़ी डांट दिखलाई,
कर तहत–तहत जेठां सती सयाणी।
नरमाई ठाणी लख अवसर अगवाणी।
ऋजुता मृदुता स्यूं सुगुरु चरण सहलाऊं।।

वे अवसर की ज्ञाता, विनीत और गुरु भक्ति में इतनी अनुरक्त थी कि उनके सामने इन परिस्थितियों का कोई महत्त्व नहीं था। आचार्यश्री तुलसी ने साध्वीप्रमुखा जेठांजी की गुरुभक्ति के सन्दर्भ में इतनी महत्त्वपूर्ण बात लिखी है, कि पढ़कर आश्चर्य पैदा होता है।

जेठांजी की गुरु भक्ति बताणै चाऊं।
तो वर्णावलि में वर्ण नहीं मैं पाऊ।।

साहसभरी दाठीकता

साध्वीप्रमुखा जेठांजी समर्पित एवं विनीत होने के साथ–साथ संघीय दायित्व एवं परम्परा के निर्वहन में दृढ़ थी। उस समय उन्हें किसी भी शर्त पर समझौता अथवा ढुलमुल नीति मान्य नहीं थी। वे समय पर दाठीकता के साथ अपना पक्ष प्रस्तुत कर देती।

श्रद्धास्पद माणकगणी का आकस्मिक स्वर्गवास होने के पश्चात पाक्षिक खमत खामणा का प्रसंग उपस्थित हुआ। तेरापंथ धर्मसंघ में रीति थी कि पाक्षिक प्रतिक्रमण के पश्चात दूसरे दिन सूर्योदय के समय सभी साधु साध्वियां आचार्यवर की सन्निधि में उपस्थित होते। आचार्यवर से सामूहिक खमत खामणा कर एक साध्वी एक–एक संत का नाम बोलती और सब साध्वियां खमत खामणा करतीं। जब साध्वियां खमत खामणा करने पहुंची, ज्येष्ठमुनि भीमराजजी अग्रगण्य के आसन पर बैठे थे। उन्होंने खमत खामणा करने का शब्द कराया, पर मुनि श्री कालूरामजी के कानों में ज्योहीं यह शब्द पड़ा, उन्होंने यह कहकर बात नकार दी – यह विधि आचार्यों की सन्निधि में ही होती है, अतः आचार्य की नियुक्ति होने पर ही इस विधि से खमत खामणा करेंगे।

इस समय साधु जहां–जहां बैठे हैं, वहां जाकर साध्वियां खमत खामणा कर सकती हैं। यह बात साध्वी जेठांजी को नहीं जंची, वे वहां उपस्थित संतों से खमत खामणा कर अपने प्रवास स्थल लौट आई। उस समय उनकी निर्भयता एवं दाठीकता देखने लायक थी।

डालगणी का स्वास्थ्य अत्यधिक दुर्बल होता जा रहा था। तेरापंथ धर्मसंघ माणकगणी के स्वर्गवास से उपजी अन्तरंग चिन्ता भोग चुका था, इसलिए संघ की आगामी व्यवस्था के प्रति सचिन्त होना स्वाभाविक था, पर उस तेजस्वी सिंहपुरुष के सामने कुछ भी कहने की हिम्मत कौन कर सकता था? ऐसे संवेदनशील क्षणों में साध्वीप्रमुखा जेठांजी ने समुचित अवसर देखकर पूज्य डालगणी को संघ की भावी व्यवस्था अर्थात उत्तराधिकार–पद की नियुक्ति के लिए प्रार्थना करने का साहस किया। आचार्यश्री तुलसी ने डालिम चरित्र में इसे पद्यात्मक ढंग से इस प्रकार लिखा है –

अति कृपा पात्र जेठांजी श्रमणी स्याणी,
बोली सविनय सविवेक सुअवसर जाणी।
गुरुराज! अबै तो गहरो गौर करावो,
सब स्यूं मोटो अपणो कर्त्तव्य निभावो।।

बार–बार कई व्यक्तियों द्वारा प्रार्थना की गई। डालगणी ने अपना उत्तराधिकार–नियुक्ति का प्रच्छन्न–पत्र लिखा और लाडनूं सेवाकेन्द्र वाली हवेलियों के सामने तिरबारे में लिखा। उस समय साध्वीप्रमुखा जेठांजी और श्रावक रूपचन्दजी सेठिया आचार्यश्री के उपपात में थे। पत्र लेखन के समय दोनों वहां से उठ गए। साध्वीप्रमुखाजी मालियै में चली गई और रूपचंदजी तिरबारा के बाहर रूंस में जाकर खड़े हो गए। जब डालगणी ने पत्र लिखकर अपने पुठे में रख दिया तब दोनों अपने अपने आसन पर आकर बैठ गए।

कुशल नेतृत्व क्षमता

साध्वीप्रमुखा जेठाजी का अनुशासन वात्सल्यपूरित था। उनकी नेतृत्व की कला अनूठी थी। उन्होंने अपनी मधुर वाणी से सबके दिलों को जीता। साध्वियों की सारसंभाल और योगक्षेम करने में उनकी बेजोड़ क्षमता थी। उनके अनुशासन को साध्वियां विनयभाव से/हृदय से स्वीकार करती और आज्ञा अनुशासन के पालन में सजग एवं सावधान रहतीं। तेरापंथ धर्मसंघ का प्रत्येक सदस्य उन्हें मां की भांति आधारभूत मानता। साध्वियों की भांति सन्तों को सहयोग देने एवं उपकरणों की सम्पूर्ति करने में बड़ी उदार भावना रखतीं। सभी साधु उनके प्रति आदर एवं सम्मान की भावना रखते। इसी प्रकार श्रावक श्राविकाओं की सार संभाल में भी महासती जेठांजी सजग रहती। उनकी शान्त प्रकृति, सरलता और अप्रमतता आदि गुणों की श्रावक समाज में विशेष छाप थी।

अष्टमाचार्यश्री का विशेष अनुग्रह

साध्वीप्रमुखा जेठांजी पांच आचार्यों की करूणा, कृपा और अनुग्रह प्राप्त करने वाली विलक्षण साध्वीप्रमुखा थी। सप्तमाचार्यश्री डालगणी ने अपने जीवन के अंतिम समय में साध्वीप्रमुखा जेठांजी के सम्बन्ध में कालूगणी को एक संकेत दिया था। इसी के परिणाम स्वरूप अष्टमाचार्यश्री ने महासती जेठांजी के सम्मान को उत्तरोत्तर वृद्धिंगत किया। महासती जेठांजी की उपस्थिति में उनके पास अधिकतम साध्वियां रहें, यह लक्ष्य रखा। मातुश्री छोगांजी एवं कानकंवरजी के पास उनसे कम साध्वियों को रखते। यह आचार्यों का एक सम्मान ही कहा जा सकता है। जब साध्वीप्रमुखा ने वृद्धावस्था के कारण राजलदेसर में स्थिरवास किया तब शीतकाल के समय पूज्य कालूगणी सलक्ष्य राजलदेसर पधारते और कहते – 'जेठांजी में साध्वियों को परोटने की अच्छी क्षमता है, इसलिए शीतकाल में इनके पास रहने की इच्छा होती है क्योंकि यहां रहने से साध्वियों – सम्बन्धी मेरा काम हल्का हो जाता है'। साध्वीप्रमुखाजी भी पांचों आचार्यों की पावन सन्निधि में संघीय कार्यों में अपने आपको नियोजित कर प्रसन्नता का अनुभव करती। कालूयशोविलास में आचार्य तुलसी ने

लिखा है –

सुध मन साझी सहासती रे पांच पूज्य की सेव।
पुरुषार्थिनी तपस्विनी रे, हसितमुखी स्वयमेव।।

महातपस्विनी साध्वीप्रमुखा

साध्वीप्रमुखा जेठांजी साधना, सेवा और साध्वियों की सारसंभाल के साथ समय–समय तपस्या अच्छी करती थी। उनकी तपः साधना में विशेष रूचि थी तथा जो भी तपस्या करती वह प्रायः चौविहार तपस्या करतीं, यह विशेष उल्लेखनीय बात है। उन्होंने बावीस (22) दिन की चौविहार तपस्या कर एक कीर्तिमान बनाया। तेरापंथ धर्मसंघ में 22 दिन का चौविहार तप सर्वप्रथम महासती जेठांजी ने किया। सं. 1941 उदयपुर में स्थापित किया कीर्तिमान सं. 2021 तक चला। साध्वी रत्नवतीजी श्रीडूंगरगढ़ (1236) ने सं. 2021 का चातुर्मास ब्यावर में किया और उसी चातुर्मास में उन्हें 22 दिन का चौविहार संथारा आया। उसके 15 वर्ष बाद 2035 आचार्य तुलसी के सान्निध्य में साध्वी पिस्तांजी जमालपुरा (912) ने लाडनूं सेवा केन्द्र में 24 दिन का चौविहार तप और अनशन कर नया कीर्तिमान बना दिया। तत्पश्चात सं. 2047 में साध्वी गुलाबांजी सरदारशहर (1024) ने 28 दिन का चौविहार संलेखना संथारा किया। यह कीर्तिमान आज भी कायम है।

साध्वीप्रमुखा जेठांजी ने उपवास से लेकर 22 की तपस्या तक लड़ी की, इसमें केवल 17 दिन की तपस्या वे नहीं कर सकी। उनकी पूरी तपस्या का विवरण प्राप्त नहीं है पर सं. 1939 सं 1949 की व्यवस्थित तथा कुछ अन्य तप तालिका उपलब्ध है, वह इस प्रकार है –

उपवास	–	743	ग्यारह	–	1
बेला	–	94	बारह	–	1
तेला	–	57	तेरह	–	1
चौला	–	4	चवदह	–	1
पंचोला	–	10	पन्द्रह	–	1
छह	–	3	सौलह	–	1
सात	–	2	अठारह	–	1
आठ	–	1	उन्नीस	–	1
नौ	–	2	बीस	–	1
दस	–	1	इक्कीस	–	1
			बावीस	–	1

इसके अलावा भी उन्होंने बहुत तपस्या की, ऐसी गुणवर्णन गीत में उल्लेख है, पर वे आंकडे सुरक्षित नहीं रह पाए। देखें –

एक दो त्रय आदि करी रे, बावीस पर्यन्त सार हो लाल।
सतरा नो थोकड़ो वर्ज नै रे, ए सहु तप चौविहार हो लाल।।
अन्य तिविहार चौविहार, बहु थोकड़ा विविध प्रकार हो लाल।
कीधा मन उचरंग थी रे, तपस्या स्यूं घणो प्यार हो लाल।

शासन प्रभाकर से भी इस बात की पुष्टि होती है। उसमें लिखा है –

सतरह टाल बावीस तांई लड़ी करी रे, ते की पिण अपाण।
अन्य तपस्या बहुत करी, तेह ख्याते नहीं लिखाण।।

चतुर्मास और स्थिरवास और अनशन

साध्वीप्रमुखा जेठांजी का संयम पर्याय 61 वर्ष का था। उसमें 53 चातुर्मास उन्होंने लगातार गुरुकुल में किए, जिसमें पांच आचार्यों की सन्निधि उन्हें मिली। सं. 1919 में उन्होंने दीक्षा स्वीकार की, तब से लेकर 1971 तक सभी चातुर्मास में उन्हें गुरु सेवा का सौभाग्य मिला। सं. 1971 में जब अष्टमाचार्य श्री ने मेवाड़, मारवाड़ यात्रा का शुभारंभ किया, उस समय वृद्धावस्था के कारण साध्वीप्रमुखाजी साथ नहीं जा सकी, इसलिए सं. 1972 का चातुर्मास उन्होंने सरदारशहर में किया। उसके बाद आठ चातुर्मास राजलदेसर की धरती पर किए।

राजलदेसर की धरती का सौभाग्य रहा है कि वहां समय–समय पर तपस्वी साधु साध्वियों एवं साध्वीप्रमुखाओं का स्थिरवास मिलता रहा है। साध्वीप्रमुखा जेठांजी एवं कानकुमारी का भी स्थिरवास वहां हुआ। साध्वीप्रमुखाजी का आठ वर्ष तक विराजना हुआ। वहां के श्रावक श्राविकाओं को ज्ञान ध्यान शिक्षामृत से खूब सींचन मिला। तात्त्विक ज्ञान एवं संघीय संस्कारों की जड़ें उसी समय से गहरी बनती रही है।

सं. 1981 कार्तिक शुक्ला नवमी को तेज बुखार के कारण साध्वीप्रमुखाजी अचेत हो गई। आधी रात के बाद उन्हे होश तो आ गया, पर उसी समय से उनके पेट में भयंकर दर्द होने लगा। दशमी का सूर्योदय के एक मुहुर्त होने पर उन्होंने दो बार अफीम लिया, पर उससे दर्द कम नहीं हुआ, प्रत्युत तत्काल वमन हो गई, जिससे उनके तन में अत्यधिक अरूचि हो गई।

सं. 1981 कार्तिक शुक्ला 9 को तेज बुखार होने के कारण साध्वीप्रमुखा जेठांजी अचेत हो गई। अर्ध निशा के बाद सावचेत होने पर बुखार तो उतर गया,

लेकिन पेट में शूल चलने लगी। दसमी को सूर्योदय के एक मुहूर्त पश्चात् उन्होंने दो बार अफीम लिया। परन्तु तत्काल वमन होने से उनकी अनशन करने की प्रबल भावना हो गई। लगभग नौ बजे उन्होंने अत्यंत हर्ष सहित अपने मुख से अफीम और पानी के अतिरिक्त सागारी अनशन ग्रहण कर लिया।

साध्वीश्री के अनशन की बात हवा की तरह समूचे गांव में फैल गई। भाई बहिन शीघ्रातिशीघ्र साध्वीप्रमुखा के दर्शनार्थ एकत्रित हो गये। साध्वीप्रमुखा ने सबके साथ ऊंचे स्वर से क्षमा याचना की। दस प्रकार की आराधना, पंचमहाव्रतों का पुनरावर्तन तथा आत्मालोचन कर अपनी आत्मा को निर्मलतम बना लिया। फिर अपूर्व साहस के साथ खड़े होकर दस बजकर चौबीस मिनिट पर आजीवन चौविहार अनशन ग्रहण कर लिया।

सभी साध्वियां उनके परिपार्श्व में बैठी हुई थीं। 11 बजे साध्वी हुलासांजी (708) ने साध्वीप्रमुखा से कुछ शिक्षा प्रदान करने के लिए प्रार्थना की। उन्होंने कहा – 'गुरु आज्ञा सर्वोपरि है, तुम एकमात्र उसे आधार – स्तंभ मानकर चलना क्योंकि वही संयम आदि की अभिवृद्धि करने वाला है।'

कहा जाता है कि उस समय अपनी आभासजन्य अनुभूति से साध्वीप्रमुखा ने कहा – 'साध्वियो! देखो चारों और वादिंत्र बज रहे हैं, सुरीले व मनमोहक संगीत सुनाई दे रहे हैं।'

इस प्रकार साध्वियों को सारगर्भित शिक्षा देती हुई एवं अंतिम वार्तालाप करती हुई 11 बजकर 4 मिनिट पर देखते–देखते स्वर्ग–प्रस्थान कर गई। उन्हें लगभग 40 मिनिट का चौविहार संथारा आया। उनके पंडित–मरण को देखकर धन्य–धन्य की ध्वनि गूंजने लगी।

आचार्य श्री तुलसी ने उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को अभिव्यक्ति देने वाला एक गीत लिखा है। वह इसप्रकार निमन है–

महासती सती जेठांजी हो अति सेवा साझी संघ में।
श्रमणी–गण में गाजी हो माजी ज्यूं राजी संघ में।।

1. एके कुल में आई हो, पुण्याई ल्याई साथ में,
उगणीसै उगणीसै संयम साध।
प्रमुखा रो पद पाई हो दिलभाई डालिम देव रै,
साल पिचपनै चन्देरी अविवाद।।

2. सेवाभाव सधीरो हो, श्रमणी रो पूज्य प्रशंसियो,
श्री डालिम कालू री कृपा अथाग।

सुन्दर और सुडीला हो, श्रमशीला सती शिरोमणी,
सदा सलीला संयम में बेदाग।।

3. कड़ी तपस्या करती हो निर्जरती बन्धन कर्म रा,
लड़ी जड़ी बाईसां तक चौब्यार।
कीर्तिमान कर थाप्यो हो, कुण उत्थाप्यो अद्यावधि,
ओ अणमाप्यो जेठां रो आभार।।

4. प्राणार्पण कर करणी हो, गुरु–इंगित री आराधना,
शिव निस्सरणी आ करणी निरधार।
ओलंभा स्याबाशी हो इकलासी स्यूं सहती सदा
समताश्वासी मन की ममता मार।।

5. उगणीसै इक्यासी हो, गुणराशि स्वर्गां संचरी
राजाणै चढते गुणठाणे जाण।
हीर हुलासां, ज्ञानां हो गुणखाना भीखां सोहनां
तुलसी चढगी जेठा री खरसाण।।

लय – चण्डाली चौकड़िया हो

गुरूदृष्टि आराधिका

आचार्य श्री तुलसी

सं. 2033 फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को कालू जन्म शताब्दी के विशालतम आयोजन में आचार्यश्री तुलसी ने तेरापंथ धर्मसंघ के संघनिष्ठ सेवाभावी साधु साध्वीयों के कर्तृत्व का सम्मान करते हुए उन्हें विशेष रूप से याद किया, उनमें एक थी– साध्वीप्रमुखाश्री जेठांजी। इस अवसर पर उनके नाम एक स्मृति पत्र लिखा–

स्मृति–पत्र

पूज्य गुरूदेव कालूगणी की इस जन्म शताब्दी के पुनीत अवार पर मैं दिवंगत साधु साध्वियां का विशेष रूप से स्मरण करता हूं, जिन्होने गुरूदेव की कृपा दृष्टि का आराधना किया और संघ की गौरववृद्धि में उल्लेखनीय सेवाएं दी। उनमें एक थी – साध्वीप्रमुखाश्री जेठांजी उन्होने गुरूदृष्टि की सफल आराधना की। उनको गुरूदृष्टि आराधिका के रूप में याद करता हूं।

आचार्य तुलसी

12. साध्वी जडावांजी (नाथद्वारा) (347)

साध्वी जड़ावांजी आमेट निवासी ओटाशाह चिण्डालिया की पुत्री थी और उनका विवाह नाथद्वारा के लोढा परिवार में हुआ। लोढा परिवार परम्परा से स्थानक वासी था और चिंडालिया परिवार की आस्था तेरापंथ में थी। इसलिए ससुराल में उनको तेरीयों के घर की कहा जाता। उनकी शादी के कुछ समय बाद घर में एक दो साल के बच्चे की मृत्यु हो गई। ससुराल वालों ने उस बच्चे के मर जाने का मिथ्या आरोप जड़ावांजी पर लगाया। उनके इस व्यवहार को देख उनका मन संसार से उदास हो गया और धीरे धीरे वह वैराग्य में परिवर्तित हो गया। वे पीहर चली गई और अपने माता पिता के सामने दीक्षा की भावना प्रस्तुत की। पितृपक्ष वालों को समझाने पर लगा कि उनका वैराग्य पुष्ट है, भावना दृढ़ है और वे आत्मकल्याण करना चाहती है, तब उन्होंने ससुराल वालों को जानकारी दी। लोढा परिवार के प्रमुख अधिकारी लोगों ने दीक्षा देने के लिए स्पष्ट रूप से इन्कार कर दिया। उनके पति उन्हें लेने के लिए आमेट आए। जड़ावांजी जाना नहीं चाहतीं थीं और उनके पति जबरदस्ती ले जाना चाहते थे। ऐसी स्थिति में पितृपक्ष के लोगों ने आमेट के रावजी से मिलकर बातचीत की और जड़ावांजी को रावले में ठकुरानीजी के पास भेज दिया।

दूसरी ओर उनके पति जड़ावांजी को नाथद्वारा ले जाने के आग्रह पर अड़े रहे। उन्हें समझाने की बहुत कोशिश की पर उन्होंने एक भी बात नहीं सुनी। आखिर उन्हें यह बताना पड़ा कि जड़ावांजी रावला में है। वे रावसाहब के पास पहुंचे और जड़ावांजी को नाथद्वारा भेजने के लिए कहा। रावसाहब ने बड़े स्नेह और आदर के साथ उनसे बात की और जड़ावांजी की आंतरिक वैराग्य भावना की बात समझाई। उनसे आज्ञा पत्र लिखवा लिया तथा जड़ावांजी के आभूषण आदि सब उन्हें सौंप दिए। जड़ावांजी अपने पति के साथ ससुराल चली गई।

ससुराल में उनकी सास वृद्ध और बीमार थी। उनको उनकी सेवा के लिए कहा गया। जड़ावांजी विवेक सम्पन्न थी, उन्होंने तत्काल सास की सेवा की स्वीकृति दे दी। जब तक सास जीवित रही उन्होंने अग्लानभाव से उनकी सेवा की। सास की मृत्यु के बाद एक बार अपने परिवार के साथ जयाचार्यश्री के दर्शन करने चूरू गई। उनकी वैराग्य भावना घर में रहते हुए भी उत्कृष्ट बनी हुई थी। सास की बाधा दूर हो चुकी थी। एक दिन व्याख्यान में खड़ी होकर उन्होंने जयाचार्यश्री से निवेदन किया – कि आप मुझे गृहस्थ के वेश में मेवाड़ जाने का त्याग करा दीजिए। परिवार वालों द्वारा लिखित आज्ञा पत्र उनके पास सुरक्षित था ही, उनसे जयाचार्यश्री ने सारी जानकारी ली और त्याग करवा दिया। अब परिवार वालों ने दीक्षा की प्रार्थना की तब

जयाचार्यश्री ने चूरू में ही दीक्षा प्रदान कर दी। सं. 1920 की मिगसर कृष्णा एकम को दीक्षा संस्कार हुआ। उस दिन तीन दीक्षाएं हुई – मुनि मुनिपतजी, साध्वी जेतांजी और साध्वी जड़ावांजी।

अग्रगामी बनकर साध्वी जड़ावांजी ने सं. 1930 में साध्वी ज्ञानांजी बागोर को दीक्षा दी। सं. 1942 में नौ दिन के अनशन में वे दिवंगत हुई।

13. साध्वी चूनांजी (रतलाम) (356)

साध्वी चूनांजी रतलाम ने अपने पति की असामयिक मृत्यु के बाद अपनी पुत्री उदयकंवरजी के साथ संवत 1922 भाद्रव शुक्ला 13 भिक्षु चरमोत्सव के दिन श्रीमज्जयाचार्य के कर–कमलों से पाली में दीक्षा ग्रहण की। उस दिन आठ बहिनों ने एक साथ संयम साधना स्वीकार की।

साध्वी चूनांजी का संयमजीवन मात्र 9 वर्ष का रहा। वे तपस्विनी थी। पूरा तपस्या विवरण उपलब्ध नहीं है पर आचार्यश्री के सान्निध्य में जो बड़ी तपस्या की वही प्राप्त है।

उन्होंने चार चातुर्मास जयाचार्यश्री की पावन सन्निधि में किए संवत 1924, 25, 28, 29 में। उनमें क्रमशः उन्होंने 30, 37, 30, 31 दिन की तपस्या की।

अंत में बेले की तपस्या में दो मुहूर्त के सागारी अनशन में मेवाड़ के गंगापुर गांव में अपनी जीवन यात्रा सम्पन्न की संवत 1931 भाद्रव शुक्ला आठम को।

14. साध्वी भूरांजी (लाडनूं) (378)

साध्वी भूरांजी लाडनूँ के सरावगी परिवार की पुत्री थी। उनके पिताश्री का नाम मुलतानमलजी सेठी तथा मां का नाम कानकंवर था। भूरांजी का जन्म सं. 1910 फाल्गुन शुक्ला दसमी को हुआ ऐसा उनकी ख्यात में उल्लिखित है। उनके सम्बन्ध में लिखे गए गीत में 1909 की संवत का उल्लेख है। उनकी सगाई बहुत छोटी अवस्था में कर दी गई। बीकानेर रियासत के लालगढ़ गांव के सरावगी परिवार में उनका सम्बन्ध होना तय हुआ। उनके ससुराल वालों ने उनके लिए कपड़े और आभूषण आदि भी भेजे। सगाई अल्पावस्था में हुई और उसके कुछ समय पश्चात उनके मन में वैराग्य भाव पैदा हुआ। यद्यपि लाडनूँ के सरावगी परिवारों में दिगम्बर जैन अधिक है। भूरांजी के परिवार की आस्था भी वही रही होगी पर उनकी मानसिकता तेरापंथ की ओर आकर्षित थी। इसके भी कुछ कारण है-

उस समय तेरापंथ के साधु साध्वियों का प्रवास प्राचीन दिगम्बर मंदिर के आसपास होता था, जिससे दिगम्बर परिवार से साधु साध्वियों का अच्छा सम्पर्क होता।

दूसरी बात भूरांजी के मन पर जयाचार्यश्री के व्याख्यान का विशेष प्रभाव था। जयाचार्यश्री का उन दिनों बार-बार लाडनूँ पधारना हुआ, जिससे उनको बार-बार जय महाराज की पावन सन्निधि का सौभाग्य प्राप्त होता रहा हो। बालिका भूरांजी के वैराग्य अंकुर को पोषण जयाचार्यश्री की देशना से मिला। इसलिए उन्होंने यह निश्चय किया कि वे दीक्षा लेगी और तेरापंथ धर्मसंघ में ही लेगी। उस समय उनकी अवस्था मात्र पन्द्रह वर्ष की थी। उन्होंने दीक्षा लेने की भावना सर्वप्रथम अपने माता-पिता के सामने रखी। यद्यपि इसमें उनको कोई आपत्ति नहीं थी पर चूंकि उनका सम्बंध तय हो चुका था, इसलिए वे उन्हें यह जानकारी देना अपना दायित्व समझते थे। मुलतानमलजी भूरांजी के भावी ससुराल से आए गहने कपड़े साथ लेकर लालगढ़ गए। भूरांजी की दीक्षा लेने की बात सुनते ही वे भड़क उठे। उनका कहना था कि अब वे उनके परिवार की भावी वधु है। यदि उन्हें दीक्षा लेनी ही है तो विवाह संस्कार होने के बाद में लें। पहले हम दीक्षा नहीं देंगे। इस प्रकार आग्रह और आक्रोश में आकर वे सेठीजी के साथ झगड़ा करने लगे। वर पक्ष के कुछ प्रमुख व्यक्ति लालगढ़ के ठाकुर को साथ लेकर लाडनूँ आए। उन्होनें लाडनूँ ठाकुर साहब से बातचीत की और उन्हें अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया। लालगढ़-ठाकुर ने बातचीत के मध्य सांकेतिक भाषा में दो अंगुलियां दिखाकर लाडनूँ ठाकुर को

कुछ कहा। लाडनूँ के ठाकुर बादरसिंहजी ने इसका अर्थ यह लगाया कि- दीक्षा रुकवाकर आप हमारा सहयोग करें हम आपको दो हजार कलदार रुपया नजराना के रूप में देंगे। लाडनूँ-ठाकुर उसी झांसे में आ गए। उन्होंने बालिका भूरां को गढ़ में बुलाया और विवाह के लिए प्रेरित करने का प्रयास किया।

बालिका भूरा का मन वैराग्य के मजीठी रंग में रंगा हुआ था। तत्त्व की जानकारी पाकर उनका वैराग्य पुष्ट हो चुका था। संकल्प इतना पका हुआ था कि विचलित करना किसी के वश की बात नहीं थी। ठाकुर साहब बहुत ज्यादा दबाव देने लगे तो बालिका का साहस जाग उठा। ठाकुर साहब के सामने यौक्तिक प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा- ''ठाकर-साहब! मैं आपके कथनानुसार सब कुछ करने को तैयार हूँ पर आपको मुझे एक कागज में यह लिखकर देना होगा कि- मैं कभी विधवा नहीं बनूंगी। ठाकर साहब अपनी बात पर चार्तुय का कलफ लगाते हुए बोले- देखो बाई। संसार में जो आता है, वह जाता है यह निश्चित है पर सधवा-विधवा के बारे में मैं क्या कह सकता हूँ।''

उस समय उनके पास में एक ब्राह्मण पण्डित खड़ा था। उसका नाम था बालमुकुन्द। उसने अपनी शेखी बधारते हुए जेब से पत्र निकाला और बोले- लो, मैं तुम्हें यह बात लिखकर देता हूँ। सुनते ही वैराग्य के साथ पौरुष और जाग उठा। वे पण्डितजी की ओर मुखातिब होकर बोली- पण्डितजी! आप क्या लिखकर दोगें। अभी थोड़े दिन पहले आपकी बहिन विधवा हुई थी। आप पहले उसको तो लिखकर दे देते। इसलिए आपके ज्यादा बोलने में फायदा नहीं है। आप मौन रहें तो ठीक रहेगा। एक पन्द्रह वर्षीया बालिका के मुख से यौक्तिक उत्तर सुन ब्राह्मण ने शर्मिन्दगी महसूस की और जबान से एक शब्द भी नहीं निकला।

उस समय लालगढ़ से समागत लोग भी वहां उपस्थित थे। उन्होंने कहा- अभी तो हम नागौर जा रहे हैं। जिस दिन दीक्षा होगी उस दिन बाधा उपस्थित करेंगे और दीक्षित नहीं होने देंगे।

इसी बीच ठाकुर बादरसिंहजी (लाडनूँ) ने बालिका को धमकाते हुए कहा- तुम मेरा कहना मान लो अन्यथा रनवासा (जनानागृह) में भेज दूंगा। कहा जाता है कि भूरांजी तीन दिन तक लाडनूँ गढ़ में रही। उन्हें प्रलोभन भी दिया, भय भी दिखाया और चुनौति भी दी पर वे अपने प्रण से एक इंच भी इधर-उधर नहीं हुई। आखिर हार मानकर ठाकर साहब ने उन्हें घर भेज दिया। वातावरण की उग्रता और फैली हुई भ्रान्ति को देखकर

भूरांजी को विवेकपूर्ण पथदर्शन देते हुए जयाचार्यश्री ने कुछ समय के लिए दीक्षा स्थगित कर दी।

समाज के लोगों के मन में भी भ्रांत धारणा ने जन्म ले लिया। वे परस्पर बातें करने लगे कि- सगाई की हुई कन्या को ससुर पक्ष की आज्ञा के बिना दीक्षा देना कैसे उचित रहेगा? वे अपनी भावना जयाचार्यश्री के पास लेकर पहुँचे। जयाचार्यश्री ने उस सन्दर्भ में समागत लोगों को सम्बोधित कर कहा- यदि कोई कुंवारी लड़की के पति की (जिससे उसकी सगाई हुई हो) विवाह से पहले मृत्यु हो जाए, वैसी स्थिति में क्या लड़की विधवा कहलाएगी? आगन्तुकों के पास इसका उत्तर नहीं था, क्योंकि ऐसी स्थिति में लड़की विधवा नहीं कही जाएगी।

जयाचार्यश्री ने अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए कहा- कन्या की जब तक शादी न हो, उसे माता-पिता की आज्ञा से उसे दीक्षा दी जा सकती है। उसमें उसके मंगेतर पक्षवालों की आज्ञा आवश्यक नहीं है। शादी के पश्चात कोई दीक्षा लें तो ससुराल पक्ष की आज्ञा जरूरी है। अतः बालिका भूरां को हम दीक्षा दें तो सैद्धान्तिक दृष्टि से, संघीय विधान की दृष्टि से कोई आपत्ति नहीं है, फिर भी हम अपनी इच्छा से उसे अभी दीक्षा नहीं दे रहे हैं।

इधर लालगढ़-ठाकुर को साथ लेकर उनके ससुराल वाले जोधपुर-नरेश के पास पहुंचे। लालगढ़-ठाकुर ने अपनी अर्जी प्रस्तुत की और कहा- यह दीक्षा हो गई तो परिणाम ठीक नहीं होगा। दूसरी ओर जोधपुर के दीवान परिवार के लोगों ने भी मौके का फायदा उठाने का प्रयत्न किया । मुनिपतजी स्वामी की दीक्षा के प्रसंग में तेरापंथ के विरोधियों ने जो अपमान झेला था, वह भी उनकी स्मृति में था। जोधपुर नरेश पर बादरमलजी भंडारी का प्रभाव था, उन्होंने पहले से ही सारी सही सही जानकारी दरबार को दे दी थी, इसलिए उन्हें सफलता नहीं मिली। वे वहां से आबू गए। वहां तात्कालीन ए.जी.जी. जो उस समय केन्द्र की ओर से समग्र राजस्थान की रियासतों पर नियुक्त उच्चाधिकारी थे, के पास गए। और शिकायत-पत्र प्रस्तुत किया। बादरमलजी भंडारी को जब इस बात की जानकारी मिली, वे भी आबू ए.जी.जी. के पास पहुंचे हैं। शिकायत पत्र को निरस्त करते हुए निर्देश दिया- लड़की क्या चाहती है, उसकी इच्छा को समझकर ही आगे की कार्यवाही की जानी चाहिए।

उन्हीं दिनों रेजीडेन्ट साहब (बीकानेर रियासत के अधिकारी) सुजानगढ़ आए हुए

थे। विरोधी लोग उनके पास भी गए और कहा- एक लड़की को बहकाकर जबरदस्ती दीक्षा दी जा रही है। अतः उसे रोक देना चाहिए। रेजीडेन्ट साहब स्वयं लाडनूँ आए। भूरांजी के पिता मुलतानमलजी सेठी से मिले और सारी स्थिति की जानकारी ली।

उसके बाद भूरांजी को अपने सामने बैठाया। रेजीडेन्ट साहब के साथ आए मुख्य व्यक्ति (जिनका नाम झुंझारखां था) ने भूरांजी को कई प्रश्न पूछे। भूरांजी ने जिस निडरता के साथ स्पष्ट उत्तर दिए सुनकर रेजीडेन्ट साहब बहुत खुश हुए। उन्होंने तत्काल परवानगी (अनुमति-पत्र) लिखकर दे दी कि उस दीक्षा में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकेगा।

बादरमलजी भंडारी भी अनवरत वातावरण को अनुकूल बनाने में प्रयत्नशील थे। वे लाडनूँ आए और वहां के ठाकुर साहब से तथा लेड़ी के ठाकुर साहब से बातचीत कर यथार्थ स्थिति समझाई। उनकी दृष्टि बदली, विचार बदले और वे दोनों दीक्षा के समर्थक बन गए।

भंडारीजी ने दूसरा महत्त्वपूर्ण काम किया- भूरांजी के ससुराल वालों को समझाने का। एक तीसरे व्यक्ति के माध्यम से भय और प्रलोभन देकर आग्रहपूर्ण झगड़े को मिटाया और चातुर्य से काम लेते हुए उनसे कागद करा लिया यानि अनुमति विषयक स्वीकृति लिखा ली।

सम्पूर्ण वातावरण की अनुकूलता होने पर जयाचार्यश्री ने भूरांजी को दीक्षा का आदेश दे दिया। सेठी परिवार ने बड़ी प्रसन्नता और उल्लास के साथ दीक्षा महोत्सव किया। लाडनूँ के ठाकुर बादरसिंहजी ने भी भाग लिया तथा दीक्षार्थी बहिन के जुलूस में अपनी ओर से घोड़े, छड़ी, नगारा, निसाण आदि लवाजमा भेजा। दीक्षा का स्थान रखा गया- लाडनूँ सुजानगढ़ के बीच पाबोलाव-तालाब का खुला मैदान। दीक्षार्थिनी बहिन का सुजानगढ़ में भी उत्सव मनाया गया। दीक्षा के दिन बहन सुजानगढ़ से जुलूस के साथ दीक्षा-स्थल पर पहुंची। उधर जयाचार्यश्री श्रमण-श्रमणी परिवार के साथ लाडनूँ से पाबोलाव तलाब के मैदान में पधार गए। लाडनूँ सुजानगढ़, बीदासर, रतनगढ़, चुरू, लेड़ी, कुसुम्बी आदि गांवों के लोग उपस्थित थे। रेजडेन्ट साहब स्वयं आए तथा डाक्टर, वकील, कौंसिल के सदस्य एवं अन्य सरकारी अफसर भी उत्सुकता के साथ दीक्षा देखने आए। दीक्षा समारोह में सुरक्षा की दृष्टि से तीन हजार पुलिस के जवान थे। सरूपलाला रसालदार, दपटा साहब तथा झुंझारखां आदि हजारों लोग दर्शक रूप में उपस्थित थे। सं. 1924 फाल्गुन बदि 6 को जयाचार्यश्री ने भूरांजी को अविवाहित अवस्था में सानन्द

दीक्षित कर तेरापंथ की गरिमा को ऊंचाई दी। दीक्षा की सफलता का अदभुत दृश्य देखकर जनता बहुत प्रभावित हुई। संघ व संघपति के यशोगान जन-जन के मुख पर मुखरित होने लगे। इससे धर्म का बड़ा उद्योत हुआ एवं जैन शासन की बहुत प्रभावना हुई।

दीक्षा समारोह की सम्पन्नता के पश्चात् जयाचार्यश्री पुनः लाडनूँ पधारे। वहां कुछ दिनों का प्रवास कर बीदासर पधार गए। बीदासर में बादरमलजी भंडारी के पुत्र किशनलालजी ने दर्शन किए और जोधपुर पधारने के लिए आग्रह भरा निवेदन किया। साध्वी भूरांजी के दीक्षा प्रसंग पर बादरमलजी भंडारी की सेवा की स्मृति कर पुरस्कार स्वरूप सं. 1925 का चातुर्मास जोधपुर को प्रदान किया। जोधपुर की तरफ प्रस्थान करते समय जयाचार्यश्री ने साध्वीप्रमुखा सरदारांजी को कहा- हम भंडारीजी का कर्ज उतारने के लिए जोधपुर जा रहे हैं। उस समय महासती सरदारांजी अस्वस्थ थीं। वे गुरु रंगित की आराधना करती हुई तत्काल विहार के लिए तैग्गर हो गई। यद्यपि जयाचार्यश्री ने कृपाकर महासतीजी को पीछे से धीरे-धीरे आने का परामर्श दिया पर महासती सरदारांजी का मनोबल भी श्रेष्ठ था।

साध्वी भूरांजी को दीक्षित होने के पश्चात दस वर्ष तक जयाचार्यश्री की सेवा में महासती सरदारांजी के सान्निध्य में रहने का सौभाग्य मिला। इन दस वर्षों में चारित्र आराधना का विधिवत प्रशिक्षण लेकर ज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने विविध आयामी विकास किया। उन्होंने 32 सूत्रों का वाचन किया और बोल, थोकड़े चरचा आदि की गहन धारणा की। उन्हें संस्कृत श्लोक, सवैये, छन्द, दोहे तथा कथादिक बहुत याद थे। वे व्याख्यान में इनका अच्छा उपयोग करतीं। उनकी व्याख्यान शैली प्रभावशाली थी। वाणी की मधुरता सबको आकर्षित करने वाली थी।

संवत 1934 में जयाचार्यश्री ने साध्वी भूरांजी की योग्यता का मूल्यांकन कर उन्हें अग्रगामी बनाया। उन्होंने 63 वर्ष तक अग्रगामी पद का दायित्व निभाते हुए संघ की सेवा में अपने जीवन के मूल्यवान पलों को सार्थक किया। उनकी संयम पर्याय तिहोत्तर वर्ष (73) का रहा। जयाचार्यश्री से लेकर आचार्यश्री तुलसी तक छह आचार्यों के शासन काल तक अग्रगण्या रूप में रहने वाली साध्वी भूरांजी का एक ही सिंघाडा हुआ, जो तेरापंथ धर्मसंघ में एक कीर्तिमान बना। साध्वी भूरांजी को छह आचार्यों की सेवा का तथा आठ आचार्यों के साधु साध्वियों को देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। आचार्य श्री तुलसी ने 'माणक महिमा' ग्रन्थ में साध्वीजी के सम्बन्ध में लिखा है -

हां रे आतो भूरांजी, लाडनूँ आवगी जात जो।
जयाचार्य स्यूं तुलसी तक निजरां ठव्या रे लोय॥ माणक महिमा पृ. 44

आचार्यश्री तुलसी आचार्य बनने के बाद पहली बार पड़िहारा पधारे। उस समय साध्वी भूरांजी को पूर्ण सचेतन अवस्था में छठे आचार्य की शासना देखने का अवसर मिला। आचार्यवर उन्हें सेवा करा रहे थे। उनकी गजब की स्मरण शक्ति देख आचार्यश्री ने कहा – भूरांजी! जय महाराज की आकृति और रंग कैसा था? साध्वी भूरांजी बोली – अन्नदाता ऐसे कैसे बताऊं?

आचार्यश्री ने दूसरा प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा – मेरे चेहरे में और उनके चेहरे में क्या अन्तर था? यह बता दो। साध्वी भूरांजी बोली – "सत्यां अठै अन्धेरो है, मनै अन्नदाता रा दर्शण च्यानणां में ले जार करावो नी"। कहते हैं आचार्यश्री सुराणाजी की हवेली के बरामदे में पधार गए और साध्वी भूरांजी को उठाकर साध्वियां बरामदे में ले आई। उन्होंने आचार्यवर को अच्छी तरह से देखा और कहा – "अन्नदाता! आपका चेहरा गोल है और भरा–भरा है, जय महाराज का चेहरा पतला और लम्बा था। आपके कान बड़े–बड़े छायले जैसे हैं, जयमहाराज के इतने बड़े नहीं थे, नेत्र भी आप जैसे नहीं थे।

उन्होंने सभी आचार्यों की महती कृपा प्राप्त की। उन्होंने समर्पित भाव से आचार्यों की दृष्टि की आराधना की। उनके साथ कभी पांच, छह, सात, आठ और कभी नौ साध्वियां भी रही। यह गुरु कृपा का सुफल था। उन्होंने दो साध्वियों को अपने हाथ से दीक्षित किया। सं. 1942 कार्तिक बदि 13 को साध्वी फूलांजी मंदसौर को मंदसौर में दीक्षित किया। दूसरी दीक्षा सं. 1953 में राजगढ़ में साध्वी वाल्हांजी को दी। वे सिरसा की थी। संवत 1989 में विहरण करते–करते वे पडिहारा पधारी और वहीं स्थिरवासी बन गई। वहां उन्होंने सात चातुर्मास किए। सं. 1996 में आषाढ़ कृष्णा 6 को वे अकस्मात गिर गई। पैर की हड्डी टूटने से उनको अपार वेदना हुई। उसके साथ ही बुखार और श्वास का प्रकोप हो गया और एक पैर में छाला हो गया। एक साथ व्याधियों का आक्रमण देख साध्वीजी का मनोबल जाग उठा। उन्होंने सावन शुक्ला तीज को उपवास किया और चौथ को अनशन स्वीकार कर लिया। चौदह घंटे का तिविहार और 12 घंटे के चौविहार अनशन में साध्वी भूरांजी पड़िहारा में स्वर्गवासी हो गईं। उनके अंतिम संस्कार के समय आस–पास के छह गांवों के लोग बड़ी संख्या में पहुंचे।

15. साध्वी मोतांजी (पड़िहारा) (379)

साध्वी मोतांजी थली के पड़िहारा गांव की पुत्री और पुत्रवधु थी। भंसाली परिवार में उनका पीहर तथा दूगड़ परिवार में उनका ससुराल था। अल्पायु में पति वियोग के वज्राघात को समता से सहन कर अपने जीवन को नई दिशा दी। सं. 1924 में श्रीमद् जयाचार्यश्री का मारवाड़ के कालू (आणंदपुर) में प्रवास था। वहां पहुंचकर बैसाख कृष्णा 13 को साधु दीक्षा स्वीकार की।

साध्वी मोतांजी तपस्विनी साध्वी थीं। उन्होने तप तलवार हाथ में लेकर कर्म रिपुओं को परास्त करने का साहसिक कार्य किया।

उपवास से लेकर इक्कीस दिन की तपस्या तक उन्होंने लड़ी की। उसके अतिरिक्त उनके तप की तालिका इस प्रकार है –

उपवास	–	800	ग्यारह	–	1
बेला	–	40	तीस	–	5
तेला	–	25	इकतीस	–	1
चोला	–	15	बत्तीस	–	1
पंचोला	–	15	तेंतीस	–	1

साध्वी मोतांजी को प्रायः आचार्यों की सेवा में रहने का सौभाग्य मिला। जयाचार्यश्री के सं. 1938 के अंतिम चातुर्मास में वे जयपुर में गुरुसन्निधि में ही थी। वे सिलाई आदि का विशेष कार्य करती थी। उनकी इस विशेष सेवा का मघवागणी ने जय सुजस में वर्णन करते हुए लिखा है –

मोतां पडिहारा री मतिवंती, करी सेव तंतु सेवंती।।

पंचमाचार्य मघवागणी ने उनकी सेवाओं का मूल्यांकन करते हुए – साध्वी मोतांजी को गोचरी के अतिरिक्त समुच्चय के काम और बोझ की बक्सीस की।

साध्वी मोतांजी अग्रगण्या रूप में सं. 1943का गोगुन्दा में चातुर्मास सात ठाणां से किया। वहां श्रावण शुक्ला नवमी के दिन उनका स्वर्गवास हो गया।

16. साध्वी मानकंवरजी (फलौदी) (380)

साध्वी मानकंवरजी का जन्म स्थान मारवाड़ का फलौदी गांव था। वे लुंकड़ परिवार की बेटी थी। नाबालिग अवस्था में साध्वी ऋद्धूजी के पास सं. 1925 मिगसर बदि पांचम को संयम स्वीकार किया। अग्रगण्या बनकर उन्होंने लम्बे समय तक विहरण किया।

सप्तमाचार्यश्री डालगणी ने साध्वी मानकंवरजी को सं. 1957 का चातुर्मास डेगाना करने का निर्देश दिया, किन्तु उन्होंने अपनी इच्छा या सुविधानुसार वह चौमासा बाजोली में कर दिया। गुरु आज्ञा का अतिक्रमण करने का दुस्साहस करने पर जो जो मुसीबत उनके सामने आई; उन्हें देखकर यह आस्था पुष्ट हो जाती है कि 'आणाए मामगं धम्मं।'

उन्हें उस चातुर्मास में भारी कष्ट उठाना पड़ा। कष्ट किस प्रकार का था यह उल्लेख नहीं है। वे पांच साध्वियां थी, उनमें से दो साध्वियां दिवंगत हो गई। लगता है आज्ञा–उल्लंघन का दण्ड स्वयं मिल गया। चातुर्मास सम्पन्न होने के बाद जब उन्होंने रतनगढ में डालगणी के दर्शन किए तब आचार्यश्री के निर्देशानुसार साध्वियों ने वंदना नहीं की, वजन कंधों से नहीं उतारा। इस स्थिति को देखकर साध्वी मानकंवरजी का मन आशंका से सहम गया। दर्शनकर ज्योंही वे निकट पहुंची, डालगणी ने कड़ा उपालंभ दिया। उन्होंने तत्काल विनय नम्रता एवं सरलता के साथ अपनी गलती स्वीकार की। उसी समय आचार्यश्री डालगणी ने साध्वियों को वन्दना करने का आदेश दिया। आचार्यश्री तुलसी ने डालिम चरित्र में इस घटना की अभिव्यक्ति इन शब्दों में दी है –

फरमायो मानकंवरजी नै डेगाणै।
ठायो चौमासो बाजोली पंच ठाणै।।
आणा–अतिक्रम रो दण्ड स्वयं स्यूं पायो।
भारी तकलीफां में पावस पूरायो।।
पांचां रा तीन रह्या दरसपा हित आया।
वसुगढ में भेट्या श्री डालिम गुरुराया।।
मत करो वंदणा आवभगत सब वरजी।
मुंह छोटो–सो कर देखै मानकंवरजी।।
भारी ओलंभो प्रायश्चित स्वीकार्यो।
अति विनय नम्रता निज जीवन धिकार्यो।।
तब दियो हुकम गुरु वन्दन विधि वरताऊ।
श्री डालिम गण–बालिम गुण गरिमा गाऊं।। डालिम चरित्र पृ. 163, 164

17. साध्वी चांदाजी (बीदासर) (387)

साध्वी चांदाजी बीदासर के चौरड़िया परिवार की पुत्री थी। उनका विवाह बीकानेर निवासी ईसरदासजी डागा के साथ हुआ। डागा परिवार मूलतः बीकानेर का था। पर ईसरदासजी ननिहाल बीदासर में होने से वे वहीं स्थायी रूप से रहने लगे। बीदासर तेरापंथ का प्रमुख क्षेत्र रहा है। वहां साधु साध्वियों का आवागमन प्रायः होता रहता था, इसलिए चान्दांजी का धर्म के प्रति सहज रूझान हो गया। ज्यों ज्यों योग मिला, तत्त्व बोध पाया और थोड़ी–सी समझ परिपक्व होते ही उनकी भावना दीक्षा लेने की तीव्र हो गई। जब उन्होंने दीक्षा की इच्छा ईसरदासजी के सम्मुख रखी तो उन्होंने सहर्ष अनुमति दे दी। यद्यपि उनको दूसरी शादी करने का त्याग था। नानी से प्राप्त संस्कारों का ही प्रभाव था कि वे अपनी पत्नी की संयम–साधना में बाधक नहीं बनें। प्रत्युत खूब ठाट–बाट और धूमधाम से दीक्षा का महोत्सव मनाया। ईसरचंदजी की नानी का नाम गुमानी बाई था। उन्होंने बारह सौ रूपए खर्चकर सूत्र आदि मंगाकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की।

चान्दाजी ने पति और विपुल सम्पत्ति छोड़कर सौलह वर्ष की अवस्था में पूर्ण वैराग्य भावना के साथ सं. 1926 कार्तिक कृष्णा एकम को जयाचार्यश्री के कर–कमलों से दीक्षा स्वीकार की। साध्वी चान्दाजी की दीक्षा के लगभग चार वर्ष बाद ईसरदासजी ने अपने छोटे भाई का विवाह किया और स्वयं सं. 1930 फाल्गुन वदि एकम को जयाचार्यश्री के पास संयम स्वीकार कर लिया।

साध्वी चांदाजी को दीक्षित होने के बाद गुरुकुलवास में रहने का अच्छा अवसर मिला। गुरु सन्निधि का उन्होंने अच्छा लाभ उठाया और अपनी योग्यता के अनुसार अच्छा विकास किया। संघ, संघपति की सेवा में अपने पुरुषार्थ का नियोजन कर ख्याति अर्जित की। सं. 1938 जयपुर चातुर्मास में वे जयाचार्यवर की सेवा में ही थी। साध्वी चांदांजी और साध्वी नानूजी(393) दोनों आचार्यवर की प्रतिलेखना और गोचरी का काम करती थी। जय सुजस में मघवागणी ने उल्लेख किया है –

करै नान्हुजी चांदा बहु काजे हो लाल।
पड़िलेहण गोचरी नी सेवा साजै जी।।

पंचमाचार्यश्री मघवागणी ने समुच्चय की दो पुस्तकों में से एक पुस्तक का वजन वक्सीस किया। उस समय प्रत्येक साधु साध्वियों के लिए दो पुस्तक वजन उठाना अनिवार्य था। डालगणी ने उनको 2000 (दो हजार) गाथाओं की बक्सीस की।

अग्रगामी बनकर उन्होंने धर्मसंघ के विकास में अपना योगदान दिया और सं. 1951 नोहर चातुर्मास में साध्वी हस्तुजी नोहर को वहीं दीक्षा दी। जीवन के अन्तिम 14 वर्ष मोमासर में स्थिरवासी बनकर बिताएं। उनके प्रयत्न से श्रावक समाज में अच्छी धर्म जागरणा हुई। सं. 1974 फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा को वे मोमासर में दिवंगत हुई।

उनकी तपस्या में भी अच्छी रूचि थी। उन्होंने उपवास से लेकर 16 तक लड़ी की।

उपवास	—	1667	नौ	—	2
बेला	—	364	दस	—	1
तेला	—	63	ग्यारह	—	1
चौला	—	26	बारह	—	1
पंचोला	—	22	तेरह	—	5
छह	—	2	चौदह	—	1
सात	—	1	पन्द्रह	—	2
आठ	—	4	सोलह	—	1

18. साध्वी ज्ञानांजी (बागौर) (421)

साध्वी ज्ञानांजी बागोर ने पति वियोग के बाद सं. 1930 वैशाख शुक्ला तीज (अक्षय तृतीया) के दिन साध्वी जड़ावांजी आमेट के पास संयम–रत्न स्वीकार किया। त्याग वैराग्य भाव के साथ उत्कृष्ट तपः साधना कर तपस्विनी के रूप में धर्मसंघ में ख्याति अर्जित की। उनकी तपस्या–तालिका इस प्रकार है –

बेला	–	47	अठारह	–	1
तेला	–	28	इक्कीस	–	1
चोला	–	1	सत्ताइस	–	1
नौ	–	1	तीस	–	1
पन्द्रह	–	1	इकतीस	–	1
सौलह	–	1	बत्तीस	–	1

उन्हें सं. 1938 में जयाचार्यश्री की सेवा में रहने का सौभाग्य मिला। वहां आचार्यवर के लिए पानी लाने का काम कर उन्होंने कृतार्थता का अनुभव किया। उनका स्वर्गवास सं. 1974 भाद्रव कृष्णा 12 को मोमासर में हुआ।

19. साध्वी ऋद्धूजी (बड़ू) (439)

साध्वी ऋद्धूजी की ससुराल बड़ू के कोटेचा परिवार में था और पीहर डेगाना के कोठारी परिवार में था। उनका जन्म 1899 श्रावण शुक्ला 9 को हुआ। उन्होंने पति के दिवंगत होने पर मध्यम वय में सं. 1932 चैत्र शुक्ला 3 को साध्वी नन्दूजी (167) छोटा के हाथ से संयम स्वीकार किया।

साध्वी ऋद्धूजी की पहचान घोर तपस्विनी के रूप में हुई। उनके तप की सूचि अद्‌भुत और आश्चर्यकारिणी है।

उपवास	–	1626	पन्द्रह	–	1
बेला	–	128	सौलह	–	2
तेला	–	72	बीस	–	1
चोला	–	20	इक्कीस	–	1
पंचोला	–	73	बाईस	–	1
छह	–	7	तेईस	–	1
सात	–	2	चौईस	–	1
आठ	–	9	पच्चीस	–	1
नौ	–	3	छबीस	–	1
दस	–	2	तीस	–	3
ग्यारह	–	1	बत्तीस	–	1
बारह	–	2			
तेरह	–	2			

सं. 1937 में साध्वी ऋद्धूजी का चातुर्मास बाजोली में था। चातुर्मास सम्पन्न होने के पश्चात लगभग 40 किलोमीटर का विहार कर वे बोरावड़ पहुंची। वहां मुनि भवानजी (छोटा) ने पांच बहिनों को दीक्षा दी। उन पांचों का प्रथम केशलुंचन साध्वी ऋद्धूजी ने किया। उन पांच साध्वियों के नाम थे –

साध्वी	हस्तुजी	बोरावड़
"	जड़ावांजी	"
"	जेठांजी	"
"	इन्द्रूजी	"
"	शिवकंवरजी	"

साध्वी ऋद्धूजी को गुरु सन्निधि में रहने का कई चातुर्मास में अवसर मिला। जयाचार्यश्री के अन्तिम चातुर्मास में उन्हें सेवा का मौका मिला। उसके बाद 1939, 44, 45, 47, 49 की साल में उन्हें मघवागणी का सान्निध्य मिला। सं. 1945 के चौमासे के सावण मास में उन्होंने पंचोले–पंचोले पारणा किया।

साध्वी ऋद्धूजी की सम्पूर्ण आयु नब्बे वर्ष की रही। उसमें 56 वर्ष साधु–जीवन के रहे। अंतिम समय में 49 दिन की संलेखना की तथा लगभग 2 घंटा का संथारा आया। सं. 1988 फाल्गुन शुक्ला एकम को वे दिवंगत हुई। उन्होंने जयाचार्य–युग में दीक्षा ली और अष्टमाचार्य श्री कालूगणी के युग में आराधक पद प्राप्त किया। पांच आचार्यों का शासण काल देखा। तृतीयाचार्यश्री रायचंदजी 1906 में जब लाडनूं पधारे तब गृहस्थावस्था में दर्शण किए थे, इस दृष्टि से उन्होंने छह आचार्य देखे।

20. साध्वी गंगाजी (मांडा) (444)

साध्वी श्री गंगाजी का जन्म मांडा (मारवाड) के भंडारी परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम पृथ्वीराजजी और माता का नाम हीरादेवी था। उनका जन्म संवत 1922 कार्तिक शुक्ला आठम को हुआ। उन्हें जन्म घूंटी के रूप में धर्म के संस्कार मिले और वे धार्मिक वातावरण में ही बड़ी हुई। साध्वी गंगाजी से पहले भंडारी परिवार के सात सदस्य तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षित हो चुके थे। उनकी दीक्षा का श्रेय उनकी संसारपक्षीय भूआ साध्वी केसरजी को मिला और परोक्षत: परमपूज्य चतुर्थ आचार्यश्री जय को है। क्योंकि उनकी मस्तिष्क की धरती पर कल्पना के फूल खिले और इन्होंने साध्वी केसरजी को सम्बोधित कर कहा- तुम्हारे परिवार में बहुत दीक्षाएं हुई है वर्तमान में कोई दीक्षार्थी है क्या?

इस एक वाक्य ने साध्वी गंगाजी के सोए भाग्य को जगाया। स्वयं जयाचार्यश्री ने अन्त:करण की इच्छा से शुभ मुहूर्त में साध्वी केसरजी को मांडा की ओर भेजा और शकुन कैसे हो रहे हैं, सन्तों से जानकारी कराई। अच्छे शकुन देखकर आत्म संतुष्टि का अनुभव किया। उस चातुर्मास में ग्यारह वर्षीया कन्या गंगा को साध्वी केसरजी तैयार नहीं कर पाए। उसमें गंगा का संकोची स्वभाव ही मुख्य कारण रहा। वे साध्वियों के पास जाने में ही संकोच महसूस करती इसलिए बहुत कम जाती।

साध्वी केसरजी चातुर्मास सम्पन्न कर अन्यत्र प्रवासित थी। उन्हें एक अज्ञात आवाज सुनाई दी। 'अब मांडा जाओ' और उसका शुभपरिणाम मिला- गंगाजी की दीक्षा। वैराग्य भाव के साथ-साथ प्राथमिक तत्त्वज्ञान सीखा और उसी प्रवास काल में साध्वी नन्दूजी (बड़ा)के हाथों साध्वी गंगाजी ने चारित्र-रत्न प्राप्त किया। साध्वी नन्दूजी आचार्यश्री भारीमालजी के शासन-काल में दीक्षित साध्वी थीं। तेरापंथ धर्म में दीक्षित होने वाली प्रथम कुमारी कन्या थी। जिस समय साध्वी गंगाजी ने दीक्षा ली वे मात्र ग्यारह वर्ष की थी। संवत 1933 पोष शुक्ला 13 को मांडा गांव में उनकी दीक्षा हुई।

दीक्षित होने के पश्चात साध्वी केसरजी ने जब जयाचार्यश्री के दर्शन किए और साध्वी गंगाजी को श्रीचरणों में उपहृत किया। ज्योंही जयाचार्यश्री की दृष्टि नवदीक्षिता साध्वी पर टिकी, उन्होंने अपने युवाचार्य मघवा को सम्बोधित कर कहा- साध्वी केसरजी द्वारा दीक्षा तो दीपती हुई है। साध्वी तो राज में रखने योग्य है। युवाचार्य मघवा ने निवेदन किया -

गज-मुख कणको पड़े तास न घटै आहार।
तास चिटनका ले चली, पोखन को परिवार॥

उन्होंने विनम्र शब्दों में आगे कहा- भंते! यहाँ तो और भी बहुत साध्वियां हैं, आपके प्रताप से नई दीक्षाएं भी होती रहती है। साध्वी गंगाजी की दीक्षा, साध्वी केसरजी के पुरुषार्थ का परिणाम है। इन्हें एक साध्वी की अपेक्षा है, आप इनके साथ रखने की कृपा कराएं तो उपयुक्त रहेगा। युवाचार्य की विनति पर जयाचार्यश्री का ध्यान केन्द्रित हुआ और साध्वी गंगाजी को साध्वी केसर को सौंप दिया।

साध्वी केसरजी के संरक्षण में साध्वी गंगाजी की विकास यात्रा प्रारंभ हुई। वे बहुत विनम्र होकर साधुचर्या के प्रशिक्षण के साथ ज्ञानार्जन करने लगी। साध्वी केसरजी उनको जितनी गाथाएं कंठस्थ करने के लिए कहती, वे पूरे मनोयोग से उतनी गाथाएं कंठस्थ करतीं। जब-जब उतनी गाथाएं कंठस्थ न कर सकती तो उनकी अच्छी कसौटी होती। कभी-कभी तो पानी रोटी का प्रायश्चित्त मिलता। कभी कड़ा उलाहना प्राप्त होता पर साध्वी गंगाजी उस कसौटी पर खरी उतरती। उनके मन की प्रसन्नता बनी रहती और वे उसे प्रेरणा मानती।

आज्ञा और अनुशासन के प्रति उनका सहज समर्पण भाव था। जब कभी वे उपवास करने की इच्छा से अपनी अग्रणी साध्वी के पास जाती और वे यदि दो तीन बजे तक भूखी रहने के बावजूद खाने के लिए कह देती तो बिना ननु नच के आहार कर लेती। समय पर कड़ा से कड़ा उलाहना सुनने की क्षमता उनमें बचपन से ही थी। एक बार साध्वी केशरजी के साथ वाली किसी साध्वी की भूल से सुपारी का टुकड़ा रात्रि में रह गया। जब दूसरे दिन साध्वी केशरजी की दृष्टि उस पर टिकी, उन्होंने साध्वी गंगाजी को कहा-इसे परठ दो। साध्वी गंगाजी उस सुपारी के टुकड़े को रखकर भूल गई, फिर वह रात्रि में रह गया। तीसरे दिन साध्वी केशरजी ने उसे कहीं पड़ा देखा, गंगाजी को बुलाया और पूछा क्या कल सुपारी के टुकड़े को परठ दिया था। उन्होंने विनम्रता से कहा- मैं उसे कहीं रखकर भूल गई, फिर तो खूब देखा पर मिला नहीं। साध्वी केशरजी ने तत्काल अनुशासनात्मक काईवाही करते हुए कहा- 'आगामी एक वर्ष तक तुम्हें सुपारी खाने का त्याग है।' उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

वे सोलह वर्ष तक साध्वी केशरजी के उपपात में रहकर विभिन्न आयामी गति-प्रगति की। उन्होंने छह आगम-दशवैकालिक आवश्यक, उत्तराध्ययन, आचारांग, नन्दी

और वृहत्कल्प कंठस्थ किए। लगभग सभी ग्रन्थों का गंभीरता से वाचन किया। उनको शास्त्रों की धारणा इतनी गहरी थी, साध्वियां तो उनके पास धारणा करने आती ही थी, कभी-कभी साधु भी उनको पूछकर आगम और धारणा की जानकारी करते थे। उनकी स्मरणशक्ति बड़ी तीव्र थीं। वे एक बार जिस ग्रन्थ को पढ़ लेती, उसके हार्द और सन्दर्भों को वे वर्षों तक नहीं भूलती थी। वर्षों बाद भी पूछने पर सन्दर्भ सहित उत्तर दे देती थी।

सं. 1949 में साध्वी केशरजी के दिवंगत होने के पश्चात पंचमाचार्य मघवागणी ने उनकी विविध विशेषता तथा योग्यता को देखकर अग्रगामी बनाया। उन्होंने हरियाणा थली, मारवाड़, मेवाड़, ढूढाड, मालवा आदि क्षेत्रों में विहरण कर धर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार किया। उनकी वाणी का माधुर्य और व्यवहार की शालीनता सबको आकृष्ट करने वाली थी। उनके व्याख्यान में तत्व दर्शन की गंभीरता के साथ-साथ संस्कारों की सरसता सबको प्रभावित करती थी। वे जहाँ भी जाती संघीय संस्कार कूट-कूटकर भरने का प्रयास करती। संघ विस्तार में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। गंगाशहर चोखला मुनिश्री पृथ्वीराजजी और साध्वी गंगाजी के पुरुषार्थ का मूर्त रूप है। कहते हैं कि जिस समय गंगाशहर बस रहा था। छोटे-छोटे गांवों के देहाती लोग जिधर से आते वे उस दिशा में जाती और प्रथम परिचय के साथ उन्हें मंगल पाठ सुनाकर आत्मीयता के धागे में बांध लेती। फिर उनके घरों में जाकर उन्हें तेरापंथ की रीति-नीति, अनुशासन, मर्यादा और आचार विचार के बारे में बताकर तेरापंथी बनाने का प्रयत्न करती। देहाती भाई बहिनों की वेशभूषा, रहन-सहन तथा ग्रामीण तौर तरीके देखकर साथ वाली साध्वियां कहती- "आप किन पर श्रम कर रही हैं? कहते हैं साध्वी गंगाजी उस समय बड़े विश्वास के साथ कहती" आज जिन्हें तुम ग्रामीण समझ रही हो इनकी होने वाली औलाद को देखना, संघ के लिए कितनी काम आएगी।" साध्वीजी अपने खाने पीने और सोने तक को गौणकर अनेक अनेक भाई बहिनों को या यह कहें परिवारों को संस्कारी, सुलभबोधि और सम्यक्त्वी श्रावक बनाए तथा कई भाई बहिनों को संयम के लिए भी तैयार किया। संघ विस्तार के लिए उन्होंने हर सुविधा को गौण किया। गंगाशहर में सं. 1968 का जब सर्वप्रथम चातुर्मास किया, वह स्थान बहुत छोटा था। पांच साध्वियां आसानी से बैठ सके छोटी-सी कोठरी थी। श्रावक लोग पूछते -आप इस कोठरी में कैसे सोती होंगी? तब वे कहती- आप हमारी चिन्ता न करें, हम तो आसानी से इसी में अपना काम निकाल लेती हैं। आप तो इस समय अधिक से अधिक धर्म-दलाली करें, जिससे नए लोगों के साथ सम्पर्क कर सकें और उन्हें तेरापंथ की मान्यता समझा सकें।

उस समय उनके सामने आहार पानी की बड़ी समस्या थी। कभी रोटी मिल जाती पर भर पेट नहीं मिलती कभी रोटी पूरी मिल जाती तो सब्जी (साग) नहीं मिलती। पानी नहीं मिलता तो वे छाछ पीकर पूरा दिन निकाल देती और सायं त्याग के समय केवल पानी पीती। गंगाशहर में ही नहीं, आसपास के छोटे -छोटे गांवों में भी उन्होंने अनेक समस्याओं का सामना किया पर उनका लक्ष्य एक मात्र उस चौखले को तेरापंथी बनाना था। इसलिए बड़ी प्रसन्नता के साथ उन्होंने हर कठिनाई को झेला। गंगाशहर के आसपास उन्होंने सात चातुर्मास किए।

गंगाशहर का प्रसिद्ध चौपड़ा परिवार जो उस समय गुंसाईसर रहता था। उस परिवार को तेरापंथी बनाने का श्रेय साध्वी गंगाजी को है।

चर्चा कौशल

साध्वी गंगाजी को सैद्धान्तिक, आगमिक और संघीय धारणाएं गहरी थी और उनका चर्चा करने का कौशल भी अदभुत था। वे अपना मत पूरे प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती। प्रतिपक्ष के प्रश्नों का ऐसा सटीक उत्तर देती कि वह समाधान पाकर प्रभावित हो जाता।

एक बार ब्राह्मण पण्डित उनके पास आए। वे विद्वान थे, पर विद्वत्ता के साथ-साथ उनमें अभिमान और आग्रहवृत्ति भी थी। उन्होंने साध्वीजी के साथ चर्चा करने की भावना व्यक्त की। साध्वी गंगाजी ने व्याख्यान के पश्चात तत्त्वचर्चा करने का समय तय किया। प्रात:कालीन व्याख्यान के बाद उन्होंने पण्डितजी के साथ चर्चा प्रारम्भ की और सायंकाल पांच बजे तक चलती रही। बीच में न तो वे स्वयं उठी और न पण्डितजी को उठने दिया। उन्होंने न भोजन किया और न पानी पिया। साध्वी गंगाजी ने प्रमाण सहित जिस ढंग से उत्तर दिए पण्डितजी निरूत्तर हो गए। उन्होंने चर्चा के बाद दो बाते स्वीकार करली। उन्होंने कहा- आज मेरी समझ में आ गया। कि वास्तव में जैन दर्शन उच्चकोटि का दर्शन है। दूसरी बात साध्वी गंगाजी जैसे विदुषी साध्वी मैंने आज तक नहीं देखी।

साधना किसकी कठोर है?

बीकानेर में एक दिगम्बर भाई साध्वी गंगाजी के पास आया और उसने पूछा- साध्वीजी! साधुत्व पालन दिगम्बर साधुओं का कठोर है या श्वेताम्बर साधुओं का?

साध्वीजी ने बड़ी सूझबूझ के साथ कहा- भाई! लड़ाई दो प्रकार की होती है। एक

किले की और दूसरी मैदान की। लड़ाई आखिर लड़ाई है पर कर्म शत्रुओं के साथ लड़ने का जहां तक सवाल हैं वहां तक दोनों में कोई अन्तर नहीं है। श्वेताम्बर मुनियों की लड़ाई किले के समान है और दिगम्बर साधुओं की लड़ाई मैदान की लड़ाई है।

रहस्यवादी शैली में मार्मिक उत्तर सुन दिगम्बर भाई बहुत प्रसन्न हुआ।

एक बार साध्वी गंगाजी का चातुर्मास रतलाम में था। उस वर्ष वहां स्थानकवासी साधुओं का भी चातुर्मास था। शौचार्थ जंगल जाने का रास्ता कुछ दूर तक दोनों का एक था, इसलिए मार्ग में स्थानकवासी साधु आते जाते मिल जाते पर साध्वियां उन्हें वन्दन नहीं करतीं, यह उनको अखरता। एक दिन मुनिजी ने प्रश्न की भाषा में साध्वी गंगाजी से पूछा- आर्याजी! क्या आपने स्थानांग सूत्र पढा है? सकारात्मक उत्तर सुन मुनिजी ने पुनः प्रश्न किया- उसमें विनय के कितने प्रकार बताएं हैं?

साध्वी गंगाजी मुनिजी के मंतव्य को समझ गई और उन्होंने कहा- विनय दस प्रकार का होता है। एक-एक करके दसों नाम प्रस्तुत करते हुए उन्होंने साधर्मिक विनय के साथ यह स्पष्ट कर दिया कि साधर्मिक समान धर्म या आचार वाले साधु को बतलाया है, दूसरों को नहीं। सटीक उत्तर स्पष्ट भाषा में सुन मुनिजी मौन हो गए और चुपचाप आगे चले गए।

इसी चातुर्मास में उन्हीं मुनिजी ने श्रावकों द्वारा एक दिन साध्वीजी को एक प्रश्न पुछवाया। प्रश्न था- ''द्वीन्द्रिय सम्यग दृष्टि जीव मरकर कहां जाता है? उन्होंने उत्तर दिया- द्वीन्द्रिय यदि सम्यक्त्वी होता है तो वह सम्यक्त्व अपर्याप्त अवस्था तक ही रहता। पर्याप्त होने के बाद उसमें सम्यक्त्व नहीं रहती। अपर्याप्त अवस्था में वह मरता नहीं।'' दूसरी कसौटी पर साध्वीजी को सफल देखकर मुनिजी ने अपने श्रावकों के सामने कहा- साध्वी गंगाजी हैं तो ज्ञानसम्पन्न।

तेरापंथ का विहार क्षेत्र उस समय तक सीमित था। इसलिए मालवा की यात्रा को भी बहुत दूर माना जाता था। मध्यप्रदेश का भाल भोपाल भी सुदूर क्षेत्र समझा जाता था, वहां साध्वी गंगाजी पधारी। और साहस का परिचय दिया। जयपुर के खजांची परिवार वहां रहते थे। उनके निवेदन पर भोपाल जाना हुआ। उस समय भोपाल में बहुत लोग सम्पर्क में आए और उनसे प्रभावित हुए। संघ की अच्छी प्रभावना हुई। चतुर्दशी के दिन स्थानक में हाजरी का कार्यक्रम परिषद में रखा गया। खजांची की प्रेरणा से बहुत लोग

आए। साध्वीजी ने श्रद्धा समर्पण की भाषा में संघीय मर्यादा, व्यवस्था और एकसूत्रता पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला। ओजस्वी वाणी और संघ निष्ठा का श्रोताओं पर आश्चर्यकारी प्रभाव हुआ।

विश्वास पात्र

साध्वी गंगाजी के प्रति आचार्यों के मन में गौरवपूर्ण स्थान था। उन्होंने चतुर्थ आचार्यश्री जय के युग में दीक्षा ली और आचार्य तुलसी तक का शासन काल देखा। सभी आचार्यों की महती कृपा प्राप्त की। संघीय दृष्टि से उनके प्रति आदर एवं विश्वास की भावना थी। उस समय संघ में एक कहावत प्रचलित थी- ''साधा में रंगा, सत्यां में गंगा'' इससे स्पष्ट है कि वे लब्धप्रतिष्ठित व्यक्तित्व की धनी थी।

वे स्वयं शिक्षित थी, आगम की अच्छी ज्ञाता था। उनकी प्रशिक्षण पद्धति भी मधुर और वात्सल्य रस से आप्लावित थी। शैक्ष साध्वियों को अथवा जो उनके पास रहती उनको आचार-विचार, पठन-पाठन और व्यवहार को उन्नत बनाने की अच्छी शिक्षा देती और समय-समय पर मार्गदर्शन देकर हृदय परिवर्तन कर देती। उनके कहने का ढंग इतना आत्मीयतापूर्ण था कि व्यक्ति के जीवन में रूपान्तरण घटित हो जाता। संघीय परम्परा के निर्वहन में वे बहुत सजग थी और अधिमान देती थी। जब वे वृद्धावस्था में रतनगढ में स्थिरवासी थी। जब भी कोई नया सिंघाडा रतनगढ आता, वे उनके आने से पहले कुछ नहीं खाती और न पीती आगन्तुक साधु साध्वियों की भक्ति करके ही स्वयं लेती। वे कहती भक्ति करना हमारी संघीय परम्परा है। आदर और बहुमान के साथ उसका निर्वहन करना चाहिए।

साध्वी-समाज के मन में उनके प्रति अगाध विश्वास था। वे अपनी गोपनीय बात भी उनके समाने निस्संकोच भाव से रख देती। साध्वियों के दिलों में यह धारणा थी कि साध्वी गंगाजी 'साठी का कुआं है' अर्थात ये इतनी गंभीर हैं कि इनको कही गई बात कहीं नहीं जाती। वे प्रायश्चित्त विधि में बड़ी दक्ष थी। जो भी साध्वियां सम्पर्क में आती, उन्हें प्रायश्चित का महत्त्व बताकर निशल्य बनने की प्रेरणा देती। अनेक साध्वियां उनके पास प्रायश्चित्त लेती। साध्वीप्रमुखा कानकंवरजी ने भी कई बार उनके पास आलोचना की। प्रायश्चित्त लेने वाली साध्वियों को वे ऊंची नजरों से देखतीं, और उनकी प्रति आत्मीयता व्यक्त करतीं। उनकी धारणा थी कि- गलती बड़ों-बड़ों से हो जाती है पर सरल हृदय से प्रायश्चित करने वाला निश्चय ही महान होता है।

कहते हैं कि एक बार एक साध्वी से गलती हो गई पर वे अपनी अग्रगण्या के पास संकोचवश प्रायश्चित्त नहीं कर पाई। साध्वी गंगाजी के सामने भी वे निस्संकोच अपनी बात नहीं रख सकी। साध्वी गंगाजी ने उनकी मानसिकता का अध्ययन किया और निशल्य बनाने की भावना से उन्होंने मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया। वे उन साध्वीजी को अपने साथ लेकर शौचार्थ जंगल में गई। उस समय रतनगढ़ में बालू की टीले बहुत थे। आवश्यक कार्य से निवृत हो वे उन साध्वीजी को प्रायश्चित क्यों करना चाहिए समझाया। कई उदाहरण प्रस्तुत कर प्रायश्चित न करने से होने वाली परिणति की जानकारी दी। मन में वैराग्य भाव जागृत किया। इस तरीके से साध्वीजी ने सामान्य भाव से अपनी बात प्रस्तुत की और प्रायश्चित लेकर हल्की बन गई।

कालूगणी का विश्वास

वे रतनगढ़ में स्थिरवासी थी। उस समय वहां स्थानकवासी आचार्य जवाहरलालजी आने वाले थे। अष्टमाचार्य कालूगणी ने क्षेत्रों की सुरक्षा के लिए मुनि घासीरामजी (दिवेर) को भेजा। उन्हें भेजते समय कालूगणी ने कहा- आज गंगाजी स्वस्थ होती तो किसी को भेजने की जरूरत नहीं पड़ती, वे अस्वस्थ हैं, चलने, फिरने और बोलने की हिम्मत भी अब कम है इसलिए साधुओं को भेज रहा हूं।

सं. 1986 में मुनि कानमलजी का चातुर्मास पूज्य कालूगणी ने रतनगढ़ फरमाया। मुनि कानमलजी के लिए बहिर्विहार में चातुर्मास करने का यह पहला ही अवसर था। उन्होंने एक दिन कालूगणी के सामने अपनी मानसिकता प्रकट करते हुए कहा- गुरुदेव! मुझे कभी किसी प्रश्न का उत्तर न आया तो .....?

पूज्य कालूगणी ने वात्सल्यमयी वाणी में कहा- गंगाजी से पूछ लेना, उन्हें सब आता है।

उपरोक्त दोनों प्रसंगों से स्पष्ट है कि कालूगणी साध्वी गंगाजी की प्रतिभा और ज्ञान के प्रति पूर्ण रूप से विश्स्त थे। दूसरे शब्दों में कहे तो आचार्यवर का इतना विश्वास उनके प्रगाढ ज्ञान का परिचायक था।

ज्योतिष एवं स्वरविज्ञान की ज्ञाता

साध्वी गंगाजी को तात्त्विक ज्ञान के साथ ज्योतिष और स्वर विज्ञान का भी अच्छा ज्ञान था। वे मुहूर्त आदि स्वयं देख लेती। कोई ज्योतिषी किस उद्देश्य से क्या बात कह रहा

है, पहचान लेती। जो बात समझ में नहीं आती ठीक नहीं लगती तो उनसे चर्चा कर लेती। स्वर विज्ञान में वे इतनी निष्णात थी कि कार्य की सफलता-असफलता स्वर के आधार पर पहले बता देती। उनके पास रहने वाली साध्वियों को जब भी विशेष कार्य करना होता, पहले उनसे पूछती। जब वे हां कह देती, तभी वे कार्य प्रारंभ करतीं।

चार साध्वियों से चाकरी की

वर्तमान में लाडनूँ सेवाकेन्द्र में प्रतिवर्ष दो सिंघाडों की वृद्ध साध्वियों की सेवा के लिए नियुक्ति होती है। सं. 2019 से पहले एक सिंघाड़ा ही सेवा के लिए जाता था। एक सिंघाड़े में पांच साध्वियां होती थी अपेक्षा होने पर छह सात तक की संख्या भी हो जाती पर सं. 1962 में साध्वी गंगाजी ने चार साध्वियों में ही सेवाकार्य स्वीकार कर लिया। दो साध्वियां गोचरी कर लेती और साध्वी गंगाजी स्वयं व्याख्यान देकर पानी लाती पर लोक व्यवहार में कभी साध्वियों की हेठी नहीं लगाती। वृद्ध साध्वियों की सेवा जब भी जो अपेक्षा होती, स्वयं उसकी पूर्ति करने में तत्पर रहती। उन्हें दिखावा पसन्द नहीं था पर सेवाभाव अनन्य था।

चर्या की जागरूकता

साधु चर्या के प्रति उनकी उत्कृष्ट जागरूकता थी। वे हर क्रिया को सजगता से सम्पादित करतीं। उनका भाषा विवेक इतना सधा हुआ था कि सावद्य या निश्चयकारिणी भाषा नहीं बोलती। वे साध्वियों को भी बार-बार इस सन्दर्भ में सजग करतीं। मैं यह करूंगी के स्थान पर करने का भाव है ऐसा बोलती जब कभी उन्हें भूख कम होती तो भूख नहीं है ऐसा न कहकर विशेष भूख नहीं है ऐसी जागरूक भाषा का उपयोग करती है।

उनकी खुराक सहजतया कम थी अत: वे दूध आदि अत्यल्प मात्रा में लेती। जब कोई पूछता कि आपने कुछ लिया या नहीं? एक साध्वीजी ने कह दिया- दूध का छांटा लिया है। तत्काल साध्वीजी को टोकते हुए उन्होंने कहा- इस तरह की व्यावहारिक भाषा जिसमें सत्यांश हो, पूर्ण सत्य न हो हमें नहीं बोलती चाहिए।

वृद्धावस्था में अस्वस्थता में कफ वृद्धि के कारण उन्हें बार-बार थूकना पड़ना। उसके लिए अलग मिट्टी का पात्र था। थूकते समय वे इतना ध्यान रखती कि हवा जोर से न निकले, कफ कहीं एक मुहूर्त से अधिक गीला न रह जाए। बार-बार साध्वियों को सावधान करती रहती और कहती -संयम-साधना में क्वचिद भी विराधना न हो जाए।

यह ध्यान रखना।

संघ निष्ठा

साध्वी गंगाजी संघ संघपति के प्रति पूर्ण समर्पित थी और संघ के प्रति सम्पूर्ण वफादारी से कर्त्तव्य का वहन करती। आचार्यों के अनुशासन का सजगता से पालन करती। वे अपने सामर्थ्य का पूरा उपयोग करती, बल्कि कहीं क्षमता से अधिक कार्य करने का प्रयत्न करतीं।

सं. 1982 में उनका चातुर्मास राजलदेसर में था। वहां उनके पक्षाघात हो गया, जिससे उन्हें भयंकर पीड़ा का सामना करनाा पड़ा। अष्टमाचार्य कालूगणी का मर्यादा महोत्सव उस वर्ष राजलदेसर में था, इसलिए उन्हें आचार्यवर की सेवा का सहज सौभाग्य मिल गया। साध्वीजी की शारीरिक स्थिति देखकर एक दिन पूज्य कालूगणी ने कहा- गंगाजी! तुम्हारे स्वास्थ्य की स्थिति अभी विहार करने जैसी नहीं है, अत: मैं सोचता हूँ अभी तुम यहीं रहो। राजलदेसर वासियों को भी साध्वीप्रमुखा जेठांजी की कमी बहुत अखरती है अत: अभी तुम्हारा यहां रहना सभी दृष्टियों से ठीक रहेगा। तत्काल विनम्र शब्दों में 'तहत' कहकर गुरु-आज्ञा शिरोधार्य की। कुछ समय बाद उन्होंने सोचा- अभी मेरी थोड़े-थोड़े विहार करने की ताकत है, मैं अपने वीर्य का गोपन कर एक स्थान पर क्यों रहूं? यथाशक्ति विहार कर संघ की सेवा करने में ही जीवन की सार्थकता है। दूसरे दिन प्रात:काल उन्होंने कालूगणी से निवेदन किया- प्रभुवर! अभी मैं थोड़े-थोड़े विहार कर सकती हूँ। आपकी कृपा हो तो मैं एक स्थान पर न रहकर छोटे-छोटे विहार करती रहूँ।

अष्टमाचार्य कालूगणी ने कहा- यदि तुम्हारी शक्ति हो और इच्छा हो तो मेरी ओर से मना नहीं है। मैंने तो तुम्हारी शारीरिक स्थिति को देखते हुए कहा था। तुम्हारी इच्छा विहार करने की हो तो प्रसन्नता से करो, यह तो तुम्हारे उत्साह का प्रतीक है। गुरु का आशीर्वाद लेकर वे राजलदेसर से 9 माईल की दूरी पर स्थित रतनगढ़ पहुंची। 9 माईल का रास्ता चार दिन में तय किया। वहां जाने के बाद दूसरी बार पक्षाघात का दौरा पड़ा। उसके बाद वे वहीं स्थिर वासी हो गई। सं. 1983 से 1993 तक वे रतनगढ में रही।

पक्षाघात का दूसरी बार आक्रमण होने के बाद वे शारीरिक दृष्टि से पूर्णत: अक्षम हो गईं। उनके आहार विहार आदि सारे कार्य साध्वियों के द्वारा होते। कभी आवाज थोड़ी स्पष्ट होती और कभी अस्पष्ट। बोलने में भी कठिनाई का अनुभव होता पर समझ और

स्मरण शक्ति अच्छी थी।

एक बार हरियाणा की ओर जाते समय मुनि शक्तमलजी रतनगढ़ पहुंचे। साध्वी गंगाजी अस्वास्थ्य के कारण चल नहीं सकती थी, इसलिए मुनि शक्तमलजी उनको गुरुदेव के सुख संवाद बताने उनके स्थान पर गए। गुरु के सुख संवाद सुन वे उल्लसित हुई।पर बोलने में अक्षमता से बार-बार संकेत से कहती रही और कुछ फरमाए? सन्त उनकी भावना नहीं समझ पा रहे थे अत: उन्होंने साथ में रहने वाली साध्वियों से कहा- आप किस विषय में क्या पूछना चाहती है?

साध्वी गुलाबांजी (भादरा) ने पूछा-आप क्या जानना चाहती है? तब बहुत धीमे स्वरों में कहा- गुरुदेव कब उठते हैं कब सोते है? यह सुनते ही मुनिजी बोले- गंगाजी! आपने तो एक छोटे से प्रश्न के माध्यम से सबकुछ पूछ लिया। तब उन्होंने लगभग डेढ घंटे तक केन्द्र के सारे समाचार और कार्यक्रम बताए। जिन्हें सुनकर आत्मतोष का अनुभव किया।

उनकी खुराक बहुत कम थी। तपस्या कम करती पर पांच विगय के अनेक वर्षों से त्याग थे। सिवाय दूध के कोई विगय का उपयोग नहीं करती। एक दिन में ग्यारह द्रव्य से अधिक नहीं खाती।

दैविक आभास

संघ निष्ठा, आगम निष्ठा के साथ वे आचार के प्रति बहुत सजग थी। वे बड़ी पवित्र आत्मा थी। उन्हें बहुत बार दैविक आभास होते पर वे उनका कभी प्रदर्शन नहीं करतीं। वे तटस्थ भाव से उसे ग्रहण करतीं।

सरदारशहर के विशिष्ट श्रावक श्रीचन्दजी गधैया ने दिवंगत होते ही साध्वी गंगाजी के दर्शन किए। उस समय स्थान प्रकाशमय हो गया। साथ वाली साध्वियों ने प्रश्नायित मुद्रा में जानना चाहा तब केवल इतना-सा कहा- श्रीचंदजी गधैया दिवंगत हो गए।

लादूरामजी आंचलिया ने देव-रूप में आकर न केवल दर्शन ही किए बल्कि साक्षात बातचीत भी की पर उन्होंने क्या बात की, किसी को नहीं बताया। वे संभवत: उनका यह विश्वास रहा होगा कि देवता सम्बन्धी बातें बताने से शक्ति का ह्रास होता है।

इसी प्रकार सूरजमलजी बैद की धर्मपत्नी सुन्दरबाई साध्वी गंगाजी का अपने पर

बहुत उपकार मानती थीं। क्योंकि साध्वीजी से मार्गदर्शन प्राप्त कर उन्होंने जीवन के कई मोड़ पर समाधान पाया था। स्वर्गस्थ होने के पश्चात उन्होंने साध्वीजी के दर्शन किए। कुछ ही दूरी पर साध्वी गुलाबांजी (भादरा) बैठी स्वाध्याय कर रही थी। उनको भी इसका आभास हुआ। साध्वो गुलाबांजो के पूछने पर उन्होंने कहा- अभी सुन्दर बाई ने दर्शन किए थे।

मुनि पृथ्वीराजजी हमारे धर्मसंघ अच्छे, यशस्वी पवित्र-आत्मा के धनी संत थे। उन्होंने भी देवरूप में साध्वी गंगाजी के दर्शन किए।

स्वाध्यायशीलता

वे स्वाध्यायशील साध्वी थी। नियमित स्वाध्याय और अध्यापन करना उनकी दिनचर्या का अंग था। लेकिन वृद्धावस्था और अस्वस्थता में भी वे स्वाध्याय जप में निरत रहतीं। उन्होंने अपनी सहगामी साध्वियों को भी वे आगम का अच्छा ज्ञान और गहन तत्त्व व परम्पराओं की गहरी धारणा कराई। साध्वी निजरकंवरजी लाडनूँ तथा साध्वी गुलाबांजी (भादरा) को साध्वी गंगाजी ने हर दृष्टि से सक्षम और योग्य बनाया। उन्हें उनके सान्निध्य में रहने का अच्छा मौका मिला ये दोनों साध्वियां उनके दिवंगत होने के पश्चात अग्रगण्या बनीं।

वि. सं. 1994 जेठ सुदि दशमी को रतनगढ में एक मुहूर्त संथारे में साध्वी गंगाजी ने समाधि पूर्वक पण्डित मरण प्राप्त किया। उस समय उनकी अवस्था 72 (बहत्तर) वर्ष की थी। उन्होंने संयम साधना साठ वर्ष की। उनको छह आचार्यों- जयाचार्य से तुलसीगणी तक का शासन काल देखने का अवसर मिला और आठ आचार्यों के हाथ से दीक्षित साधु साध्वियों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

साध्वी गंगाजी के बाद नवमाचार्य तुलसीगणी ने साध्वी फेफांजी को अग्रगण्य बनाया। साध्वी फेफांजी साध्वी गंगाजी के हाथ से दीक्षित थी।

साध्वी गंगाजी ने तीन साध्वियों को दीक्षित किया -

1. साध्वी चान्दांजी देशनोक को सं. 1953 आषाढ सुदि दशम को
2. साध्वी फेफांजी कांकरोली को सं. 1957 आषाढ सुदि बारस को
3. साध्वी चान्दांजी गंगापुर को सं. 1958 मृगसर सुदि दूज को

साध्वी मूलाजी तथा साध्वी चान्दकंवरजी (भीनासर) को सं. 1974 आसोज सुदि 8 को मुनिश्री पृथ्वीराजजी ने दीक्षा दी तथा साध्वी गंगाजी ने केश-लोच किया। इस प्रसंग को नवमाचार्य तुलसीगणी ने कालूयशोविलास में प्रस्तुति देते हुए लिखा है -

आसोज महीनै भीनासर तिण वर्षे,
पृथ्वी-कर दीक्षित मां-बेट्यां मनहर्षे,
गंगा-सती लुंचित केश, महेश महर में

कालू ..... उल्लास 2 ढा 16 गा. 13

उनके व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए माणक महिमा में लिखा है -

हां रे आ तो गंगा श्रमणी गंगोज्ज्वल दिल गात जो।
सूत्र धारणा विविध विषय गुण अनुभव्या रे लोय॥ माणक महिमा पृ. 44

21. साध्वी सिरेकंवरजी (चांदारूण) (456)

चांदारूण के साध्वी जयकंवरजी और सिरेकंवरजी ने दीक्षा सं. 1934 में ली। दोनों मां बेटी थी। साध्वी सिरेकंवरजी की मां साध्वी जयकंवरजी ने 14 वर्ष सानन्द संयम साधना की और दिवंगत हो गई। साध्वी सिरेकंवर ने अग्रगामी बन मारवाड़, मेवाड़ थली में बहुत वर्षों तक विहरण कर संघ सेवा की। सं. 1954 में उनकी लाडनूं सेवाकेन्द्र में नियुक्ति थी। उस वर्ष सप्तमाचार्य श्री डालगणी जोधपुर चातुर्मास सम्पन्न कर थली की ओर पधार रहे थे। गुरु दर्शन की उदग्र आकांक्षा और उत्साह के कारण साध्वी सिरेकंवरजी ने गुरु आदेश मंगाए बिना ही विहार कर दिया। मात्र उद्देश्य गुरुदर्शन का था। वे लाड़नूं से चली और डीडवाणा ग्राम के बाहर पहुंच गई। जब यह सूचना डालगणी तक पहुंची, पहली बात आदेश नहीं मंगाया, दूसरी बात वृद्ध साध्वियों की सेवा को गौण कर दर्शन करने आना डालगणी को अच्छा नहीं लगा – संभवतः इन दो कारण से डालगणी ने तत्काल गांव बाहर से साध्वी सिरेकंवरजी को बिना गुरु–दर्शन किए लाडनूं जाने का आदेश दे दिया। साध्वी सिरेकंवरजी बिना दर्शन किए ही लौट गई।

22. साध्वी मगदूजी (पोटला) (477)

साध्वी मगदूजी मेवाड़ में गंगापुर के पास पोटला ग्राम-वासिनी थी। वे जाति से माहेश्वरी थी। उनका गोत्र था चांडक। उनके पति का नाम घासीरामजी चाण्डक था। उनका पीहर देवरिया के माहेश्वरी समनाणी गोत्र में था। पति वियोग के पश्चात वे अपने पीहर में रहने लगी और वहीं आकर उन्होंने तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षित होने की भावना व्यक्त की। देवरिया से आकर सं. 1936 चैत्र शुक्ला आठम को श्रीमद् जयाचार्य के कर-कमलों से भागवती दीक्षा ग्रहण की। उनकी दीक्षा जयपुर के भेरूंबाग में हुई। जयसुजस में साध्वी मगदूजी की दीक्षा का वर्णन करते हुए पंचमाचार्य मघवागणी ने लिखा है -

मगदूजी जाति त्यां महेसरी रे, देवरियै गाम थी आय रे
सित चेत अष्टम दिन पुष्य में रे लियो चरण-रयण सुखदाय रे।।

उपरोक्त पद्य में देवरियै गाम से दीक्षा लेने आई, ऐसा उल्लेख है पर वे थी- पोटला गांव की। अधिक समय तक पीहर मे रहने से कही कहीं देवरिया की भी लिखा गया है।

उसी वर्ष उनकी पुत्री बख्तावरजी ने अविवाहित नाबालिग अवस्था में सगाई छोड़कर दीक्षा ग्रहण की। उनकी दीक्षा साध्वी नन्दूजी के हाथ से हुई। सं. 1936 में वे दीक्षित हुई पर कहां तथा कौनसी तिथि में दीक्षा हुई यह अज्ञात है। इसी प्रकार उनकी स्वर्गवास संवत भी ख्यात में उपलब्ध नहीं है। पर आमेट के प्रमुख श्रावक कजौड़ीमलजी बोहरा के पास हस्तलिखित प्राचीन पुस्तिका में लिखा है- साध्वी बख्तावरजी का स्वर्गवास सं. 1958 मृगसर कृष्णा 4 को आमेट में हुआ। उनकी अंतिम संस्कार क्रिया में 19 रूपये साढ़े पन्द्रह आने का खर्च हुआ।

इसी प्रकार साध्वी बख्तावरजी की संसारपक्षीया मां साध्वी मगदूजी की ,ख्यात में भी उनका स्वर्गवास संवत नहीं है। लेकिन सप्तमाचार्य डालगणी की ख्यात में तथा डालिमचरित्र में उल्लेख है कि सं. 1957 के ग्रीष्मकाल की चिलचिलाती धूप में सन्ध्या के समय कुछ साध्वियों ने बीदासर से बेनाथा की तरफ विहार किया। रास्ते में भयंकर गर्मी के कारण तीन साध्वियां दिवंगत हो गई -

बीदासर स्यूं सांझ का, सतियां कर्‌यो विहार।
जड़ावांजी आदि दे, तीनू मौत शिकार।।
डालिमचरित्र खण्ड 2 ढा. 5 दोहा-21

उपरोक्त पद्य के टिप्पण में आचार्य तुलसी ने लिखा है - साध्वी जडावांजी (550) सिसोदा, साध्वी जुहारांजी (523) गोगुन्दा तथा साध्वी मगदूजी (477) पोटला तीनों का गर्मी के कारण स्वर्गवास हो गया। उस समय मगदूजी नाम की एक मात्र साध्वी यही थी। आचार्यश्री डालगणी ज्येष्ठशुक्ला चवदस को बीदासर में प्रवास कर रहे थे ऐसा डालगणी की ख्यात में लिखा है।

वयोवृद्वा साध्वी लाडांजी (लाडनूं) की स्मृति के अनुसार घटना इस प्रकार घटित हुई -

सं. 1957 को ग्रीष्म ऋतु की भंयकर गर्मी में सन्ध्या के समय आचार्यवर के आदेशानुसार नौ साध्वियों ने बीदासर से बेनाथा की ओर विहार किया। उनमें दो साध्वियां- साध्वी चौथांजी (563) के सिंघाड़े की- साध्वी चौथांजी तथा नाथांजी थी। सात साध्वियां साध्वी चान्दकंवरजी के सिंघाडे की थी- साध्वी चांदकंवरजी (स्वयं) साध्वी धन्नांजी गोगुन्दा - (मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी की संसारपक्षीय मां) 3 साध्वी धन्नांजी (छोटा) 4 साध्वी कुन्दणांजी 5 साध्वी मगदूजी 6 साध्वी जड़ावांजी 7 साध्वी जुहारांजी।

लगभग डेढ मील चलने के बाद रेतीले टीबे पर चढ़ते ही साध्वी मगदूजी (477) दिवंगत हो गई। साध्वी जडावांजी (550) जो मेवाड़ के सिसोदा गांव की थी। उन्होंने पति वियोग के बाद सप्तमाचार्य डालगणी के हाथ से दीक्षा ली। वे शरीर से हृष्ट-पुष्ट थीं। वे टीबे पर चढ़ी और बैठकर पानी पिया और ज्योहीं पात्र को नीचे रखा। वहीं लुढक गई।

एक साथ दो साध्वियों का इस प्रकार अकस्मात कालकवलित हो जाना- साध्वियों के लिए जहां चिन्ता का विषय था वहां दूसरी ओर व्यवस्था का प्रश्न भी सामने था। नौ साध्वियां में दो दिवंगत हो गई। पांच साध्वियां उनकी देखरेख के लिए वहीं ठहर गईं तथा दो साध्वियां जुहारांजी तथा धन्नाजी (बड़ा) वहां से चलकर लोगों को सूचना देने के लिए बेनाथा पहुंची। वे बड़ी मुश्किलों और बैचेनी का सामना करती हुई बेनाथा पहुँची वहां पहुँचते ही साध्वी जुहारांजी बेहोश होकर गिर पड़ी और कुछ ही क्षणों में उनके प्राण पंखेरु उड़ गए। वहां साध्वी धन्नांजी अकेली रह गई।

इधर साध्वियों के साथ जो काशीद था, वह बीदासर गया और श्रावक समाज को साध्वियों के दिवंगत होने की सूचना दी। उस समय सेठ शोभाचंदजी बैंगाणी ने अपने ठाकुर तेजसिंहजी को घोड़ी पर सवार कर तत्काल उस टीबे पर उक्त घटना की जानकारी के लिए भेजा। ठाकुर तेजसिंहजी सारी स्थिति का अवलोकन कर पुनः बीदासर पहुंच

गए। उन्होंने बीदासर के श्रावक समाज को वस्तुस्थिति की पूरी जानकारी दी। उसी समय बीदासर के कुछ भाई तत्काल वहां गए और दिवंगत साध्वियों के शव को लेकर बीदासर आए। बीदासर में उनका अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया।

बीदासर के श्रावकों को आने में जितना समय लगा, तब तक रात घिर आई पर साध्वियों के शव का विसर्जन किए बिना वे विहार कैसे करें? ज्योहीं श्रावक पहुंचे, उन्होंने वहां से विहार किया। वे पांचों साध्वियां बेनाथा पहुंची तब तक एक प्रहर रात्रि बीत चुकी थी। वे बेनाथा पहुंची तो साध्वी धन्नांजी को दिवंगत साध्वी जुहारांजी के पास अकेली बैठी देखी। वे भी उनके पास वहीं ठहर गई।

पुनः बीदासर के श्रावकों को सूचना दी गई। वे दूसरे दिन वहां पहुंचे और साध्वी जुहारांजी का दाहसंस्कार बेनाथा में किया। छहों साध्वियों ने दडीबा में पूज्य डालगणी के दर्शन किए और सारी घटना बताई। उसी दिन वहां दडीबा में मुनि शिवजी दिवंगत हो गए। उस वर्ष अत्यधिक गर्मी और लूं के कारण कई साधु साध्वियों को अस्वास्थ्य का सामना करना पड़ा।

23. साध्वी जडावांजी (बोरावड़) (487)

साध्वी जडावांजी का ससुराल बोरावड़ के गेलड़ा गोत्र में तथा पीहर उसी गांव में बम्ब गोत्र में था। उनका जन्म सं. 1909 माघ शुक्ला पांचम को हुआ। उनके पिता का नाम चैनजी तथा माता का नाम भूरांजी था। संवत् 1937 मृगशिर बदि पांचम को मुनिश्री भवानजी (छोटा) द्वारा बोरावड़ में दीक्षा ली। उस दिन पांच साध्वियाँ एक साथ दीक्षित हुई। पांचों ही बोरावड़ की थी और पांचों बहिनों ने पतिवियोग के पश्चात संयम रत्न प्राप्त किया। पांचों साध्वियों के नाम थे- 1. साध्वी हस्तुजी, 2. साध्वी जडावांजी, 3. साध्वी जेठांजी, 4. साध्वी इन्दूजी, 5. साध्वी शिवकुंवरजी

दीक्षित होने के बाद जब साध्वी जड़ावांजी आदि पांचों साध्वियों ने जयाचार्यश्री के दर्शन किए। आचार्यवर ने प्रथम दृष्टि में ही व्यक्तित्व की पहचान करते हुए कहा- ''साध्वी जडावांजी अपने साथ पूरा सिंघाड़ा (चार साध्वियां) लेकर दीक्षित हुई है।'' कुछ समय बाद ही जयाचार्यश्री ने साध्वी ऋद्धूजी (बडू) की नेश्राय ने उनका मांडलिया कर दिया अर्थात् संयुक्त रूप में साझ बना दिया। साध्वी जडावांजी को सं. 1938 में जयपुर चातुर्मास में जयाचार्यश्री की सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लगभग दस महीने जयाचार्य की सन्निधि उपलब्ध हुई। तत्पश्चात वे मघवागणी की उपासना में रही और अपनी शक्ति का गुरु-सेवा में नियोजन कर धन्य बनी। उनमें सेवापरायणता, स्फूर्त सक्रियता, कला कुशलता आदि अनेक विशेषताएं थी। आचार्यवर की गोचरी उदक-कार्य तथा प्रतिलेखना करने का दुर्लभ अवसर उन्हें उपलब्ध हुआ। वे आचार्यों के कार्यों में पूरी जिम्मेदारी तथा सावधानी रखती। और पूरे समर्पण भाव से कार्य को सम्पादित करती।

गुरु सेवा में रहने की आंतरिक भावना के सामने उनके लिए कुछ गौण था। मघवागणी के स्वर्गवास के पश्चात् आचार्य माणकगणी ने उन्हें अग्रगामी बनाकर बहिर्विहार का आदेश दिया। तब उन्होंने अत्यंत विनम्र शब्दों में निवेदन किया- ''गुरुदेव! नव निर्वाचित आचार्य देव का मेरे लिए क्या यही अनुग्रह है कि मैं गुरु सेवा से वंचित रहूं।'' माणकगणी ने साध्वीजी की अन्तर्वेदना को पहचाना और प्रसन्न होकर उन्हें दो वर्ष सेवा का सुअवसर प्रदान किया।

पंचमाचार्य मघवागणी ने साध्वी जडावांजी को समुच्चय के बोझ की बक्सीस की। प्रकीर्णक पत्र संग्रह में 'जडावांजी नै बोझ री बगसीस' ऐसा उल्लेख है। वहां गांव आदि का उल्लेख नहीं है। पर संवत् 1949 के अन्तिम चातुर्मास में वे ही मघवागणी की सेवा में

होने से यही संभावना है कि साध्वी जडावांजी (बोरावड़) को ही यह बक्सीस हुई।

साध्वी जडावांजी साधुचर्या में सजग होने के साथ साथ कर्म निर्जरा का जो भी अवसर मिलता, आगे रहती। जहां तक संभव होता अपना काम स्वयं करती। यहां तक कि तपस्या में भी वे अपना काम नहीं छोड़ती। वे तपस्या भी अच्छी करती। एक बार की बात है जब उन्होंने दस की तपस्या की। उस समय साध्वीप्रमुखा नवलांजी ने उनको कहा- तुम्हें गोचरी नहीं जाना है, क्योंकि तुम्हारे तपस्या चल रही है। उन्होंने वापिस नम्र शब्दों में कहा- तप और भिक्षाचरी दोनों ही कर्म निर्जरा के कारण है। अत: मैं एक को अपनाकर दूसरे कार्य को क्यों छोडूं? वे विनय पूर्वक साध्वीप्रमुखा से अनुज्ञा लेकर उसी समय गोचरी चली गई।

उन्होंने तपस्या इस प्रकार की-

उपवास	-	1200	पंचोला	-	7
बेला	-	28	दस	-	1
तेला	-	21	ग्यारह	-	1
चोला	-	7	बारह	-	1
			तेरह	-	1

एक बार आचार्य श्री डालगणी ने साध्वी जडावांजी से कहा- साध्वी चम्पांजी तुम्हारी संसारपक्षीया जेठानी है, उनकी नजर चली गई है अत: उन्हें एक स्थान पर रहना पड़ेगा, अत: तुम अन्य क्षेत्रों में विहरण न कर उन्हें अपने साथ में रखकर एक जगह रह जाओ, सोच लो फिर तुम्हारी जैसी इच्छा।

साध्वीजी ने निवेदन किया- गुरुदेव! यदि आपका आदेश हो तो मैं पड़िहारा चली जाऊं। डालगणी ने कहा- पड़िहारा छोटा ग्राम है और वहां की जनता गण से बहिर्भूत मुनि चन्द्रभाणजी की श्रद्धा से प्रभावित है। अत: तुम वहां स्थायी रूप से कैसे रह सकोगी?

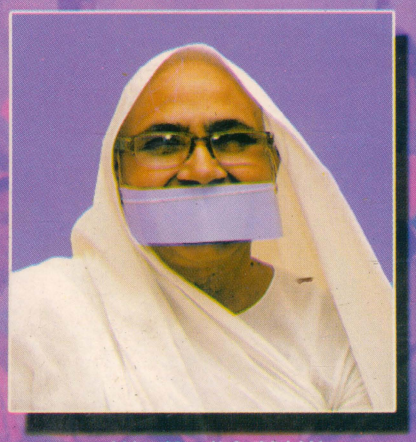
साध्वी जडावांजी बोली- गुरुदेव! अगर छाछ रोटी अथवा खिचड़ा भी मिल गया तो हम वहां आसानी से रह सकेंगे। आचार्यवर ने प्रसन्नता से कहा- तब तो कुछ सोचना ही नहीं है। वे गुरुदेव का ओदश शिरोधार्य कर पड़िहार। पहुंची। वहां उपाश्रय की एक कोठड़ी में ठहरी। उन्होंने धैर्य और आशा के साथ लोगों से बातचीत करती। वे उनके उपदेश से आकृष्ट हुए। साध्वीजी के पुरुषार्थ ने रंग दिखाया, परिणाम स्वरूप अनेक

लोगों ने गुरुधारणा स्वीकार की। काफी लोगों ने तत्त्वज्ञान सीखा। कहते हैं कि उस समय चालीस व्यक्तियों ने प्रतिक्रमण कंठस्थ किया। उन्होंने आहार, पानी और स्थान की सुविधा को गौण कर उन्नीस वर्ष तक वहां प्रवास किया और धर्म की अलख जगाई। साध्वी चम्पांजी के दिवंगत होने के पश्चात पूज्य कालूगणी के राजलदेसर में दर्शन किए।

पड़िहारा के श्रावकों ने भी आचार्यश्री कालूगणी के दर्शन कर निवेदन किया- प्रभुवर! साध्वी जडावांजी ने पड़िहारा के लोगों पर जो उपकार किया है, उसे हम भूल नहीं सकते। अनेक कठिनाइयों के बावजूद आपने इनको 19 वर्ष वहां स्थिरवासी रखा उसके लिए हम आपके आभारी हैं। आपका अनुग्रह हो तो कल्प विधि के अनुसार जब भी मौका हो आप हमें इनका एक चातुर्मास और प्रदान करें, ऐसी हमारी आंतरिक भावना है। प्रार्थना करने वाले श्रावक थे- भैरुंदानजी सुराणा, हरखचंदजी सुराणा आदि आदि।

पूज्य कालूगणी ने श्रावकों की प्रार्थना को ध्यान में रखकर चार वर्ष बाद सलक्ष्य साध्वी जडावांजी का चातुर्मास पड़िहारा कराया। जीवन के अन्तिम समय में वृद्धावस्था के कारण सं. 1988 से 2000 तक वे गुरु-आज्ञा से छापर में स्थिरवासी रही। वहां सं. 2000 की ज्येष्ठ शुक्ला 9 को पौने तीन घंटा के तिविहार और 25 मिनिट के चौविहार अनशन में वे स्वर्गवासी हुई।

जयाचार्य के युग में दीक्षित साध्वी जडावांजी ने नवमाचार्य तुलसीगणी के युग तक 63 वर्ष संयम पर्याय का पालन किया और छह आचार्यों के शासनकाल को देखा। जिस समय वे दिवंगत हुई उनकी अवस्था 91वर्ष की थी।



साध्वी कल्पलता

जन्म : वि. सं. २००५, वैशाख कृष्णा २, लाडनूं (राजस्थान)

दीक्षा : वि. सं. २०२३, कार्तिक कृष्णा ८, बीदासर (राजस्थान)

सेवा-निकाय-व्यवस्थापिका : वि. सं. २०३८, माघ शुक्ला ७, गंगाशहर (राजस्थान)

प्रकाशित कृतियां :

- आस्था के चमत्कार, भाग-१
- आस्था के चमत्कार, भाग-२
- आस्था के चमत्कार, भाग-३
- इतिहास के नूपुर
- संस्मरणों का वातायन